बापू और भारत

लेखक

कमलापति त्रिपाठी शास्त्री
प्रधान संपादक "संसार", काशी

प्रकाशक
सरस्वती मंदिर,
जतनबर, बनारस।

१९४५] [मूल्य ४॥)

निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ आधुनिक भारत का इतिहास नहीं है। यह गांधीजी का जीवन-चरित् भी नहीं है। इस छोटी-सी पुस्तक में भारतीय राष्ट्र के जीवन की उस गतिविधि का अस्फुट, स्थूल और अति संक्षिप्त रेखांकन करने की चेष्टा मात्र की गयी है जिसका अवलंबन अंगरेजी सत्ता की स्थापना हो जाने के बाद गत डेढ़ शताब्दि में इस देश ने किया है। इस प्रयास के फलस्वरूप जो रेखा-चित्र बनता है उसमें गांधीजी का एक विशिष्ट स्थान दृष्टिगोचर होता है। इतिहास की अजस्र-धारा में पड़े भारतीय राष्ट्र के जीवन में, काल और परिस्थिति के प्रभाव से एक ऐसा युग आया जिसकी विशेष आवश्यकता और पुकार तथा माँग थी। उस काल में गांधीजी युग-पुरुष के रूप में इतिहास के रंचमंच पर अवतरित हुए। स्वभावतः उनमें परिस्थिति की प्रतिच्छाया थी, युग का प्रतिबिंब था। ऐतिहासिक युग-पुरुषों का व्यक्तित्व प्रवाह-वाही होता ही है। वे एक ओर काल-धारा के प्रतीक होते हैं और दूसरी ओर स्वयं उसके प्रवाह को प्रभावित करते हैं। इस स्थिति में समाज का जीवन उनके द्वारा अकल्पित और अभूत-पूर्व रूप से अनुप्राणित और गतिशील हो जाता है।

यही कारण है कि गांधीजी की गति में भारतीय राष्ट्र की गति और उनकी वाणी में राष्ट्रीय अन्तर की प्रतिध्वनि दिखाई और सुनाई पड़ी। गत पचीस वर्षों से वे भारतीय हृदय के एकमात्र अधिपति, उसके जीवन-सूत्र के अनन्य संचालक, और उसकी आकांक्षा तथा चेतना, उसकी आवश्यकता तथा माँग के सजीव प्रतिनिधि बने हुए हैं। भारत भूमि का कण-कण, राष्ट्र का अंग-प्रत्यंग उनसे प्रभावित हुआ है। उनके द्वारा भारत के इतिहास में एक नये युग का प्रवर्तन हुआ है जिसके उज्ज्वल आलोक में राष्ट्र ने दूर तक अपनी ऐतिहासिक यात्रा

तैं की है। स्वयं गांधीजी को वह स्थान प्राप्त हुआ है जो अतीत के अंचल में शताब्दियों से किसी ने प्राप्त नहीं किया था। भारत ही नहीं, प्रत्युत विश्व के विशाल प्रांगण में उनका सुदृढ़ स्थान निश्चित हो गया है। भारत की समस्या विश्व की समस्या का ही अंग बन चुकी है। यह देश प्रश्नों की जिस उलझन में फँस गया है, वह अंग है उसी विराट समस्या का जो विश्व-जीवन को जटिलता प्रदान कर रही है। भारत के संमुख गांधीजी जिस आदर्श, जिस पथ और जिस प्रयोग-पद्धति को लेकर समुपस्थित हुए हैं वह यदि व्यापक और भौतिक रूप से भारतीय जीवन को प्रभावित कर रही है तो अप्रत्यक्ष रूप से विश्व की जटिल स्थिति के सुलझाव की ओर भी संकेत कर रही है। भारत के आधुनिक युग, उसकी वर्तमान परिस्थिति तथा उसके इतिहास पर गांधीजी की गहरी छाप तो पड़ ही चुकी है पर कल्पना की यष्टि का ग्रहण करके भविष्य के गहनान्धकार में प्रवेश करने की चेष्टा करनेवाला सुदूर क्षितिज पर भी उनकी झिलमिल आभा पड़ती देख रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। भारतीय राष्ट्र को गांधीजी की अतुलनीय देन तो प्राप्त ही हुई है पर आज वे जगत् के विचार और कार्य-क्षेत्र में, मानव-समाज के विकास-पथ को प्रशस्त करनेवाले तत्त्वों को प्रदान करने में भी समर्थ हुए हैं।

इस पुस्तक में मैंने राष्ट्रीय गतिविधि की भूमिका में गांधीजी के व्यक्तित्व, उनके पथ, उनके प्रयोग और उनके स्थान तथा उनकी देन पर विहंगम दृष्टि डालने की चेष्टा की है। मेरी यह चेष्टा साधिकार है अथवा अनधिकार, यह तो मैं नहीं जानता पर इतना जानता हूँ कि मुझे गत पचीस वर्षों से राष्ट्रीय जीवन को समूल आलोड़ित करनेवाली उस धारा में बहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिसके स्रोत गांधीजी ही रहे हैं। बापू की वेगवती गति ने जिन चरण-चिह्नों को काल-स्तर पर छोड़ दिया उनका अनुगमन करते हुए रेंगते चलने का अवसर मैंने भी प्राप्त

किया। फलतः गांधीजी को, उनके द्वारा उद्भूत प्रवृत्ति को, राष्ट्र पर उनके प्रभाव को, भारतीय जीवन की सरिता में उनसे संभूत लहरियों को जिस रूप में मैं देखने में समर्थ हुआ हूँ उन्हें प्रकट कर देने की चेष्टा की है। अपने इतिहास के एक युग में भारत अवनति के ऐसे विन्दु पर पहुँचा जहाँ वह पूर्णतः आत्म-विस्मृत हो गया था। भारत-भू को आवश्यकता इस बात की थी कि उसकी गोद में वह संतति क्रीड़ा करे जिसे भारत के पावन-रजकणों से, उसके इतिहास से, उसके अतीत से, और उसकी संस्कृति से प्रेम हो। अपेक्षा थी ऐसे भावों के उदय की जो भारत के घृणित वर्तमान के ध्वंस की आतुरता का सर्जन कर सके और भविष्य की उज्ज्वलता में वह अटल विश्वास उत्पन्न करे जो जीवन को स्पंदन प्रदान करने का कारण होता है। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि राष्ट्र की इस आवश्यकता की पूर्ति की सजीव प्रतिभा के रूप में गांधीजी अवतरित हुए। यह ग्रंथ इसी अनुभूति की प्रेरणा का परिणाम है।

मैं समझता हूँ कि आज भी भारतीय राष्ट्र ऐसे प्राणों की माँग कर रहा है जो आदर्शानुप्राणित हों, जो महान् लक्ष्य के उज्ज्वल पथ पर जीवनाहुति के लिए तत्पर हों और जो स्वयं मिटकर अपनी हड्डियों की भित्ति पर महान् राष्ट्रीय जीवन का निर्माण कर सकें। इसी में भारत का वह आलोकमय भविष्य निहित है जो मानवता की विकास-सरणी को भी प्रकाशित कर सकने में समर्थ होगा। यदि यह ग्रन्थ भारत के कोटि-कोटि नर-नारियों में से किसी एक के जीवन को भी स्पर्श कर सके, यदि किसी एक को भी प्रेरणा प्रदान कर सके तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा। कारा की कठोर कोठरियाँ मेरी कृतज्ञता का पात्र हैं जिनकी निःशब्द घड़ियों ने मुझे इन पृष्ठों को लिखने का अवसर प्रदान किया।

—कमलापति

विषय सूची

गांधी का व्यक्तित्व-दर्शन

(१)

आज ऊषा अपनी अरुणिमा के साथ ही साथ किसी स्मृति की रेखा लिये हुए उदित हुई। जैसे निबिड़ अन्धकार से आच्छन्न पथ पर भूला यात्री आकुल होता है, जैसे प्रथम वर्षा से पंकिल हुए सरिता-नीर में मछलियाँ माँज उठती हैं, जैसे असीम गगन में विहार करनेवाला उन्मुक्त पक्षी पिंजड़े में पड़कर परेशान होता है, वैसे ही कारा में कैदी का जीवन होता है। उसके जीवन के क्षण एक के बाद दूसरे न जाने कहाँ विलीन होते चले जाते हैं। समय आता है जब काल की यह निश्चित और मन्थरगति उसे जड़ता प्रदान कर देती है। फिर तो वह अपनी आकुलता और पीड़ा से भी परे हो जाता है। उसका चिन्मय स्वरूप भी पथरा-सा जाता है। उस समय फिर मायाविनी प्रकृति का प्रभात भी जैसे नष्ट हो जाता है। प्रतिदिन प्राची में राग-रंजिता अरुणिमा आती है, अपना नर्तन कर जाती है, पर कैदी की भावतन्त्रियाँ झंकृत नहीं होतीं। करुणविराग लिये प्रतीची की सिन्दूराभा का आगमन होता रहता है, पर वह भी कारावासी के अन्तर को अपनी कोमल उँगलियों से स्पर्श करने में असमर्थ होकर निराशा का अन्धकार छोड़ लुप्त हो जाती है।

संमोहिनी संधिवेलाएँ भी जब उसके विशृंखल अस्तित्व की कड़ियों को जोड़ नहीं पातीं, तब किसमें सामर्थ्य है कि उनमें स्पन्दन उत्पन्न कर सके ? जो अन्धकार और प्रकाश के शाश्वत वियोग को भी क्षण भर के लिए संयोग में परिणत कर देने की शक्ति रखती है, वह भी जब जड़ीभूत हुए बन्दी के जीवन में गति प्रदान करने में अक्षम है तो दूसरे की बात ही क्या करें ? वसन्त की मंजु मंजरियों और पावस की श्यामा रसझरी में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि उसकी मूर्छा भंग कर सकें ! यहाँ की क्रूर, निष्ठुर, अनैतिक, नियमबद्धता में जकड़ा हुआ उसका पार्थिव और अपार्थिव जीवन किसी गंदी गड़ही के प्रवाह-हीन, प्राण-हीन और अविचल घृणित जल में पड़े सूखे पत्ते की भाँति दिखाई देता है ।

पर आज की ऊषा में कुछ विशेषता है । वह आयी और निर्जीव बन्दी के स्वरहीन हृदय में भी झंकार उत्पन्न कर गयी । आज की उसकी लाली स्मृति के परिधान से सुशोभित थी, जिसके प्रभाव की उपेक्षा कारावासी भी न कर सका । आज दो अक्तूबर है । पचहत्तर वर्ष पूर्व, इसी दिन, भारत-भू की पावन गोद में, नवजात बापू का दर्शन करने के लिए, भारतीय क्षितिज पर, अनन्त सौंदर्य की अनन्त राशि लिये, यह ऊषा, जीवन-ज्योति की साकार प्रतिमा के रूप में, आलोकित हुई रही होगी । प्रसविनी भारत-माँ को उसने उछाह से बधाई दी होगी । माँ इस अभिनव, महाप्राण शिशु को पाकर पुत्रवती हुई थी ।

ऊषा के विमोहक मुख पर उस दिन की स्मृति-रेखा मानों आज भी अंकित है । स्मृति की उस रेखा में कितना बल है ! उसने बन्दी के हृदय में भी हलचल मचा दी । दो अक्तूबर क्या कोई साधारण तिथि है ? यह तो है वह महास्मृतिपर्व जिसके आगमन-मात्र से मेरे

लिए कारा के ऊँचे प्राचीरों का अस्तित्व ही जैसे मिट गया। सहसा ध्यान उस मुक्त-महर्षि की ओर चला गया जिसकी पार्थिव देह को बन्धन में आबद्ध करके पार्थिवता के पूजक दम्भी, अपने को सुरक्षित समझते हैं। मेरे मन को कारा की कौन-सी कड़ियाँ बाँधने में समर्थ हो रही हैं. जो आज यहाँ से निकलकर पूना की प्रशस्त अट्टालिका को पावन करनेवाले उन चरणों के निकट पहुँच गया है जिन्हें गोरे सैनिकों की लपलपाती संगीनों की श्रृंखला से जकड़ रखने की चेष्टा की गयी थी। इस पवित्र मुहूर्त पर हृदय श्रद्धा और पुनीत भावुकता की अंजलि लिये उन्हीं की मानस पूजा में अवनत है।

अपने अमूर्त भावों को व्यक्त करने के लिए हृदय सहज ही आकुल है। वह बापू के प्रति अपने उद्गार प्रकट करने के लिए उत्कंठित है, पर अपनी आकांक्षा की पूर्ति में असमर्थ हो रहा है। मेरे शब्दों में उतनी शक्ति कहाँ जो बापू की पूर्णता को अभिव्यक्त कर सकें। शब्दों की असीम शक्ति और बुद्धि की अपूर्णता ने कब मानव को अपने अन्तर्लोक को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने में समर्थ बनाया है? कोमल कलियों में, पुष्प की सुरभि में, चपला की चंचल छटा में, चन्द्र की ज्योत्स्ना में, जलनिधि की अनन्तता में, नीलाकाश की विराट् शून्यता में उसे जिस अपार सौन्दर्य तथा प्रकृति की जिस अनुपम कला का आभास मिल जाता है उसे पूर्णतः व्यक्त करने में मनुष्य कब सफल हुआ है। सौन्दर्य की अनुभूति भले ही हो जाय पर उसके स्वरूप का निश्चित रेखांकन कौन कर सका है? प्रकाश का स्वरूप क्या है इसकी व्याख्या शब्दों में नहीं की जा सकती। द्रष्टा बनकर हम उसका अनुभव प्राप्त कर सकते हैं पर उसकी रूपरेखा उपस्थित नहीं कर सकते। वीणा की स्वरलहरी में वह कौन-सा अलौकिक रहस्य है जो हमें इस दुनिया से कहीं दूर उठा ले जाने में समर्थ होता है? कोई

संगीतज्ञ या कलाकार भला इसका क्या उत्तर देगा ? यही है मेरी वह नैसर्गिक बाधा जो बापू के प्रति हृदय के उद्गार प्रकट करने की लालसा पूर्ण करने में रुकावट डाल रही है।

बापू की स्मृति के साथ-साथ उनके विशाल व्यक्तित्व की झलक मिलती है, किन्तु अनुभूति की अभिव्यक्ति करना मेरे समान लघु और अपूर्ण प्राणी के लिए संभव नहीं हो रहा है। पर मनुष्य अपनी सारी लघुता, समस्त परिसीमता और संपूर्ण साधन-हीनता को लिये हुए भी स्वभाव-गत अन्तःप्रेरणा के वशीभूत होकर सदा से अपने को अभि-व्यक्त करता आया है। अभिव्यंजन उसका धर्म है, फलतः मैं भी जीवन के मूल में निहित इस प्राकृतिक नियम के द्वारा संचालित होकर अपने धर्म का पालन क्यों न करूँ ?

अतः लिखना चाहता हूँ, पर बापू तो विराट् है। उसके जीवन के पहलू एक नहीं अनेक हैं। उस छोटे से अस्थिपिंजर में न जाने कितनी विशालता भरी हुई है। जिधर से देखता हूँ, जैसे भी देखता हूँ वह अम्बर की असीम शून्यता का हृदय भेदन करनेवाले उत्तुंग गिरिशृंग की भाँति ऊँचा दिखाई देता है। इतना ऊँचा कि वहाँ तक दृष्टि पहुँच ही नहीं पाती। आखिर प्रकृति ने किन तन्तुओं से उसका निर्माण किया है ? बापू है क्या ? इस मौलिक प्रश्न का उत्तर कौन दे ? 'है क्या' का समाधान समीचीन रूप से करने की योग्यता भला मुझमें कहाँ ? उस प्रश्न को वहीं छोड़कर मैं तो उसे उतना देखना चाहता हूँ जितना वह दिखाई देता है। इस मार्ग पर बढ़ता हूँ तो अपने दृष्टिपथ में उसे चतुर्दिक् पाता हूँ। विभिन्न कोणों से देखने पर उसके व्यक्तित्व के अनेक व्यूह दृष्टिगत होते हैं। उसकी परिगणना कर चलता हूँ तो यह पाता हूँ कि वह भक्त है, वह दार्शनिक भी है। वह सत्य का पुजारी है, साधक है, धर्म का उत्थापक और नैतिकता का संस्थापक

है। वह समाज-सुधारक और मानवता का उपासक है। वही विद्रोही है, योद्धा है, सेनापति और राजनीतिज्ञ है। वह संत और तपस्वी है। सबसे बढ़कर वह महामानव है जो आज मानवता की नैष्ठिक सेवा में रत है। उसमें व्यक्तित्व के उपर्युक्त पहलुओं पर क्रमशः दृष्टिपात कीजिये। मैं देखता हूँ कि उसकी भक्ति ज्ञान की शिला पर आश्रित है। उसका ज्ञान सृष्टि के मूल में स्थित उस सत्य के साक्षात्कार की ओर उन्मुख है, जिसकी अभिव्यक्ति का एक पहलू यह विश्व भी है। यदि ऐसा न होता तो गांधी अपने अहम् के परिवेष्टन को ढहाकर अपने को विराट् समष्टि में लय कर देने में समर्थ न होता। उसके नेत्रों में स्पष्टतः आकुल विश्व की वेदना छाई दिखाई देती है। वह जगत् के समस्त पाप को अपने सिर ओढ़कर उसे क्लेश मुक्त कर देने के लिए आतुर रहता है। वह कहता है कि "यदि हम सभी एक ही ईश्वर की संतान हैं और एक ही तत्त्व से पालित हैं तो हमें प्रत्येक के पाप का भागी भी होना चाहिए"। उसकी सारी कर्मठता और सक्रियता जगत् को कलुष और क्लेश से मुक्त करने के लिए ही है। पर इस महान् यज्ञ में संलग्न होते हुए भी उसमें कर्तृत्व का अहंकार नहीं है। अभिमान का स्पर्श नहीं. सफलता-विफलता की चिन्ता नहीं। आसक्ति नहीं, क्योंकि अहंभाव नहीं। फिर रागद्वेष के लिए आधार ही कहाँ रहा? अपने नियन्ता के संमुख संपूर्ण आत्मनिवेदन ही उसकी साधना है।

उस पर किसी की निन्दा-स्तुति का कोई प्रभाव नहीं होता। वह निस्संग अपने कर्मों को विश्वात्मा के चरणों में अर्पण कर देता है। हृदय में बजती निर्वैर रागिनी के स्वर-ताल पर लहराता बापू सृष्टि की नियामक महाशक्ति के हाथ का छोटा-सा निमित्त-मात्र हो गया है। यह मनःस्थिति ही तो भक्ति की पराकाष्ठा है। कौन कहेगा कि वह भक्त नहीं है? पर क्या उसके जीवन का यही एक पहलू है? वह भक्त

है तो दार्शनिक भी है। वह सत्य का पुजारी है और इस हैसियत में वैज्ञानिक भी है। वह आदर्शवादी है, अतएव साधक है। इसी नाते वह तपस्वी है। दार्शनिक बापू जीवन के रहस्यमय मूलतत्त्व में दार्शनिक की भाँति प्रवेश करना चाहता है। जीवन और जगत् के सम्बन्ध का प्रकृत रूप देखना दार्शनिक का काम होता है। गांधी की दृष्टि इस गूढ़ प्रदेश का पर्यवेक्षण करने की चेष्टा करती है और बाह्य के आडम्बर तथा भौतिकता के परिधान से आवृत जीवन के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करना चाहती है। गांधी—दार्शनिक गांधी—इसी दर्शन के आधार पर कह उठता है—"अन्धकार के मध्य में प्रकाश की सत्ता स्थित है। मृत्यु के गर्भ में जीवन का सनातन निवास है।" द्वन्द्व एक ही अद्वैत सत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं। एक होते हुए भी दो विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होनेवाले दोनों पहलुओं का चिर अस्तित्व उस शाश्वत द्वन्द्व के रूप में स्थित है जिसके संयोग का परिणाम ही यह सृष्टि है। गांधी की दार्शनिकता उसे इसी गूढ़ रहस्य का आभास प्रदान करती है। पर वह कोरा दार्शनिक ही नहीं है। कोरे बुद्धिवाद और शुष्क तार्किकता की सीमा से ऊँचे उठकर अनुभूति के प्रदेश में प्रवेश साधना का लक्ष्य होता है। गांधी सत्य का भावुक पुजारी भी है अतः इस द्वन्द्व में और द्वन्द्वों के संघर्ष तथा संयोग में निहित सत्य का शोधन और साक्षात्कार करना चाहता है।

सत्य के शोधन में संलग्न बापू यह देखता है कि द्वन्द्वों के अनवरत संघर्ष में अन्धकार पर प्रकाश की, मृत्यु पर जीवन की, असत् पर सत् की विजय सृष्टि का नैतिक विधान है। इस सत्य की अनुभूति ने गांधी के संमुख जीवन और जगत् के प्रयोजन और उसके लक्ष्य को उद्घाटित कर दिया है। उसकी दृष्टि में सृष्टि का विकास निष्प्रयोजन नहीं है। वह यह नहीं मानता कि कुछ जड़, अन्ध और उच्छृंखल

भौतिक शक्तियों से उद्भूत पार्थिव पिंडों का आवारों की तरह अनन्त शून्यता में निरन्तर, निरुद्देश्य घूमते रहना और घूमते-घूमते विलुप्त हो जाना सृष्टि के विस्तार की एकमात्र साधार कल्पना और व्याख्या है। सत्य का शोधन और उसकी साधना उसे विपरीत परिणाम पर ले जाती है। जीवन और जगत् का विकास हुआ है इस प्रयोजन से कि असत् पर सत् की विजय का, अन्धकार पर प्रकाश की विजय का अक्षय लक्ष्य पूरा किया जा सके। गांधी की दृष्टि में आद्या महाशक्ति को यही अभीष्ट है और सारा विधि-विधान उस अभीष्ट की पूर्ति के साधन के रूप में स्थित है। "सत्यमेव जयते नानृतम्" यही महा सूक्त है जिसे व्यक्त और सिद्ध कर देने के लिए जीवन और जगत् की रचना हुई है।

जगत् का यह महाप्रयोजन जिसे भासता हो उसके लिए जीवन के आदर्श की स्थापना कर लेना कहाँ कठिन हो सकता है? फलतः गांधी के लिए वह आदर्श स्पष्ट है और इसीलिए मैं कहता हूँ कि वह आदर्श-वादी भी है। उस आदर्श की कल्पना के आधार पर ही वह व्यक्ति-गत तथा सामाजिक जीवन का विकास चाहता है। व्यक्ति और समाज का विधेय पथ वही है जिस पर चलकर वह अपने जीवन में सत्य और प्रकाश की विजय-वैजयन्ती फहरा सके। इसी में जीवन का सौदर्न्य है, सत्य की आराधना है और विश्व का कल्याण है। यह धारणा ही उसे साधक बनाती है; क्योंकि अवनी को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर जीवन को उस दिशा में, उस बिन्दु पर ले जाना उसका प्रयत्न है जिस पर सत्य, सौन्दर्य और शिवत्व का आलोक झलक उठता है। सत्य के प्रति बापू की इस नैष्ठिक आस्था और विश्वास ने प्रखर साधना की सृष्टि कर दी है। फलतः सिद्धि के लिए उसका सारा जीवन उस कठोर तप का रूप ग्रहण कर चुका है जिसकी प्रज्वलित

अग्नि में वह प्राणों को आहूत कर देने के लिए सदा तत्पर रहता है।

पर केवल इतने में भी बापू का व्यक्तित्व परिमित नहीं है। जरा हटकर उसे दूसरे कोने से देखिये। आप देखेंगे वह धर्म के प्रकांड उत्थापक, नैतिकता के तेजस्वी संस्थापक और समाज के सुदृढ़ सुधारक के रूप में दृष्टिगोचर होता है। धर्म के नाम से भड़क उठने की आवश्यकता नहीं। बापू का सम्बन्ध रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर आश्रित कर्मकांड तथा अनेक प्रकार के क्रिया-कलापों से आवेष्टित, उन जर्जर संप्रदायों से नहीं है जो संप्रति धर्म के नाम से विख्यात हैं। इनके पंक में तो वास्तविक धर्म डूब गया है। ये धर्म के सहायक नहीं विघातक हो रहे हैं। धर्म तो उस उच्च और उज्ज्वल प्रकाश-स्तम्भ का नाम है जो मनुष्य के अन्तर के चारों ओर व्याप्त अन्धकार को छिन्न-भिन्न करके उस पथ को आलोकित करता है जिस पर अग्रसर होकर वह अपने स्वरूप का दर्शन कर लेता है। स्वरूप का दर्शन उस चिरशान्ति का सर्जन करता है जिसे प्राप्त कर प्राणी फिर कुछ पाने की लालसा नहीं करता, 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् उसे देखकर आत्मा अपने ही स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। अपने उस स्वरूप में, जो सहज ही मुक्त, निसर्गतः अक्षर और प्रकृत्या असीम अतएव विभु है। तात्पर्य यह कि धर्म वह प्रकाश है जो जीवन के स्वरूप-दर्शन का साधन है।

अनन्त चेतन-धारा के अनन्त प्रवाह में, अनन्त बुलबुलों की भाँति उत्पन्न हुए अनन्त व्यक्तित्वों की विभिन्नता और अनेकता में स्थित, एक ही सत्ता अहम् के अज्ञान को विनष्ट करके समष्टि की अनन्तता में लय हो जाय, यही प्रकृत धर्म है। यही धर्म वह धारणा है जिस पर

विश्व स्थित है। यही धर्म वह लक्ष्य और साधन तथा आदर्श है जिसकी ओर जीवन का अभिमुख होना प्रगति है। जीवन का स्वभाव जड़ता नहीं है। उसका लक्षण ही है निरन्तर गति। सृष्टि के मूल में गति ही मुख्य कारण है। पर गति किस ओर हो, कहाँ हो, कैसे हो ? क्या निरुद्देश्य, निष्प्रयोजन गति को लेकर संसृति आविर्भूत हुई है ? प्रकृति की अटूट, सूक्ष्म, अविचल और कठोर नियमबद्धता ही इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर है। नियमबद्धता जहाँ है वहाँ प्रयोजन का होना अनिवार्य है। फलतः प्रयोजन है, और वह यह है कि जीवन अपनी अनेकता की माया तथा विभिन्नता की भ्रान्ति से मुक्त होकर वास्तविक और अक्षय एकता का रसास्वादन करे। यही है सत्य, यही है प्रकाश और यही है धर्म। इसके विपरीत जो है वह असत्य, अन्धकार और अधर्म है।

गांधी इसी धर्म का उपासक है। यह धर्म मानव-जीवन से विलुप्त हो रहा है अतः गांधी उसके उत्थापन में संलग्न है। इसी धर्म की ओर, सत्य और प्रकाश की ओर जीवन और जगत् को गतिशील बनाना उसकी चेष्टा है। बापू इसी गतिवाद का, इसी धर्म का पोषक है। उसके ब्रह्मचर्य में, उसके आस्वाद में, उसके अपरिग्रह में, उसकी अहिंसा में इसी गतिवाद की झलक है। याद रखिये कि बन्धन में गति नहीं है और वासना बन्धन का मूल है। वासना का मूल और उसका आधार अहम् है। अहम् विभिन्नता का, अनेकता का, पार्थक्य का ही दूसरा नाम है। उसी का पर्याय और जनक है। यह अहम् ही वासना और बन्धन का मूल है। भोग के भवन की रचना का आधार अहम् की वासना ही है। यह वह बन्धन और वह समस्या है जो जीवन की प्रगति का अवरोध करती है तथा उसे पीछे खींचती है। अहम् के मिटने से वासना मिटती है और वासना मिटी तो जीवन विकास की

ओर उन्मुख हुआ। बापू का आस्वाद उसका अपरिग्रह और उसका ब्रह्मचर्य अहम् की वासना के बन्धन को काटने के लिए है। हिंसा का जन्म भी क्या अहम् के गर्भ से नहीं है ? अहम् से राग, राग से भय, भय से द्वेष, द्वेष से क्रोध और क्रोध से हिंसा। यही कड़ी है जिसका मूल अहम् में है । 'मैं' और 'मेरे' से ही राग और तदनन्तर एक के बाद दूसरी कड़ियाँ परस्पर आबद्ध होती चलती हैं। बापू की अहिंसा की कल्पना महती और सीमा-रहित है। वह नकारात्मक नहीं निश्चयात्मक है, निष्क्रिय नहीं सक्रिय है, निर्जीव नहीं सजीव है। उस कल्पना में अहम् और उससे उद्भूत उन विकारों का विनाश सम्मिलित है जो न केवल व्यक्ति को अपितु विश्व को क्षत-विक्षत कर रहा है।

यही वह मौलिक, स्वाभाविक और वास्तविक धर्म है जिसे मोहाच्छन्न मानव आज विस्मृत कर चुका है। विपरीत मार्ग पकड़कर, और अधोगति ग्रहण करके वह अपनी प्रगति तथा संस्कृति की ओर, विकास तथा उन्नति की ओर, अग्रसर होता हुआ समझने की भूल करता है। यह भ्रम उसकी अवनति का चरम रूप है। पथ से भ्रष्ट हुई मानवता को अपनी उद्दाम आत्मा की प्रचंड हुंकार से सावधान करनेवाला महात्मा स्वयमेव वह ज्योति है जो मनुष्य को अज्ञान के प्रभूतान्धाकार से बाहर निकलकर सत्पथ की ओर बढ़ने के लिए संकेत कर रही है। इस उपर्युक्त व्यापक धर्म के प्रकाश में बापू विवेक का नया मानदंड स्थिर करता है। वह उचित और अनुचित, पाप और पुण्य, नैतिक और अनैतिक की जाँच के लिए अपनी कसौटी रखता है। उचित-अनुचित की विवेचना के लिए हमारे पास आधार क्या है ? विविध साम्प्रदायिक धर्मग्रन्थों की व्याख्या, सामाजिक रीति-रिवाज और अतीत की परम्पराएँ तथा संस्कार उचित-अनुचित का निर्धारण कर देते हैं। पर इससे क्या प्रश्न हल हो जाता है ? जो एक स्थान पर उचित माना

जाता है वही दूसरे स्थान पर अनुचित हो जाता है। हम देखते हैं एक मजहब में जो धर्म है वही दूसरे में अधर्म है। ऐसी स्थिति में क्या यह मान लेना होगा कि विभिन्न युगों और विभिन्न स्थानों में प्रचलित रीति-रिवाज और धार्मिक गुरुओं की बुद्धि से सापेक्ष सत्ता ही उचित-अनुचित की सत्ता है? यदि यही है तो नैतिकता का कोई निरपेक्ष अस्तित्व रहा ही नहीं। फिर जिस नैतिकता का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहा वह पूर्ण सत्य भी नहीं हो सकती। कह सकते हैं कि समय और परिस्थितियों के अनुसार जब जो बात समाज और जीवन के लिए हितकर तथा उपयोगी हो वही उचित मानी जाती है और जो उसके विपरीत हो वह अनुचित हो जाती है। पर इसके अनुसार भी नैतिकता उपयोगितावाद से सापेक्ष हो जाती है और उपयोगिता के सम्बन्ध में विभिन्न लोगों की दृष्टि भिन्न-भिन्न हो सकती है। उस स्थिति में कोई जिसे उचित समझता है उसे दूसरा अनुचित समझ सकता है। फिर तो नैतिकता का आधार इतना सरल हो जाता है कि वह स्वयमेव उसमें डूबती और उतराती रहती है।

पर बापू की दृष्टि में नैतिकता तरल नहीं सारभूत, सापेक्ष नहीं स्वतन्त्र है। उसके मत से वह नियामिका शक्ति है जिसके द्वारा विश्व-विधान का संचालन अविरत होता रहता है। नैतिकता की यह कल्पना उसे एकान्त सत्य की सत्ता प्रदान करती है। गांधी की इस कल्पना के मूल में सृष्टिसम्बन्धी उसका वह विश्वास है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। यदि सृष्टि सप्रयोजन है और विश्व उस प्रयोजन की सिद्धि का साधन है तो जीवन की गति के लिए निर्धारित पथ और नियमों का होना अनिवार्य है। अपूर्ण तथा असत्य भावों से भावित विश्व सत्य और प्रकाश की अर्थात् अपने उज्ज्वलांश की विजय में पूर्णता प्राप्त करे। विकास की उसकी यात्रा इसी की प्राप्ति के लिए

है। जीवन की इस उन्मुखता को विकसित करने में जो सहायक हो वही नैतिक और उचित है। जो उसे दूसरी दिशा की ओर ले जाय वही अनैतिक और निषिद्ध है। जीवन के जो तत्त्व और आचरण मानव के अहंभाव को, उसके बन्धन को, उसके स्वार्थ और उसकी वासना को परिपुष्ट करते हों वे अनैतिक और असत्य है, क्योंकि वे जीवन की अपूर्णता का पोषण करते हैं। पर जो व्यक्तित्व का विराट् विश्व में लय कर देने में सहायक हो, जो अनेकता में एकता का संचार करता हो और स्वार्थ की संकुचित सीमा का नाश करके विश्व की समस्या की अनुभूति अपनी समस्या के रूप में कराने में समर्थ होता हो वही उचित और नैतिक है; क्योंकि उसी में जीवन की पूर्णता की अनुभूति है। उसी में जीवन के सत्यांश, सौन्दर्यांश या शिवांश की प्रतिच्छाया झलक उठती है।

यही है वह तुला जिस पर बापू उचित-अनुचित को तोलता है और यही है वह मानदंड जिससे वह विवेक को मापता है। इसी के आधार पर वह जीवन के आचरण को आश्रित करता है। व्यक्तिगत जीवन हो या सार्वजनिक, उसकी दृष्टि में सबको कसने की कसौटी यही है। गांधी यह नहीं मानता कि व्यक्ति और समूह परस्पर भिन्न होते हैं। व्यष्टि से समष्टि का निर्माण होता है। व्यक्ति समूह का पूरक है और समूह व्यक्ति का पोषक। दोनों का सम्बन्ध अविच्छेद्य है; क्योंकि एक कारण है और दूसरा कार्य। कार्य में कारण का विलोप नहीं समावेश रहता है, अतः व्यष्टि और समष्टि की एकता सिद्ध है।

ऐसी स्थिति में दोनों के हित, स्वार्थ और लक्ष्य परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। यह धारणा भ्रान्त है कि नैतिकता का सम्बन्ध केवल व्यक्तिगत जीवन से है मानों व्यक्ति का जीवन समूह के

जीवन से पृथक् है और व्यक्ति के लिए जो आवश्यक है वही उसके समूह में मिल जाने पर आवश्यक नहीं रह जाता। बापू आज के मानव को इस विमूढ़ता से परे ले जाता है। जीवन, उसका प्रत्येक पहलू, उसके समस्त अंगोपांग, यहाँ तक कि विश्व भी उसकी दृष्टि में भी समवेत रूप से साधन-मात्र है उस लक्ष्य की पूर्ति का जिसे प्राप्त करना विश्वात्मा को अभीष्ट है। फलतः जगत् और जीवन के अंग-प्रत्यंग पर, उसके पारस्परिक सम्बन्ध और उसकी गति-विधि पर एक ही छाप होनी चाहिए। वह छाप है नैतिकता की, क्योंकि वही आदर्श की प्राप्ति का पथ प्रशस्त करती है तथा उचित मार्ग का संकेत और निर्धारण करती है।

यही कारण है कि गांधी मनुष्य की प्रत्येक समस्या को, उसके प्रत्येक कार्य और प्रयत्न को, उसके विधान और व्यवस्था को एकमात्र नैतिक दृष्टि से देखने को बाध्य होता है। राजनीति हो या अर्थनीति, समाज-नीति हो या शिक्षा-नीति, सबका समावेश और संमिश्रण उसकी अमर नैतिक नीति में ही होता है। जब तक यह न हो तब तक कोई भी नीति उसके लिए नीति नहीं दुर्नीति है। आधुनिकता का उपासक बड़े दम्भ से गरजकर कह उठता है कि राजनीति का धर्म तथा नीति से, कोई सम्बन्ध नहीं। पर इसी कारण तो मानव दुर्दान्त पशु से भी भयावह हो गया है। विकास का यात्री, पूर्णता का पथिक, मुक्ति का अभिलाषी अपने ही द्वारा निर्मित बन्धनों से उत्पीड़ित हो रहा है। उसके स्वार्थ का, उसके अहंकार का, उसके अन्तर्द्वन्द्वों का, कैसा बीभत्स नर्तन हो रहा है? उसकी व्यवस्थाएँ उसके लिए अभि-शाप बन गयीं। उसकी विभूति और उसका ऐश्वर्य स्वयं कालाग्नि बन-कर उसे भस्म कर रहे हैं। जिसे आज का मानव संस्कृति समझता है वही उसके विनाश का अभिनव उपक्रम रच रही है।

आखिर यह विकार, यह विभीषिका, यह वैपरीत्य क्यों ? इसीलिए कि मनुष्य ने अपनी मूढ़ता में उचित और उन्नत पथ का परित्याग कर दिया है। जगत् क्षणमात्र के लिए भी, किसी एक बिन्दु पर रुके रहने में असमर्थ है क्योंकि रुकना उसके स्वभाव और धर्म के विरुद्ध है। वह चलेगा। आगे की ओर नहीं तो पीछे की ओर चलेगा। ऊर्ध्वगति से विमुख हुआ तो अधोगति सिर पड़ेगी। गांधी मानवता की इस अधोगति का अवरोधक है। वह पतन की ओर पलायमान जगत् को तीव्र वेग से रोकने में और रोककर ऊर्ध्व की ओर अभिमुख करने में संलग्न है। जीवन को नैतिकता से ओतप्रोत करने का उसका प्रयत्न उसी चेष्टा का रूप है। जो भी अनैतिक हो, असत्य हो, स्वार्थ और अहम् के भावों से भावित हो उसका प्रतिरोध करना और उसके स्थान में नैतिकता का उद्बोधन करना उसकी साधना है।

चिन्ता नहीं उसे किसी के द्वारा उपहास किये जाने की। दुर्धर्ष प्रभुता और प्रचंड पशु-शक्ति का भय नहीं। वह अपने मार्ग पर चलेगा और आवश्यकता होगी तो एकाकी चलेगा। कर्तृत्व के दम्भ के साथ नहीं, अपितु विनम्र साधक की नैष्ठिक अस्था के साथ, अनासक्त और असंग भाव से, केवल कर्तव्य-बुद्धि लेकर चलेगा। यही है उसके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू जो नैतिकता के संस्थापक के रूप में उसे हमारे संमुख उपस्थित करता है।

बहुधा साधारण बुद्धि उसे समझने में असमर्थ होती है क्योंकि उसके कार्यों में यदा-कदा असंगति का दोष दिखाई देता है। स्मरण रखिये कि तर्क की कसौटी पर उसे समझने की चेष्टा करना पर्याप्त नहीं है; क्योंकि वह केवल तर्क द्वारा संचालित नहीं है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण ही नैतिक है। और नैतिकता का आधार है अन्तश्चेतना। सूक्ष्म से सूक्ष्म तर्क भी वहाँ नहीं पहुँच पाता, क्योंकि

उसके लिए वह भी स्थूल ही होता है। फलतः विशुद्ध तर्क से बापू के कार्यों की संगति-असंगति की विवेचना करना ही व्यर्थ है।

एक उदाहरण लीजिए। राजकोट के राजा और उनके मन्त्री वीरवाला ने प्रतिज्ञा भंग की। स्वार्थ और दम्भ के वशीभूत होकर उन्होंने ऐसा किया था। अपने स्वार्थ के लिए वचन भंग करना और सत्य को छोड़कर असत्य का आश्रय लेना स्पष्टतः नैतिक पथ का परित्याग करना था। बापू को राजकोट-नरेश के इस कार्य में अनैतिकता का आभास मिला। फलतः उसका प्रतिरोध करने के लिए अग्रसर होना अनिवार्य हो गया। गांधी ने कदम उठाया और मरण-पर्यन्त उपवास करने की घोषणा कर दी। उसका लक्ष्य था नैतिक पथ से अनीति का विरोध करना और स्वतः कष्ट उठाकर राजा और मन्त्री के अन्तर्लोक में नैतिक प्रकाश का सर्जन करना। परन्तु गांधी ने एक बात और कर दी। उपवास की घोषणा के साथ-साथ उसने वायसराय से भी अपील कर दी कि वे संघ-न्यायालय के विचारपति से यह निर्णय करा दें कि किसका पक्ष न्यायसंगत है। यदि वायसराय इस शर्त को स्वीकार कर लें तो उपवास समाप्त हो जायेगा।

आमरण अनशन की उसकी इस घोषणा से आसमुद्र-हिमाचल भारत-भू हिल उठी। वायसराय भी कहीं अपनी यात्रा छोड़कर दिल्ली दौड़ पड़े। एक सप्ताह भी बीतने नहीं पाया था कि वायसराय ने शर्त मंजूर कर लेने की घोषणा की। उपवास समाप्त हो गया। कुछ समय बाद न्यायालय के विचारपति ने निर्णय प्रदान किया और वह निर्णय भी गांधी जी के पक्ष में ही हुआ। पर यह क्या ? सहसा एक दिन बापू बोल उठा, "राजकोट में मेरी पराजय हुई। मुझसे भूल हुई। मैं राजा और वीरवाला से क्षमायाचना करता हूँ"।

अब दूसरी बार जगत् स्तब्ध हो गया। यह कैसा गोरखधंधा

है ? इतना तूफान, इतना संकट और इतनी हलचल उत्पन्न करने के बाद फिर यह क्या हुआ ? गांधी विक्षिप्त है क्या ? अपने प्राण और देश की भावनाओं के साथ यह कैसी क्रीड़ा ? राजकोट की प्रजा के साथ ही नहीं प्रत्युत समस्त देशी रियासतों की उत्पीड़ित जनता के साथ यह कैसा विश्वासघात ? यह घोर विघातक असंगति क्यों ? लोगों के हृदय में उपर्युक्त भावों ने कोलाहल मचा दिया। यह सब हुआ पर बापू था अविचल। उसे अपने पद और प्रतिष्ठा की चिन्ता नहीं थी। हँसनेवालों की हँसी की परवाह भी नहीं थी। लोग क्या कहते हैं इसकी ओर ध्यान न था। न अपनी पराजय स्वीकार करने में कोई संकोच था और न अपने नेतृत्व के खतरे में पड़ जाने का भय।

आखिर यह रहस्य है क्या ? तर्क की दृष्टि से और लौकिक स्वार्थ की दृष्टि से जो हुआ वह ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। फिर बापू क्या पागल है ? विचार कीजिये कि बात क्या थी ? क्यों उसने पलटा खाया और यह स्वरूप ग्रहण किया ? इन प्रश्नों का उत्तर मिलेगा गम्भीर नैतिक दृष्टि से विचार करने पर। गांधी मानव है, देव नहीं। विकारी है, निर्विकार नहीं। साधक है, सिद्ध नहीं। अपने सम्बन्ध में वह इससे अधिक दावा भी नहीं करता। वह भूल करता है क्योंकि भ्रान्ति मानव का धर्म है। पर भूल करते हुए भी वह अपना कठोर आलोचक है। यही उसकी विशेषता है। उसकी दृष्टि बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी है। वह अपने से ऊँचे उठकर, काफी ऊँचे उठकर, अपने को देखने की क्षमता रखता है। अपनी विकृति, अपना दौर्बल्य, अपनी भ्रान्ति को पकड़ लेने में उसे इसी कारण सफलता मिल जाती है। हम सबकी भाँति उसमें आत्मप्रवंचन नहीं। वह अपने को पहचान लेता है। असत्य और अहम् से समझौता कर लेना उसे अभीष्ट नहीं। फलतः पथ से एक बार डिग जाने पर भी पता पाते ही वह सुधार में रत हो

जाता है। फिर अपने को दंड देने में तथा सत्पथ पर लाने में, और लक्ष्य की ओर उत्प्रेरित करने में कठोरता से काम लेता है। ऐसा करते हुए उसे न लौकिक स्वार्थ की चिन्ता होती है और न अहमहमिका आबद्ध कर पाती है। किसी की आलोचना और उपहास भी प्रभाव नहीं डाल पाता। अपने को मिटाकर भी वह सत्य की रक्षा करता है। यही है उसकी महत्ता और यह है उसका तप!

उपर्युक्त घटना में उसने अपने विकार को तत्काल पकड़ लिया। राजकोट-नरेश और दरबार वीरवाला ने स्वार्थ, दम्भ और अहंकार के वशीभूत होकर सत्य की उपेक्षा की थी। उनकी इस अनीति का प्रतिरोध नीति के आराधक और पोषक बापू को करना अनिवार्य था। पर प्रतिरोध करना था नैतिकता की स्थापना के लिए। प्रतिरोध करना था राजकोटाधीश्वर तथा वीरवाला के हृदय में सत्य के उद्बोधन और और प्रकाश के प्रकाशन के लिए। बापू के पास उसका एक ही उपाय था। कष्ट-सहन, तप और त्याग के द्वारा अहम् की मिथ्या, भ्रान्त तथा भ्रष्ट भावना से भावित उपर्युक्त सज्जनों के अन्तःकरण में उनके आन्तरिक उज्ज्वलांश को उज्जीवित कर देना। केवल कर्तव्य-बुद्धि से, निर्लिप्त और संगहीन होकर, सत्य की उपासना मात्र के लिए उसे पथारूढ़ होना चाहिए था। सफलता-विफलता की चिन्ता नहीं होनी चाहिए थी। विजय-पराजय का भाव नहीं आना चाहिए था। लक्ष्य था सत्य की ज्योति जगाना और बापू था निमित्त। जीवित रहते हुए यदि लक्ष्य की पूर्ति न कर पाता तो मरकर अपने कर्तव्य का पालन करता। यही था उसका विधेयपथ।

पर वह इतना निर्विकार न हो सका। मानव-सुलभ दुर्बलता ने उसे प्रताड़ित किया। संभवतः उसका अहम् भी जाग उठा था। कदाचित् उसे अपनी विजय की कामना हो गयी थी। यह ठीक है कि उसे

अपने पक्ष के न्याय-संगत होने में विश्वास था फिर भी उसने वायसराय से हस्तक्षेप करने की माँग की। हस्तक्षेप को ही उसने अपने अनशन की समाप्ति की शर्त बना दिया था। प्रश्न किया जा सकता है कि "सत्यमेव जयते नानृतम्" यदि अटल नैसर्गिक महासत्य है, यदि वही विश्व का नैतिक महाविधान है और बापू को यदि उसमें अविचल श्रद्धा थी तो फिर सत्य की विजय के लिए वह भौतिक शक्ति और प्रभुता की शरण क्यों गया ? या तो सत्य की शक्ति में अविश्वास था, अथवा प्राणों का मोह था, अथवा अहम् जगा था, जो अपनी विजय की लिप्सा कर रहा था। तभी तो यह जानकर कि वायसराय राजकोट दरबार को दबा सकते हैं, बापू ने उनकी शक्ति का आश्रय लिया।

इस प्रकार राजकोट के ठाकुर और मन्त्री का उत्तमांश कैसे उद्‌बुद्ध हो सकता था ? जिस अहम् ने राजकोटाधीश तथा उनके मन्त्री को अनैतिकता की ओर अग्रसर किया था उसी अहम् ने उसका प्रतिरोध करनेवाले बापू को भी क्या प्रभावित नहीं किया ? यह तो अनैतिकता की ही विजय और नैतिकता की पराजय थी। हिंसा जीती और अहिंसा की हार हुई। वायसराय ने हस्तक्षेप किया। राजकोट दरबार दबाया गया। गांधी जी का अनशन समाप्त हुआ। उनके प्रभाव का डंका बज उठा। उनकी असाधारण शक्ति को सत्ता ज्ञात हुई। विरोधी पर उन्हें विजय मिली। यह सब हुआ, परन्तु नैतिकता की विजय नहीं हुई। अहम् पर अहम् की, दम्भ पर दम्भ की, शक्ति पर शक्ति की ही सत्ता जमी। अन्तश्चेतना उस उत्तम, उज्ज्वलांश से आलोकित न हुई जो जीवन को विकास की ओर ले जाने का कारण होती है। यह तो गांधी पार्थिव नहीं किन्तु चिन्मय गांधी की पराजय ही थी। फलतः बापू की अन्तर्दृष्टि ने अपने स्वरूप को पहचान लिया। उसने अपने विकार को भी पकड़ लिया। अपने लक्ष्य और कार्य में

असंगति देख ली। उसके हृदय में अन्ततः असत्य पर सत्य की विजय हुई। दानव पर देव की प्रभुता स्थापित हुई। गांधी ने देख लिया कि क्षण भर के लिए ही सही, प्रकाश पर अन्धकार विजयी हुआ। फलतः ज्योतिःस्वरूप गांधी ने पद, प्रतिष्ठा और अहम् को कुचल कर अपनी पराजय स्वीकार कर ली। पराजय की यह स्वीकृति वस्तुतः सत्य की, नैतिकता की, उज्ज्वलांश की विजय थी। जगत् जिसे उसकी विजय समझता था उसमें उसकी पराजय थी और जिसे उसने अपनी पराजय घोषित किया उसमें उसकी सच्ची विजय थी। यही है दृष्टि जिससे देखे बिना गांधी में असंगति का दोष दिखाई देता है। साधारण बुद्धि और दृष्टि उसे समझ नहीं पाती।

जीवन के प्रति जब उसका सारा दृष्टिकोण ही नैतिक है तो उसके आधार पर जीवन ही नहीं अपितु जगत् का निर्माण करने की चेष्टा करना उसके लिए स्वभावसिद्ध है। यही कारण है कि समाज की सारी व्यवस्था को, सारे विधान और संघटन को उसी की भित्ति पर स्थापित करने में वह विश्व का कल्याण देखता है। आज के सामाजिक संघटन के मूल में ही उसे अनैतिकता की गन्ध मिलती है। प्रभुता और मद, शासन और शोषण, स्वार्थ और वासना पर स्थापित व्यवस्था में, अनाचार और पशुता, दमन और हिंसा, ऊँच और नीच का कराल और बीभत्स नृत्य होना अनिवार्य है। फलतः बापू समाज का सुधार चाहता है। वह चकतियाँ लगाकर नहीं बल्कि उसके मूल को ही परिवर्तित करके सुधार करना संभव समझता है। व्यक्ति से समूह बनते हैं और समाज में सामूहिक मनःस्थिति और अन्तर्लोक का प्रतिबिम्ब भी समाविष्ट है। इसी कारण गांधी व्यक्ति के परिवर्तन से समाज को परिवर्तित करने की चेष्टा आरम्भ करता है। इस रूप में वह समाज के महान् सुधारक का अभिनय करता दिखाई देता है।

(२)

किसी तीसरी दिशा से पुनः दृष्टिपात करता हूँ तो बापू के व्यक्तित्व का दूसरा ही व्यूह नजर आता है। देखता हूँ कि वह योद्धा है, सेनापति है, विद्रोही है, नेता है, वक्ता है, और है कुशल राजनीतिज्ञ। उपर्युक्त व्यूह के एक-एक अंग को देखिये। उसके जीवन पर दृष्टिपात कीजिये और आप देखेंगे कि वह विशाल रणांगण के रूप में प्रदर्शित है। बापू योद्धा है और संग्राम करता है, पर यह युद्ध किससे करता है? युद्ध करने के लिए तो शत्रु चाहिए और गांधी स्वयं अजात-शत्रु है। पर किसी का शत्रु न होते हुए भी वह शत्रु है और शत्रु है स्वयं शत्रुता का। शत्रुता, द्वेष और युद्ध की सारी भावना ही मनुष्य के अहम् पर स्थापित है और बापू स्वतः अहंवाद की सीमा उद्ध्वस्त करने में संलग्न है। अहम् ही बन्धन है मुक्त मानव का। उसमें राग और मोह है अपने से, तथा पार्थक्य है विश्व से। यही वह विष है जो आत्मा के प्रकृत स्वरूप को विकृत बना देता है। अपनेपन में विस्मृति, मिथ्यात्व तथा दम्भ है।

उसके जागरण से 'स्व' का स्वार्थ ही आदर्श हो जाता है जो विश्व का द्रोही और द्वेषी बना देता है। शत्रुता और हिंसा का यही मूल है। बापू इसी मौलिक महारोग से युद्ध ठानता है। स्वार्थ से, स्वार्थ पर स्थापित सारी व्यवस्था से, स्वार्थ से ही उद्भूत और विकसित सारी भावना से युद्ध करना उसका स्वभाव है। जाति-विद्वेष में, प्रभुताप्राप्ति की सारी लालसा में, वर्ग द्वारा वर्ग के शोषण में, आर्थिक असमानता में, मानव द्वारा मानव के शासन और दलन में, अधिकार और शक्ति की लिप्सा में, काले-गोरे के भेद

में, छुआछूत के बन्धन में, धार्मिक असहिष्णुता और व्यक्तिगत ऊँच-नीच के भाव में, पद और वासना की पूजा में सर्वत्र उसे इसी अहम् और स्वार्थ की लीला दिखाई देती है। वह मानता है कि धरित्री में व्याप्त सारी हिंसा और प्रतिहिंसा की आग इसी ने सुलगायी है।

बापू तुमुल संग्राम करता है इसी अनर्थ से। वैसा ही संग्राम करता है जैसा सत्य असत्य से, प्रकाश अन्धकार से करता है। गांधी का संघर्ष अहम् पर आश्रित स्वार्थ और अनीति को मटियामेट करने के लिए है। वह अभिनव योद्धा है जो थकना नहीं जानता। लड़ता है और ऊँचे उठकर लड़ता है। जगत् से लड़ाई के समस्त कारणों को मिटा देने के लिए लड़ता है। उसे किसी का न तो भय है और न किसी से द्वेष है। योद्धा का उत्कृष्ट लक्षण निर्भीकता है। जो जितना ही निर्भय हो वह उतना ही बड़ा योद्धा है। किसी के शौर्य का मानदंड भी यही है। गांधी को भय छू नहीं गया है। भय हो कैसे? भय का प्रजनन भी अहम् से ही होता है। जिसमें यह लुप्त हुआ उसमें वह भी न होगा। जो निर्भय है उस पर कोई अपनी समस्त पशु-शक्ति लेकर भले ही टूट पड़े, किसी का मिथ्या दम्भ अपना बीभत्स नर्तन करे, प्रभुता और मद तांडव करें, कानून और कारा, लोहा और लहू, कोप और कुटिलता वज्र के समान उस पर घहरा उठें पर वह अविचल और निर्भय बढ़ता चलेगा। गांधी ऐसा ही निर्भय योद्धा है जिसके हाथ में शस्त्र नहीं, हृदय में प्रतिहिंसा नहीं, नेत्रों में प्रतिशोध की ज्वाला नहीं। विश्व-कल्याण की लालसा लिये, वह उसी की लोल लहरियों पर लहराता, आदर्श की तथा ज्योति और विकास की ओर बहता चला जायगा।

कहाँ मिलेगी योद्धा की ऐसी मिसाल? इतिहास के पन्नों में खोजिये। ऐसी विभूतियाँ मिलेंगी नहीं और मिलेंगी तो उँगलियों पर

गिनी जा सकेंगी। बापू उसी कोटि का योद्धा है। उसमें शक्ति है अपनी सेना का निर्माण कर लेने की। भारत के गत दो दशकों का इतिहास सिद्ध करता है कि अपूर्ण, अधःपतित और शताब्दियों से निर्दलित भारतीय जनवर्ग में उसने जीवन का क्षोभ उत्पन्न कर दिया। उसने मिट्टी के अधम और निर्जीव पुतलों में जान फूँक दी। निराशा में वह आशा की आलोकमयी सजीव प्रतिमा बनकर आया, हतप्रभ हृदय में अपने हुंकार से स्पन्दन उत्पन्न कर दिया और जगत् में देखा कि निकम्मे तथा निष्प्राण भी उसके पीछे चल पड़े। निहत्थे नर-कंकालों का निर्देशन और नेतृत्व सहज काम न था। फिर वह नेतृत्व भी कैसा अपेक्षित था? जीवन की सारी धारा बदल देने की बात थी। आत्मा और भावों में क्रान्ति कर देना आवश्यक था। मूर्च्छित भारतीयता को इस प्रकार सजग करना वांछनीय था कि वह भौतिकता की प्रचंड विद्युत् से भी चकाचौंध न हो। जगत् पर छायी हिंसा और पशुता की काली चादर की कलुषित छाया से बचाकर जीवन को उच्चतर दिशा की ओर ले जाने का महाप्रयास अभीष्ट था। लक्ष्य था सत्य का, अहिंसा का, उत्सर्ग और अहंकार का बल प्रदर्शित करना, क्योंकि इसी में भारत का, जगत् का और मानवता का कल्याण था।

आवश्यक थी ऐसी सेना जिसके सैनिक आत्माहुति की शक्ति रखते हों। ऐसे सैनिकों की खोज थी जो आदर्श से अनुप्राणित हों, जो अनासक्त भाव से केवल आदर्श से उत्प्रेरित हों और जिनकी दृष्टि अन्धकारावृत जीवन के उस पार, अलौकिक और आलोकमय क्षेत्र की ओर हो। आवश्यकता थी कि सैनिक आदर्श प्रेमी हों, पर विद्वेषरहित; बलि चढ़ जाने के इच्छुक हों, पर दम्भ रहित; लक्ष्य की पूर्ति के लिए कृतसंकल्प हों, पर आसक्तिरहित। ऐसी सेना के

संघटन का भार कोई अपूर्व सेनापति ही उठा सकता है। जानता हूँ कि आज भी उस संघटित सेना का सैनिक अधूरा, सदोष और दुर्बल है। यह भी जानता हूँ कि सेनापति जितनी शिक्षा, दीक्षा और प्रौढ़ता चाहता था वह प्राप्त नहीं हुई। प्राप्त करना सुलभ भी नहीं था, पर साथ ही, इसे कौन अस्वीकार करेगा कि इन अपूर्णों ने भी जो कुछ किया है वह मानव-जीवन और मानव-समाज के इतिहास में नया पृष्ठ जोड़नेवाला हुआ है। गांधी के सेनापतित्व में जो हुआ है वह दुर्दान्त दमन और व्यापक पशुता से आच्छन्न मेदिनी की गोद में एक नई घटना के रूप में घटित हुआ है। जो हुआ उतना भी जगत् का ध्यान किसी आदर्श की ओर, किसी उज्ज्वल प्रकाश की ओर और जीवन के उन्नत स्तर की ओर आकृष्ट करने में सफल हुआ है। संसार के मनीषी और विचारक अभिशप्त मानवता के लिए उसमें मुक्ति का मार्ग देखने लगे हैं।

और भारत! भारत को तो वरदान मिला। उसके तिमिराच्छादित पथ पर प्रकाश पड़ा। लक्ष्य स्पष्ट हुआ, पथ मिला, नयनकर्ता उपस्थित हुआ। अब अधिक चाहिए क्या? आगे बढ़ना मात्र उसका काम रह गया। सामर्थ्यानुसार जैसी गति होगी उसी के अनुकूल सफलता मिलेगी। हमारे पैर चलते हुए लड़खड़ाते रहे हैं, बहुधा पात हुआ है, पर हम पुनः उठे हैं तथा आगे बढ़े हैं। गत दो दशकों में हमने लम्बी यात्रा तय की है। उलटकर पीछे देखते हैं तो अपनी यात्रा का महत्त्व पा जाते हैं, गौरव का अनुभव करते हैं और हृदय में बल, आशा तथा साहस का संचार होता है। स्पष्ट है कि गांधी ने भारत में विद्रोहियों की सेना खड़ी कर दी है। पर उसका विद्रोह किसके विरुद्ध है? क्या केवल किसी शासन-सत्ता के विरुद्ध? क्या किसी सामाजिक अथवा केवल राजनीतिक परम्परा के विरुद्ध? अथवा

क्या किसी वर्ग, समूह या सिद्धान्त के विरुद्ध ? उत्तर की खोज कीजिये और आप देखेंगे कि यद्यपि उसका विद्रोह इन सबके विरुद्ध है तथापि उसकी सीमा इतनी ही संकुचित नहीं है। ऐसे विद्रोह तो आये दिन होते रहते हैं। धरती के किसी भाग में कोई समूह उठता है, शासकों को उलट-पलट देता है, व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और परम्पराएँ टूट जाती हैं। पर गांधी का विप्लव इससे कहीं अधिक गम्भीर, कहीं अधिक व्यापक और कहीं अधिक मौलिक है। साधारण विद्रोहों से उसका विद्रोह अपने स्वरूप और अपने भाव में भी भिन्न है। उसके विद्रोह में द्रोह नहीं, उत्सर्ग है; विनाश नहीं, सृष्टि है; मृत्यु नहीं अमरत्व है।

उसका विद्रोह वेष नहीं भाव के विरुद्ध है। मानव के अन्तःस्थ अमानवी भाव के विरुद्ध अन्तर्भूत मानवता का ही विद्रोह है। वेष तो भाव की ही प्रतिच्छाया है। विश्व में जो कुछ दृष्टिगत है वह किसी अमूर्त मूलभाव का प्रतिबिम्ब मात्र है। फिर बाह्य को बदल देने मात्र से समस्या कैसे हल हो सकती है ? उपसर्ग का उपचार और मौलिक विकार की उपेक्षा करना मूर्खता है। छाया को पकड़ने की चेष्टा करना व्यर्थ है। गांधी विद्रोह की कल्पना और प्रक्रिया को इसी कारण मूल तक ले जाता है।

प्रकृत-मानव हृदय में विष और अमृत, अन्धकार और प्रकाश दोनों लिये हुए आविर्भूत हुआ है। दोनों प्रकृति की देन हैं। प्रवृत्ति है तो विवेक भी है, स्वार्थ है तो विसर्जन भी है, जड़ता है तो चैतन्य भी है, पशुता है तो मानवता भी है। मनुष्य की समस्या वास्तव में उसकी ही समस्या है जो उसके ही द्वारा निर्मित और उसके ही अंश से उद्भूत है। उस ग्रन्थि के लिए दूसरे को कारण समझना अज्ञान है। उसे सुलझाने के लिए बाहर साधन ढूँढ़ना भी विशुद्ध भ्रान्ति है।

वह स्वयम् अपने को बाँधता है और स्वयम् ही अपना बन्धन खोल सकता है। प्रकृति ने बाँधने और खोलने के दोनों उपाय उसे प्रदान कर दिये हैं।

आज की दुनिया का वेष विकराल है क्योंकि मानव की पशुता जागरित है और मानवता है सुषुप्त। पशु में प्रवृत्ति है, वासना है, भय है। भय ही हिंसा का प्रवर्तक है। आज के जगत् में वही पशु उठ खड़ा हुआ है। मानव उसी से शासित है। उसमें विवेक नहीं, और पारदर्शिता नहीं, क्योंकि वह विस्मृत है। इस भयावने महिष ने मानवता के अधिकार हर लिये हैं। भ्रष्टराज्य, पराजित मनुष्य उत्पीड़ित है अपने ही हृदयस्थ महिष से, फलतः चतुर्दिक् हिंसा का साम्राज्य स्थापित है। निर्दलन, पराधीनता और शोषण में ही वह हिंसा प्रतिमूर्त हो रही है।

वस्तुतः यही है वेष संसार का, जो मानव के कृष्णांश का ही प्रमाण है। गांधी का विद्रोह इस मूलगत अव्यवस्था के विरुद्ध है। वह अव्यवस्था तो कहीं बाहर से नहीं वरन् अपने ही आन्तरिक भाव से सम्भूत है। मनुष्य अपने उत्तमांश से, अपनी आत्मा से, अपनी मानवता से शासित हो, और पशुराज्य उलट-पुलट जाय। गांधी के विप्लव का यही लक्ष्य है। यह होगा तब जब बोधलक्षणा, ज्योतिर्मयी अन्तश्चेतना प्रबुद्ध होगी। उसी समय मानव की आभ्यन्तरिक महाशक्ति का उद्बोधन होगा जो धरातल को परिवर्तित कर देगी। गांधी उसी के उद्बोधन में संलग्न है। आज तो प्रवृत्तिस्वरूपा मुंडमालिनी महाकाली चिन्मय किन्तु प्रसुप्त शिव के वक्षःस्थल पर रक्तपूरित खप्पर लिये निरंकुश नर्तन कर रही है। जब तक शिव प्रबुद्ध नहीं होता तब तक यह विभीषिका प्रज्वलित कालाग्नि की भाँति संहार करती रहेगी। उसके जागरण से ही उसका शमन होगा। यही है सच्चा विप्लव जिसका आवाहन गांधी कर रहा है।

इस विप्लव में द्रोह नहीं, रक्त की पिपासा नहीं और उच्छृंखलता का नग्न तांडव भी नहीं। द्रोह, रक्तपान और उच्छृंखलता पशुभाव ही है जिसके लोप के लिए बापू विद्रोही हुआ है। फिर वह स्वयम् उसका आश्रय क्यों और कैसे ग्रहण कर सकता है? पशुता से पशुता का शमन नहीं अपितु मानवता से उसकी पराजय होगी। पाप से पाप का निराकरण भला कैसे हो सकता है? फलतः जगत् की आधुनिक अवस्था और व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत पुंजीभूत पाप की प्रतिमा के विरुद्ध पुण्य का मूर्त प्रतीक बापू अधरों पर हास की रेखा और आँखों में मानवता भी पीड़ा लिये पर्वत की भाँति खड़ा है।

सौभाग्य की बात है कि इस महाक्रान्ति का उदय भारतीय अन्तरिक्ष पर हुआ और हमें मानवता की प्रगति में सहायक होने का गौरव प्राप्त हुआ। इस विप्लव और इस विप्लवी के संमुख जगत् की सारी क्रान्तियाँ थोथी जँचती हैं। कहाँ मिलेगा ऐसा अनोखा विद्रोही? कौन उसकी ऊँचाई पर पहुँच सकता है? उसके प्रत्येक पद-विक्षेप में विप्लव की ध्वनि है। क्षण-क्षण के अंग-विन्यास में क्रान्ति की ही लय और ताल है। वाणी और मौन में विद्रोह का स्वर है। विनाश और निर्माण, विघटन और संघटन, आँधी-सा वेग और समुद्र-सी मर्यादा की समस्त परम्परा लिये हुए साक्षात् क्रान्ति मानों स्वयम् उसके रूप में मूर्तिमान् हुई है। यही कारण है कि आज के पश्चिमी जगत् के समस्त और सांगोपांग विधि-विधान के प्रति उसका विद्रोह है। केवल बाह्य के आडम्बर और दृष्टिगत रूप-रेखा के विरुद्ध ही नहीं, प्रत्युत उसके आभ्यन्तरिक तत्त्व और मौलिक भावों के प्रति भी।

जिन अशुभ, अमंगल और असुन्दर तत्त्वों से आज का मनुष्य शासित और उत्प्रेरित है, जिनकी सत्ता धरित्री को मोह, प्रमाद और मिथ्या दम्भ के, अनाचार, अत्याचार और अहंकार के शोषण,

शासन और स्वार्थ के विकराल विष से तड़पा रही है, उन सबके आमूल उन्मूलन के हेतु विद्रोह की आँधी के रूप में प्रादुर्भूत बापू मानवता के विकास का वह नव स्तर है जहाँ पहुँचने के लिए प्रकृति संकेत कर रही है। भौतिक भावापन्न मनुष्य की आधुनिक तथोक्त सभ्यता की मोहिनी उज्ज्वलता में वह अन्धकार है जो मानवता के टिमटिमाते दीपक को उसी प्रकार विलुप्त करने में समर्थ हुआ है जैसे प्रखर किन्तु क्षणस्थायी पूर्ण चन्द्र की चन्द्रिका ध्रुव नक्षत्रों पर अदृश्यावरण डाल देती है। गांधी की विप्लवात्मक हुंकार उसी उज्ज्वलता के अन्धकार का भेदन करके उस पार देखने का आवाहन करती है। उसके विद्रोह का यही प्रकृत लक्ष्य है। अफ्रीका के वर्ण-भेद में, चंपारन के निलहे गोरों की अर्थ-लिप्सा में, देशी नरेशों की घृणित भोग-लीला में, अंगरेज़ों के साम्राज्यवाद और शोषण में, भारत की पराधीनता में, लक्ष्मी के पुजारी और धन-पशु पूँजीपतियों की अतृप्त लोलुपता में, स्वार्थ के लिए राष्ट्रों के पारस्परिक द्वेष और विनाशसम्भार की साधना में, मानव के अन्तरस्थ वे अमानवीय भाव ही मूल रूप से स्थित थे और हैं जिनका पराभव और लोप हुए बिना विश्व मुक्त न होगा।

गांधी का विद्रोह इन सबके विरुद्ध है, पर उन गोरों, नरेशों और अंगरेज़ों के शरीर के विरुद्ध नहीं है। यह शरीर तो उस भाव के संकेत और उपसर्ग मात्र हैं। सारा दोष आन्तरिक भावों का है जिनका प्रतिरोध और शमन करना ही उपयुक्त उपचार है। यही कारण है कि इस विद्रोह में न द्रोह है, न रक्तपात और न प्रतिहिंसा की ज्वाला। भावना है उस असहाय मनुष्य के कल्याण की जो अपने ही हृदयस्थ किन्तु अदृश्य दानव की चपेट से विताड़ित है। उसकी स्थिति दयनीय है क्योंकि वह बलात् आकृष्ट है। जो दया का पात्र है उससे

द्रोह कैसा ? उसकी तो सेवा और सहायता करनी है। उसमें उस शक्ति, स्फूर्ति तथा प्रेरणा का संचार करना है जो उसकी उज्ज्वल मानवता को उद्बुद्ध कर दे। उसके उद्बोधन से ही त्रिदोषाच्छन्न मानव का सन्निपात नष्ट होगा और वह होगा भयानक रोग से मुक्त। उसी समय अन्धकार की सत्ता के विरुद्ध हुआ विद्रोह सफल होगा। उसका शासन मिटेगा और प्रकाश तथा सत्य-सौन्दर्य की पताका फहरायेगी।

इसी कारण मैं कहता हूँ कि उसके विद्रोह की सीमा संकुचित नहीं है। उसकी क्रान्ति जगत् के अभ्युत्थान के लिए है; फिर सीमा संकुचित हो कैसे सकती है ? भारतीय स्वाधीनता का प्रश्न उसके इस महाप्रयोग और इस महती प्रक्रिया का एक अंश मात्र है। विश्वव्यापी अभिनव विप्लव का पथ प्रशस्त करने के लिए और उसके अंकुर के अभिषेचन तथा परिस्फुरण के लिए भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति संजीवन रस का काम देगी। इसलिए बापू बहुधा कहता है कि भारत की स्वतन्त्रता मेरा साध्य नहीं साधन है। जिनकी दृष्टि दूर नहीं जा पाती वे इस वाक्य से भड़क उठते हैं। वे पूछते हैं कि उसे अपना आध्यात्मिक प्रयोग करने के लिए भारत को साधन बनाने का क्या अधिकार है ? वे नहीं समझते कि उसके सम्मुख अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न है कर्तव्य का। वह अधिकार की माँग नहीं कर्तव्य की पूर्ति कर रहा है। विश्व उसका कर्तव्य-क्षेत्र है और भारत विश्व से बाहर नहीं। विश्व की समस्या से भारत की समस्या भिन्न नहीं। अहम् से ऊँचे उठकर जो जीवन की एकता का अनुभव कर रहा हो उसे भारत और विश्व भिन्न कहाँ दिखाई देता है ? भारत के उद्धार में और भारतीय क्रान्ति की सफलता में उसे उस सत्य की विजय दिखाई देती है जिसका प्रयोग वह कर रहा है और जिसके

विकास में जगत् का कल्याण सम्भव प्रतीत होता है। बस, यही है उसकी साधना और यही है उसका कर्तव्य जिसका पालन करने की ओर उसकी महती शक्ति उन्मुख है।

आज ऐसे लोकोत्तर विद्रोही के नेतृत्व में भारतीय जन-समाज संचालित है। ऐसा नेता जो अधिकार की माँग नहीं करता पर कर्तव्य की पूर्ति चाहता है, जिसे स्वयम् किसी से कुछ पाना नहीं है पर मुक्त-हस्त से सबको कुछ न कुछ देना है, यही कारण है कि वह राष्ट्र की आत्मा बन गया है। किसे नसीब होता है ऐसा नेतृत्व? रंचमात्र भी अधिकार न रखते हुए कोटि-कोटि हृदयों पर शासन करनेवाले किसी एक व्यक्ति को ढूँढ़ तो निकालिये। 'शक्ति और सत्ता के उपकरणों से विहीन होते हुए भी करोड़ों के जीवन का आधिपत्य और शासन करनेवाले को कहीं खोजिये तो सही। जिसके एक-एक इंगित पर व्यक्तियों के ही नहीं अपितु सारे राष्ट्र के जीवनोदधि में ज्वार और भाटा उत्पन्न हो जाता हो, विक्षोभ और स्थिरता आ जाती हो वैसा नेता अवनी के अंचल में मिलना दुर्लभ है। नेतृत्व के गुण भी उसके वैसे ही अलौकिक हैं। राष्ट्र की नाड़ी परखने में उसे असाधारण सफलता प्राप्त है। देश की मुद्रा कब क्या है, उसकी मनःस्थिति तथा गति कैसी और किधर है, इसका पता जैसा उसे होता है वैसा और किसी को नहीं होता। जब दूसरे नेता चारों ओर जड़ता और मोह देखते हों उस समय उसे राष्ट्र के अन्तर में धधकती ज्वाला दिखाई देती है। वह जान लेता है कि लोकात्मा चाहती क्या है? काल की पुकार में जो राग होता है उसे उसके कान सुन लेते हैं। फिर वह बोल उठता है और उसके मुख से राष्ट्र बोल उठता है।

गत बीस वर्षों में बार-बार उसने अपने इस गुण का परिचय दिया है। सफल नेता परिस्थिति के प्रवाह का दर्शन सूक्ष्म रूप से

करता रहता है। तभी उपयुक्त मुहूर्त पर वह उपयुक्त कदम उठाने में समर्थ होता है। बापू की अन्तर्दृष्टि न जाने किन दिव्य प्रेरणाओं से परिस्थिति की गतिविधि का साक्षात्कार कर लेती है। फिर वह तदनुकूल राष्ट्रीय जीवन की नैया को मोड़ देता है। यही कारण है कि स्थूल और पार्थिव दृष्टि से जो स्थिति बहुधा पराजय की दिखाई देती है वह विजय में परिणत हो जाती है। यही है चमत्कार बापू के नेतृत्व का। सत्य और सौन्दर्य की अक्षरता और अक्षयता पर जिसकी नीति आश्रित हो उसकी पराजय सम्भव ही नहीं है; क्योंकि वैसा होना उस अनन्त नैतिक विधान के ही विरुद्ध है जिसके द्वारा प्रकृति क्रियमाण होती है। यदि असत्य और पशुता की अन्तिम विजय नैसर्गिक नियम के प्रतिकूल है तो गांधी की पराजय भी असम्भव है। यद्यपि पार्थिव दृष्टि से देखनेवाले ऊपरी, क्षणिक और तात्कालिक सफलता-विफलता के भ्रामक दृष्टिकोण से उसे देखते हैं तथापि वे उसे पराजित नहीं पा सकते।

कारण यह है कि दमन और दलन के द्वारा, उपेक्षा और उपहास के द्वारा, दम्भ और दर्प की मदिरा पीकर गांधी को दबाया जा सकता है टाला जा सकता है और तिरस्कृत किया जा सकता है, पर उससे उस सतत संघर्ष की समस्या नहीं सुलझती जिसका प्रतिनिधित्व वह कर रहा है। विकास की गति यदि अकुंठित है तो प्रतिगामिता पर प्रगति की विजय के लिए संघर्ष चलता ही रहेगा। क्षणभर के लिए इस संघर्ष को टाल देने में समर्थ होने का अर्थ यह नहीं है कि सदा के लिए उसे कुचल दिया गया। उसका दबकर उभड़ना अनिवार्य है। वह उभड़ेगा और पूर्व की अपेक्षा अधिक वेग तथा उग्रता से उभड़ेगा। जब तक प्रगति का मार्ग प्रशस्त न हो जाय तब तक यह प्रक्रिया परिचालित रहेगी।

गांधी के नेतृत्व से परिचालित भारत की ओर देखिये। दमन के द्वारा उसे दबानेवाले कब उसकी शक्ति का ह्रास करने में समर्थ हुए? जितने वेग से उन्होंने आघात किया उतनी ही तीव्र उसकी प्रतिक्रिया हुई। प्रत्येक आघात के बाद देश अधिक बलशील हुआ। दूसरी ओर घातक की शक्ति क्रमशः क्षीण होती गई। आज भारत के मस्तक पर बैठी हुई विदेशी सत्ता उत्कट रुद्र रूप रखते हुए भी अपने पैरों पर स्वयम् ही काँप रही है। पराजय किसकी हो रही है? आगे बढ़नेवाले की या पीछे हटनेवाले की? बापू के नेतृत्व की यही विशेषता है। उसमें पराजय नहीं, प्रतिक्रिया नहीं, प्रतिगामिता नहीं। वह तो विकास की अनन्त गति के साथ है। प्रगति और एक मात्र प्रगति ही उसका स्वभाव है। धक्के मारकर उसकी गति का अवरोधन करनेवाले यदि क्षण भर के लिऐ उसे एक पग पीछे ढकेल देते हैं तो दूने वेग से वह बीच की मंजिल तय करती है।

सुनते हैं और बार-बार सुनते हैं उन लोगों की बात जो कहते हैं कि गांधी का नेतृत्व प्रतिगामी है। आश्चर्य होता है ऐसे लोगों की बुद्धि पर। किन्तु उन्हें दोष भी नहीं देता, क्योंकि वे अज्ञान के वशीभूत होकर प्रलाप करते हैं। विचारे जानते ही नहीं कि प्रगति कहते किसे हैं। और किसमें है प्रतिगामिता? किसी को कहते सुन लिया, अथवा किसी पुस्तक के पृष्ठ पर पढ़ लिया कि गांधी प्रतिगामी है। बस, उसे प्रतिगामी कहने में ही उन्हें अपनी प्रगतिशीलता दिखाई देने लगी। विचार कीजिये कि प्रगतिशीलता का वास्तविक स्वरूप है क्या? और उसके प्रकाश में देखिये कि गांधी प्रगतिशील है अथवा प्रतिगामी? एक समय रहा होगा जब आदि मनुष्य पर वन्य प्रवृत्तियों की एकमात्र सत्ता स्थापित रही होगी। स्वजात कामनाएँ और उनकी पूर्ति की इच्छा जिस प्रकार पशुजीवन में स्थान रखती हैं उसी प्रकार मनुष्य में भी हैं।

भोगवाद, भोग में रुचि और आसक्ति प्राणिमात्र में समान भाव से रहती हैं। पर वह शुभ क्षण महती प्राकृतिक क्रान्ति का मुहूर्त था, जब मनुष्य ने अनुभव किया कि उसके हृदय में किसी दूसरी शुभ्र-ज्योति का भी निवास है। न जाने किसकी प्रेरणा से उसने उक्त आलोक से आलोकित जीवन-पथ ग्रहण किया। उसका विवेक वहीं से साथी हुआ। सजात प्रवृत्तियाँ साथ ही लगी हुई थीं पर विवेक उस अन्धे की लकड़ी था। जीवन-यात्रा में वह उसी के सहारे बढ़ा। महती-बलवती प्रवृत्तियाँ दृढ़तापूर्वक पीछे घसीटने की चेष्टा करती रहीं पर विवेक के सहारे उनसे संघर्ष करता हुआ यह अभिनव प्राणी पग पग बढ़ता गया। निस्सन्देह उसने ठोकर खायी, गिरा, गति का अवरोधन हुआ पर वह पुनः उठा, हृदय में आशा लेकर उठा और आगे बढ़ा।

युग-युग की उसकी इसी साधना की प्रतिच्छाया संस्कृति के इतिहास में प्रदर्शित है। यही है उसकी प्रगति। जीवन पशुभाव से मानवीय स्तर की ओर, उच्च से उच्चतर धरातल की ओर बढ़ता चला जाय। विकास का यही प्रकृत स्वरूप है और जीवन का उस दिशा की ओर अभिमुख होना तथा उसका बढ़ाव ही प्रगति है। आज जिसे प्रगति कहते हैं उसमें प्रगति की गन्ध भी कहाँ है? इन्द्रियों की पूजा और अहम् की परितृप्ति, इच्छाओं की पूर्ति और कामनाओं की क्रीड़ा, व्यक्तिगत और वर्गमूलक स्वार्थों का साधन ही तो आज की सभ्य दुनिया के जीवन का साध्य रह गया है। भौतिक भोगों के प्रति राग की परिधि से बाहर जीवन की कोई उपयोगिता नहीं रही। जगत्, समाज और समाज की सारी व्यवस्था की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता की कसौटी क्या रह गयी? क्या रह गयी जीवन की उपयोगिता? एक-मात्र यह दृष्टि कि इच्छाओं की पूर्ति में कौन कितना सहायक है?

इस चाह की पूर्ति में जो जितना अधिक सहायक हो उसे अपनाने में उतनी ही प्रगतिशीलता रह गयी।

वासना की अग्नि प्रज्वलित करके मनुष्य प्रगतिशीलता का दम्भ रचता है और भूल जाता है कि एकमात्र अपनी तृप्ति की कामना वह पशुभाव है जिसके संयमन और संतुलन से मानवता उद्भूत हुई है। मानव की गति को पुनः उसी ओर मोड़ना प्रगति नहीं अधोगति है। उसी का परिणाम है जगत् की वर्तमान दुर्गति। गांधी मनुष्य की इस गति को रोककर उसे ऊर्ध्व की ओर मोड़ने में सचेष्ट है। फिर प्रगतिशील कौन हुआ? वह जो अधोमुख है और जिसका शतमुख विनिपात हो रहा है, अथवा वह जो ऊर्ध्वाभिमुख है?

आज बापू ऐतिहासिक-प्रगतिशीलता का प्रतीक है क्योंकि उसकी वाणी में मानव का सात्त्विक भाव बोलता है। यद्यपि उसमें भाषण-कला नहीं, वाग्जाल नहीं, व्याख्याता का अभिनय नहीं, फिर भी उसके शब्द मन-मन भर का बोझ लिये हृदय पर गिरते हैं। उनकी चोट की उपेक्षा कौन कर सकता है? हम सुनते हैं, स्पन्दित हो उठते हैं और आपादमस्तक सिहर जाते हैं। हमारा सत्त्व जैसे जाग उठता है। दृष्टि की धूमिलता छिन्न-भिन्न हो जाती है और उत्ताल तरंगें जीवन को आलोड़ित करने लगती हैं। सुनते हैं कि मोहन की मुरली गोप-बालाओं को उन्मत्त कर देती थी, पर गांधी की वाणी लाखों, करोड़ों के जीवन को जगा देती है। उसकी लेखनी से प्रभावित भावगंगा न जाने कितने मोहाकुल प्राणों की मूर्च्छा भंग कर देती है। आखिर उसकीइस शक्ति का स्रोत क्या है?

बापू के जीवन का वह अंश प्रबुद्ध है जो प्रगति की नैसर्गिक धारा में अवगाहन करता है। वह मनुष्य के विकासोन्मुख भाव का स्पर्श करता है और हृत्तन्त्री को झंकृत कर देता है। यही है उसकी

शक्ति का रहस्य। वह न केवल विद्रोही है, न केवल वक्ता और न केवल नेता, प्रत्युत वह चतुर राजनीतिज्ञ के रूप में भी हमारे सामने उपस्थित होता है। निस्सन्देह उसकी राजनीति भी अन्य बातों की तरह अभिनव है। उसके जीवन में न कोई कुटिलता है और न रंचमात्र जटिलता। वह स्वच्छ और सरल है जिसमें कोई दाँव-पेंच नहीं, पर यह सब होते हुए भी वह चतुर राजनीतिज्ञ है। ऐसा चतुर जिससे बात करने में विलिंगटन घबड़ाते थे. स्मट्स मोहित हो गये और क्रिप्स हो गये अवाक्। रूस में ब्रिटिश सरकार का सफल दौत्य करने के बाद वे भारत आये और जाते हुए कहते गये कि गांधी से पार पाना दुरूह है। क्रिप्स-योजना की समीक्षा और परीक्षा तथा विवेचना करने में, उसे कसौटी पर कसकर खरे-खोटे की जाँच करने में कांग्रेस कार्यसमिति को १५ दिन लग गये पर गांधी ने सर स्टेफर्ड से बातें करते हुए कुछ घंटों में ही समस्त प्रस्ताव समझ लिया और उसे निकम्मा कहकर ठुकरा दिया। निर्णय प्रदान करते हुए उसे न रंचमात्र हिचक हुई और न रत्तीभर सन्देह। अन्ततः सारा देश सप्ताहों की अवधि समाप्त करके उसी निर्णय पर पहुँचा।

बापू के राजनीतिक कौशल में न किसी प्रकार का छल है न छन्द। वह प्रवंचक नहीं है। उसकी दृष्टि स्वच्छ और बुद्धि परिष्कृत है। उसके पास एक ही कसौटी है जिस पर वह सबकी जाँच करता है। वह अन्तस् पर अन्तस्तल को कसता है और देखता है हृदय को तथा हृदयगत भावों को। शासकों के हृदय में यदि स्वार्थ और पाखंड है तो वे अपने प्रस्तावों को शब्दाडम्बरों से कितना भी आवृत क्यों न करें बापू के सम्मुख उनकी पोल खुल जाती है। वह वहीं उन्हें दबोच लेता है। दोषी हृदय सहम जाता है, छल और तर्क कुंठित हो जाते हैं। लार्ड विलिंगटन बापू को समझते थे और

इसी कारण उन्हें उनके सामने आकर बात भी करने का साहस न हुआ।

बहुधा अंगरेज तथा अन्य विदेशी विचारक एवं पत्रकार उसे समझ नहीं पाते। कुछ उसे महात्मा के रूप में धूर्त समझते हैं और कुछ रहस्यमय व्यक्ति कहकर सन्तोष कर लेते हैं। धूर्त इसलिए समझते हैं कि धूर्तों की धूर्तता उसके सामने टिक नहीं पाती। टिके कैसे? जो किसी का प्रवंचन नहीं करता उसका प्रवंचन कोई कैसे कर सकता है? प्रयोजन के सम्बन्ध में, लक्ष्य के सम्बन्ध में, साधन के सम्बन्ध में और अपने मार्ग के सम्बन्ध में जिसकी दृष्टि स्पष्ट है, जो जानता है कि क्या है और क्या होना चाहिए उसे बहलाकर फुसला लेना कठिन होता है। प्रकाश के सामने अन्धकार का अभाव अवश्यंभावी है। कुटिल पर अधिक सफल और पटु कुटिल विजय पा सकता है पर सीधी रेखा में वृत्त का समावेश होना सर्वथा असम्भव है। बापू में तर्क न हो पर अनुभूति है, बुद्धि न हो पर अन्तर्दृष्टि है। वह वस्तुस्थिति का पूर्ण दर्शन कर लेता है अतः उसे भ्रम में डालने की सामर्थ्य किसी में नहीं हो सकती है। यही है उसका राजनीतिक कौशल।

बापू के व्यक्तित्व को अनेक रूपों में देखा पर उसका एक पहलू इतना विशाल है कि दृष्टि पूर्ण रूप से उसे अपनी परिधि में समेटकर उसका दर्शन नहीं कर पाती। उस पहलू के सम्बन्ध में सम्प्रति दो शब्द कहना अनुचित न होगा। बापू मानव है—महामानव है। इस जगत् में मनुष्य अनन्त भावों का बोझ लिये अवतरित हुआ है। यदि मनुष्य जड़ होता तो उसका जीवन सरल होता और समस्याएँ भी नगण्य होतीं पर किसी अज्ञात विधान ने उसके श्वास-प्रश्वास में चेतना भर दी है। वह अनुभूति का पुतला हो गया है। पर अनुभूति

भी केवल मनुष्य की ही विशेषता नहीं है। मानवेतर भी अनुभूति का आस्वादन करते हैं। अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति पशु-पक्षी में भी होती है। दुःख से उत्पीड़ित, सुख से उत्फुल्ल, वैभव से विस्मृत और अभाव से तप्त होना सभी जानते हैं। फिर मानव की हृदयानुभूति में ही कौन-सी विशेषता रही ?

पर विशेषता है और वह है मनुष्य के विस्तार में। उसमें केवल अनुभूति नहीं सहानुभूति भी है। पशु दूसरे पशु की पीड़ा का अनुभव कदाचित् नहीं कर पाता, पर मनुष्य में अपनी वेदना के साथ समवेदना भी है। यद्यपि अहम् की अनुभूति और पार्थक्य का आभास अपेक्षाकृत उसमें अधिक विकसित है तथापि दूसरे के रोदन से मानव-नेत्र आर्द्र और हृदय द्रवित हो जाता है। मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है। उसमें जहाँ अहम् का बोध है, वहीं उसकी परिधि से परे जाना भी उसका स्वभाव है। उसकी आत्मा में ये दोनों पहलू सहज भाव से सन्निहित हैं। सहानुभूति और समवेदनशीलता के मूल में उसकी यही विस्तृति सन्निविष्ट है। अपने से भिन्न पदार्थ की सत्ता देखते हुए भी वह यदा कदा अपने को भूलकर क्षण मात्र के लिए दृश्य से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसी समय उसे दूसरे की पीड़ा का अनुभव भी अपनी वेदना की भाँति होता है। पल भर के लिए भी अहम् का यह तिरोभाव मनुष्य को विकास के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित प्राणी का पद प्रदान करता है।

यह सच है कि अहम् के सतत बोध से आबद्ध मनुष्य सदा अपने दुःख-सुख से ही आँखमिचौनी किया करता है। उसकी अनुभूतियाँ अपने तक ही परिमित रहती हैं। पर जब कभी वह अपने इस पार्थिव बन्धन से निकलकर अपने चित् स्वरूप से विराट् में अपना लय कर देता है उस समय उसका हृदय मुक्त हो जाता है। यद्यपि उसकी

यह स्थिति अत्यन्त क्षणिक होती है तथापि उसके जीवन की सार्थकता वस्तुतः उसी मुहूर्त में भरी रहती है। जीवन की सारी सुन्दरता और रस तथा सप्रयोजनता उसी में परिलक्षित हो जाती हैं। उस स्थिति को प्राप्त करना मनुष्यत्व की साधना रही है जिसमें यह प्राणी चिरकाल से रत है।

बापू मानव की उसी साधना का चरम रूप है। उसका विशाल और विनिर्मुक्त हृदय समवेदना का वह असीम सागर है जिसमें उसने अहम् की सत्ता निमग्न कर दी है। बापू केवल मृण्मय मूर्ति नहीं प्रत्युत विशुद्ध अनुभूति की सजीव प्रतिमा भी है, जिसने अपनी सत्ता मिटाकर हृदय की मुक्ति उपार्जित की है। उसमें उस 'सत्त्व' का परम विकास दिखाई पड़ता है जो समस्त व्यक्त सत्ता के साथ तादात्म्य की अनुभूति कराकर हृदय के विस्तार को असीम बना देता है। उस 'सत्त्व' का विकास जीवन और जगत्, द्रष्टा और हृदय, दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय करके जब एकात्मक रस और अद्वैत भाव का सर्जन कर देता है, तब ही मनुष्यता पूर्णता प्राप्त करती है। बापू उसी भाव-लोक तथा उसी रसदशा और उसी अनुभूतिक्षेत्र में पहुँचा हुआ महामानव है।

इसी लिए उसके नेत्रों में विश्व की वेदना झलकती है। मानवता के उत्पीड़न से वह कराह उठता है। बुभुक्षित नर-कंकालों की क्षुधाग्नि में वह स्वयं जलने लगता है। असहायों के अपमान, निर्दलन, शोषण और प्रतारण से उसकी आत्मा आमूल विकम्पित हो उठती है। ऐसा होना उसका स्वभाव है; क्योंकि नर में उसे नारायण की सत्ता दिखाई देती है। उसे काले-गोरे, भारतीय-अभारतीय, बड़े-छोटे या ऊँच-नीच के भेद-भाव में आस्था नहीं। उसकी दृष्टि में ये सारी विभिन्नताएँ किसी एक ही अभिन्न सत्ता में समाविष्ट हैं। "यो मां पश्यति सर्वत्र,

सर्वं च मयि पश्यति" उसकी दृष्टिधारा है। "लोकास्समस्ताः सुखिनो भवन्तु" और "मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्" उसकी आत्मा की आतुर गुहार है। यही कारण है कि विश्व में लय-भूत बापू का श्वास-प्रश्वास वसुधा की आहों से संतप्त है।

उत्पीड़क का वह विरोध करता है, पर व्यक्ति का नहीं उसके भाव का। उस मिथ्या भाव और अहंभाव का विरोध करता है जो मानव को मानव की साधना से विमुख करता है। उत्पीड़क भ्रान्त है अतः उसकी दया के क्षेत्र में है। बापू को उसके प्रति न द्वेष है, न प्रति-हिंसा, यद्यपि उसके भाव का तिरोभाव उसे अवश्य अपेक्षित है। वह चाहता है कि धरणी मनुष्य की अमानवता से मुक्त हो और मनुष्य हो लक्ष्यारूढ़। करुणा की इस मधुर अनुभूति की अभिव्यक्ति उसके रोम-प्रतिरोम से हो रही है। उसकी वाणी में, उसके कार्य में, एक-एक इंगित में, श्वासों की लहरी में उसी की अभिव्यक्ति है। उसकी अहिंसा और उसके उत्सर्ग में. उसके अपरिग्रह और अस्वाद में, उसकी अर्द्ध-नग्न काया और विरक्ति में वही अनुभव व्यक्त है। अनुभूति की अभि-व्यक्ति ही तो काव्य का रूप धारण करती है। बापू का सारा जीवन ही काव्य है और वह स्वयम् मूर्त कवि है।

पर उसकी कविता केवल कल्पनाकाश तक ही परिमित नहीं है। वह उसकी प्रतिष्ठा जीवन में, जीवन के प्रवाह में करता है। उसकी यह साधना कठोर और जटिल है, पर बाधाएँ उसे कब विचलित कर पाती हैं? बाधा वहाँ सफल होती है जहाँ दृष्टि पर अज्ञान और मोह का व्यवधान पड़ा हो। जिसने जीवन के प्रकृत रूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो उसके वाक्यों से और उसके मूल से परिचित है वह कैसे रुक सकता है? सत्य की ओर तो उसकी स्वाभाविक गति होगी ही। उसका अवरोधन करने की चेष्टा कोई कितनी भी क्यों न करे; दमन

और दुराग्रह से, क्रोध और कृपणता से, निष्ठुरता और निरंकुशता से, पर वह है ऐसा मनीषी जो सत्य के आलोक में बढ़ता चलता है, परिणाम चाहे कुछ ही क्यों न हो।

यह न समझियेगा कि उसके हृदय में साधारण मनुष्य की भावतन्त्री का स्पन्दन नहीं है। वह वात्सल्यभाव-पूरित पिता है, प्रेमी पति है, भावुक मित्र है और उत्तरदायी अभिभावक है। सेगाँव के कुटीरवासी उसके वैयक्तिक स्नेह से अभिषिक्त होते हैं। महती राष्ट्रीय समस्याओं की विवेचना में संलग्न रहते हुए भी बापू अपनी इस मानवीय भावुकता की पूर्ति करता रहता है। पति-पत्नी के झगड़े, आश्रमवासियों की खटपट और प्रत्येक के हृदय की गुह्य ग्रन्थि सुलझाने में वह उसी उत्साह और संकल्प से लग जाता है, जैसे भारतीय राष्ट्रीय संग्राम का संचालन करते समय। अपने आश्रितों की सेवा-सुश्रूषा, रोगोपचार और योग-क्षेम की चिन्ता करते हुए वह किसी परमासक्त गृहस्थ से कम दिखाई नहीं देता। किसी की तुच्छ से तुच्छ कौटुम्बिक या व्यक्तिगत समस्या को सुलझाने में घंटों समय लगाते उसे ग्लानि नहीं होती। यह सब करते हुए भी वह अनासक्त है; क्योंकि उसकी समस्त वृत्तियों का लय जीवन के उस तात्त्विक स्वरूप में हो गया है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य 'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति' का वरदान प्राप्त करता है। मनुष्य के लिए आसक्ति का शिकार हो जाना सहज है और कदाचित् समाज का परित्याग करके अनासक्ति की साधना के नाम पर पलायन करना भी सरल है; किन्तु महान् है वह मानव जो बन्धन के उपकरणों के मध्य में रहते हुए भी मुक्तावस्था की, हृदय की उस दशा की रक्षा करने में समर्थ होता है।

बापू की मानवता इसी में है। वह आसक्त होते हुए भी अनासक्त है और अनासक्त होते हुए भी आसक्त। विदेहत्व के परम उज्ज्वल

आदर्श की ओर ही उसका अभिगमन हो रहा है। उसके व्यक्तित्व में हम इसी कारण परस्पर विरोधी और विपरीत भावों तथा गुणों का विचित्र सामंजस्य और समन्वय पाते हैं। वह अति निर्मम है और पारिजात-पुष्प से भी अधिक कोमल। जब प्रचंड विद्रोह की ज्वाला भड़काकर जन-मन को विक्षुब्ध कर देता है तब सहस्रों नर-नारियों की बलि और लाखों की तबाही में उसे रंचमात्र भी हिचक नहीं होती। पर वही दलितों के दलन और भूखों की आह का अनुभव कर रोम-प्रतिरोम से मूक रोदन कर उठता है। जगत् के एक भी प्राणी की पीड़ा देखकर उसका विशाल हृदय विदीर्ण हो जाता है। उसका एक भी आश्रित रोग-पीड़ित हो जाय तो विश्राम का विचार छोड़कर रात और दिन एक करके उसकी सेवा में लग जाता है। पर वही अपनी पत्नी के पास चाँदी के कुछ टुकड़ों को देखकर उसकी भर्त्सना सार्वजनिक रूप से कर देता है। अपने पुत्र का परित्याग वैसे ही करने में, जैसे कोई विष को दूर हटावे, क्षणमात्र का विलम्ब नहीं करता।

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को नु विज्ञातुमर्हसि ॥

कल्पना और यथार्थ, आदर्श और व्यवहार, धर्म और राजनीति, विद्रोह और शान्ति, कठोरता और कोमलता, भावुकता और विवेक, राग और विराग का ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण देखने को अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। यह वैपरीत्य उसके सरल जीवन को बहुधा ऐसे विकट और जटिल रूप में उपस्थित कर देता है कि महान् बुद्धिवादी भी इस पहेली को समझने में अशक्त होकर चकित हो जाते हैं।

बापू के व्यक्तित्व में विरोध और वैपरीत्य का यह अनोखा संतुलन उसे मानवता के उच्च स्तर का प्राणी बना देता है। जीवन के इस संतुलन पर ही मानवता आश्रित है। संतुलन यदि सजीव और

प्रभावकर होता है तो जगत् के अन्तर्भूत द्वन्द्वों में समबुद्धि और समभाव का विकास करने में समर्थ होता है। यही 'समत्व' योग है। योगस्थ व्यक्ति का जीवन, मन और बुद्धि फिर बन्धनों से छूटकर मुक्त दशा का उपभोग करने लगता है। मनुष्य मुक्त होता है अपने ही बन्धन से, अपने ही अज्ञान और मोह से। यही तो आवरण है, जो जीवन और जगत् के आदर्श को, सत्य को आच्छन्न करके मनुष्य को विमोहित और पथभ्रष्ट अतएव विकल बना देता है। मनुष्य की साधना और पूर्णता इसी संतुलन में है। भारतीय कवियों की मानवता-सम्बन्धी, जीवन की पूर्णता विषयक कल्पना यही थी, जिसका सम्यक् चित्रण कृष्ण के चरित्र में हुआ है। गीता उक्त संतुलन की व्याख्या है, जिसके आलोक में पूर्णता के उत्तुंग शिखर की ओर गांधी अभियान कर रहा है। इसी कारण हम उसे महामानव के रूप में पाते हैं।

बहुधा लोग उसकी तुलना मानव-विकास के इतिहास की कुछ विश्व-वन्द्य और पूजनीय विभूतियों से करने की चेष्टा करते हैं, पर मैं समझता हूँ कि मुझ जैसे अपूर्ण और धरती के प्राणी के लिए ऐसा करने का साहस भी विशुद्ध दम्भ और उच्छृंखलता का द्योतक होगा। बुद्ध में मानव की पुंजीभूत उज्ज्वलता का जो उद्बोध हुआ था, उसे तोलने की चेष्टा मैं कैसे कर सकता हूँ? ईसा में सृष्टि की समस्त मधुरिमा का, भक्ति और करुणा की तटहीन धारा के रूप में जो अविरल प्रवाह बहा था, वह क्या कभी और किसी प्रकार मापा जा सकता है? शंकर में बुद्धि और आन्तरिक चेतना जिस महिमा-मंडित सजीव रूप में उदीयमान हुई थी, उसकी आलोकमयी विशालता की कल्पना करना भी क्या किसी के लिए सम्भव हो सकता है? फिर बापू को लेकर उनसे तुलना करने के लिए अग्रसर होना मेरे लिए घृणित धृष्टता का परिचायक होने के सिवा और क्या होगा?

पर इतना कहने का साहस कर सकता हूँ कि उन विश्ववन्द्य व्यक्तित्वों में कदाचित् देवत्व का उदय हुआ था पर बापू में भी महती मानवता अपने परम विकसित रूप में विराजमान है। मेरे लिए यदि उनकी महत्ता को मापने की कल्पना भी अकल्पित है तो बापू की सम्पूर्णता के दर्शन करना भी दृष्टि की पहुँच के बाहर है। यदि उनकी उच्चता के निम्न स्तर का स्पर्श करना शक्ति की सीमा से परे है तो इसकी विशालता को संकुचित दृष्टि की परिधि में समेटना भी सम्भव नहीं है। फिर भला परस्पर तुलना कैसे कर सकता हूँ ?

फलतः तुलना करने की बात जहाँ की तहाँ छोड़कर केवल उसे देखने की चेष्टा कर सकता हूँ और उसके परिणाम-स्वरूप यह पाता हूँ कि उसके व्यक्तित्व के एक नहीं अनेक पहलू हैं। सभी इतने उत्तुंग और इतने अलौकिक कि असीम आकाश का स्पर्श करते हुए दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। एक-एक को अलग-अलग लेकर देखने की चेष्टा कीजिये तो भी उन्हें उनकी पूर्णता में देखना कठिन होता है। किसी पर्वत की उपत्यका में खड़े होकर उसकी विशालता का पूर्ण दर्शन नहीं किया जा सकता। बहुधा अति निकटता भी प्रचंड दूरी का सर्जन कर देती है। नहीं कह सकता पर कदाचित् अति सान्निध्य दृष्टि पर परदा डाल देता है। सम्भवतः यही कारण है कि मनुष्य अपनी अन्तःस्थ आत्मा को, जो उसके इतने निकट है, देख नहीं पाता। शायद यही कारण है कि जगत् के रहस्य में घुसने का दावा करनेवाले मनुष्य के लिए उसका अपना ही जीवन सबसे अधिक अज्ञात, गुह्य और रहस्यमय रह गया।

बापू भी आज हमारे अति निकट है। वह दृष्टि के सामने है। हमारे जीवन पर, हमारे विचारों पर, हमारी बुद्धि और दृष्टि पर, हमारे संस्कार और समाज पर, हमारी राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक

धारणा पर वह छा सा गया है। शायद इस निकटता राथों में गयी, की, अविद्या-पर्यवेक्षण की, उस परिसीमता की सृष्टि कर क्षनोन्मुख हमें उसे पूर्ण रूप से देखने में असमर्थ बना रही है। फलतः भूगल व्यक्तित्व की पूरी रूप-रेखा चित्रित कर देना सुगम नहीं रहा फिर भा उसकी विशालता की झलक तो मिल ही जाती है। उसके आधार पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि वह महान् है, उसका व्यक्तित्व विशाल है, उसके व्यक्तित्व के अनेक पहलू हैं और उसमें मानवता के अगाध गुणों का गहरा समावेश है। वह ऐसा है जिसकी मिसाल मानवता के इतिहास में शायद ही मिले और यदि मिलेगी तो सहस्राब्दियों के पन्ने उलटने पर कहीं एक, दो। हमारे लिए यह किसी वरदान से कम नहीं है कि हम उस ऐतिहासिक युग-पुरुष के समकालीन हैं जो मानवसंस्कृति की धारा की उत्ताल तरंग है और जिसकी एक-एक हिलोर से मानव-इतिहास के नये अध्याय का निर्माण हो रहा है।

भारत को बापू की देन

(१)

भारत का पतन और अंगरेजों का आगमन

बापू का व्यक्तित्व-दर्शन कर चुका पर भारतीय जीवन में उनका जो स्थान है और भारत को उनसे जो प्राप्त हुआ है उसका दर्शन करने के लिए अतीत के अंचल पर एक दृष्टि डालनी होगी। भारतीय इतिहास पर आप दृष्टिपात करें तो यह देखेंगे कि हमारा यह देश ऐतिहासिक युग के अति आरम्भिक काल से ही विदेशी जातियों और विदेशी शक्तियों के सम्पर्क में आता रहा है। ईसा से सहस्राब्दियों पूर्व भारत का सम्बन्ध दूसरे देशों से स्थापित होने के प्रमाण मिलते हैं। ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व फारस और यूनान के विजेता इस देश में आ चुके थे। उसके बाद भी अनेक जातियाँ समय-समय पर भारत की ओर आकृष्ट होती रहीं। वे इस देश की सीमा में प्रवेश करतीं, शासन करतीं, बसतीं, यहाँ की संस्कृति से दीक्षित होकर भारतीय बनतीं और घुलती-मिलती रही हैं। विदेशियों के प्रवेश की यह परम्परा जो हजारों वर्ष पूर्व आरम्भ हुई थी आधुनिक युग तक चली आयी है।

अंगरेज कैसे आये, किस प्रकार भारत की शिखा उनके हाथों में गयी, किस प्रकार यहाँ की तत्कालीन अराजक, अव्यवस्थित और पतनोन्मुख परिस्थिति ने उनकी सहायता की, किस प्रकार उद्ध्वस्त होते मुगल साम्राज्य के खँडहरों की सफाई करके उन्होंने अपने शासन की स्थापना की आदि बातें आधुनिक इतिहास की घटना हैं जिन पर विस्तार से लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कहना केवल इतना है कि अंगरेजों का चरण प्रायः दो शताब्दी पूर्व भारतीय भूमि के वक्षस्थल पर जमकर बैठ गया। यह घटना भारत के इतिहास को अभूतपूर्व ढंग से प्रभावित करनेवाली थी। अंगरेजों का आगमन कोई साधारण राजनीतिक घटना नहीं थी। उसे किसी विजेता का साधारण आक्रमण भी न समझियेगा। वह घटना ऐसी थी जो न केवल भारत को प्रत्युत जगत् के भविष्य को प्रभावित करनेवाली थी। विश्व के इतिहास में होनेवाले युग-परिवर्तन की सूचना थी। वह संकेत था इस बात का कि मानव-समज के जीवन का प्रवाह अब एक नयी दिशा पकड़ रहा है। चौदहवीं सदी से यूरप में एक नये युग का उदय हो चला था। पश्चिमी यूरप की जातियाँ विशेष रूप में नयी चेतना, नयी आभा, नयी दृष्टि और ज्ञान-विज्ञान के नये प्रकाश से प्रभावित होने लगी थीं। उनमें एक प्रकार का स्पन्दन था, एक प्रकार की गतिशीलता थी और एक प्रकार की उत्प्रेरणा थी। यूरप अन्धकार-युग से बाहर हो रहा था। उसमें जिज्ञासा थी, साहस था और उठ खड़े होने की सामर्थ्य थी। अन्धकार-युगीन रूढ़ियों, परम्पराओं और अंधविश्वासों के बन्धन छिन्न-भिन्न होने लगे थे, बुद्धि और विवेक उनका स्थान ग्रहण करने लगा था। और नव कल्पनाओं तथा नवादर्शों से अनुप्राणित जीवन विकसित होने लगा था। इस प्रकार धरती के उस कोने में वस्तुतः नये सांस्कृतिक युग का प्रवर्तन होने जा रहा था।

नयी दृष्टि, नयी प्रेरणा और जीवन तथा जगत् के सम्बन्ध में नयी कल्पना स्वभावतः यूरोपियन जातियों को स्फूर्ति प्रदान करने का कारण हुई। जीवनधारा में उठी यह प्रचंड हिलोर उन्हें अपनी भौगोलिक सीमा से बाहर करने में समर्थ हुई। कुछ जिज्ञासा के वशीभूत होकर, कुछ धन कमाने के लिए, कुछ व्यापार करके मालामाल होने की नीयत से यूरप के लोग नये नये भौगोलिक प्रदेशों की खोज में निकल पड़े। किसी देश के साहसी पर्यटक ने अमेरिका का पता लगाया तो किसी ने अफ्रीका का और किसी ने एशिया तथा आस्ट्रेलिया का। महोदधि की अनन्त जलराशि तथा भयावने कष्ट और कठिनाइयाँ उनके मार्ग का अवरोधन न कर सकीं। उन बहादुरों ने यूरप को धरती के सुदूर प्रदेशों के सम्पर्क में ला खड़ा किया। सन् १४६८ ई० में वास्कोडिगामा ने इसी प्रकार भारत को भी ढूँढ़ निकाला। भारत का पता पा जाना यूरोपियन देशों के लिए महती विभूति की उपलब्धि थी। यूरप की जातियाँ भारत के नाम से शताब्दियों पूर्व से परिचित थीं। भारत का माल यूरप के देशों में बहुत पहले से जाता रहा है। कुस्तुन्तुनिया उस माल की सबसे बड़ी मंडी थी। यूरप के व्यापारी वहाँ से भारतीय माल खरीद कर इटली के जिनोवा और वेनिस नामक नगरों में ले जाते थे, जहाँ से वह अन्य देशों के बाजारों में जाता था। भारतीय माल का व्यापार करने के कारण जिनोवा और वेनिस उस समय यूरप के सबसे धनी और सम्पन्न नगर हो गये थे। इस नगरों की सम्पत्ति और समृद्धि ने यूरप के अन्य देशों को भारत से व्यापार करने के लिए स्वभावतः लालायित कर दिया था।

ऐसी स्थिति में भारत तक पहुँचने के जलमार्ग का पता लगना यूरोपियन देशों के लिए इष्ट वरदान के तुल्य हुआ। फलतः पोर्तुगीज, डच, अंगरेज, फ्रांसीसी आदि सभी भारत की ओर दौड़ पड़े और

व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में संलग्न हो गये। दशकों तक भारत इन राष्ट्रों की प्रतिद्वन्द्विता का प्रांगण बना रहा। अन्त में अन्य प्रतिस्पर्धियों को पराजित करके अपना अधिकार स्थापित करने में अंगरेज सफल हुए। इधर यह सब हो रहा था और उधर यूरप में जिस सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया आरम्भ हुई थी वह तीव्र वेग से बढ़ती चली गयी। अठारहवीं सदी के मध्य में यूरप में औद्योगिक क्रान्ति हुई। नये वैज्ञानिक ज्ञान के प्रादुर्भाव ने मनुष्य को प्रकृति की शक्तियों पर असाधारण अधिकार प्रदान किया और उत्पादन के नये प्रकार तथा साधनों का प्रजनन किया। औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात भी पहले पहल इंगलैंड में ही हुआ। धीरे धीरे सारे यूरप में उसका प्रभाव बढ़ चला। इंगलैन्ड यद्यपि अब तक अपने भारतीय व्यापार के कारण काफी श्रीसम्पन्न हो गया था तथापि इस नयी घटना, नयी परिस्थिति तथा नयी आवश्यकता ने उसे भारत को राजनीतिक दृष्टि से अपना अधीन प्रदेश बना डालने के लिए बाध्य किया। कच्चे माल की आवश्यकता और यन्त्रों से निर्मित पदार्थों को खपाने के लिए बाजार, दोनों ही अपेक्षित थे; और भारत से ये दोनों स्वार्थ सिद्ध होते थे।

पर अबाध रूप से इस स्वार्थ की सिद्धि तभी संभव थी जब भारत पर ब्रिटेन का राजनीतिक आधिपत्य स्थापित हो। फलतः जिस भारत का अब तक केवल व्यापारिक तथा धार्मिक महत्त्व था वही पश्चिम की इस जाति के लिए राजनीतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हो गया। "आर्थिक हित और आर्थिक लाभ के लिए राजनीतिक सत्ता की स्थापना" यह नीति धीरे धीरे उस साम्राज्यवाद के रूप में व्यक्त हुई जिससे जगत् के अनेक देश उत्पीड़ित हैं। भारत आरम्भ में ही उसका शिकार हुआ और आर्थिक शोषण तथा राजनीतिक पराधीनता की विभीषिका उसके गले पड़ी। पर जैसा कहा जा चुका है, भारत की यह

पराधीनता अंगरेजों की साधारण राजनीतिक विजय मात्र नहीं थी। उसके पीछे पश्चिम में उदीयमान उस सांस्कृतिक युग की भावना काम कर रही थी जिससे सारी धरित्री प्रभावित होनेवाली थी। यूरप में नयी प्रतिभा, नयी शक्ति और नयी स्फूर्ति उत्पन्न हुई थी। नयी आवश्यकताओं और कल्पनाओं ने उसमें जान भर दी थी। विज्ञान ने जीवन, समाज तथा जगत् के प्रति, मानव-शक्ति तथा प्रकृति के प्रति नयी धारणा तथा दृष्टि का निर्माण कर दिया था। यह सच है कि पश्चिमी जातियाँ आर्थिक हित को लेकर भूमंडल के सुदूर-प्रदेशों के सम्पर्क में आयीं। यह भी सच है कि राजनीतिक अधिकार की स्थापना का उनका प्रयत्न आर्थिक साम्राज्यवाद के उदर से उत्पन्न हुआ था तथापि यह मानना होगा कि वे वैज्ञानिक संस्कृति से अनुप्राणित हुई थीं, उसे लेकर चली थीं और उसके सहारे शक्तिशील हुई थीं। उसके आधार पर वे अपने को श्रेष्ठ और सभ्य समझती थीं तथा जगत् की दूसरी अश्वेत जातियों को हेय मानती थीं। उनमें यह भावना थी कि वे मानव-समाज पर शासन करने के लिए अवतरित हुई हैं और राजनीतिक अधिकार स्थापित करके भूमंडल की समस्त अनुन्नत तथा असभ्य जातियों को संस्कृत बनाने के पुनीत कर्तव्य का पालन करेंगी।

स्वयम् साम्राज्यवाद की उत्पत्ति भी उन परिस्थितियों ने की थी जिन्हें विज्ञान की यान्त्रिक सभ्यता ने उत्पन्न कर दिया था। भाप, लोहा, कोयला, आग और विद्युत् की शक्ति, विज्ञान की विजय, उत्पादन तथा गमनागमन के साधनों का अकल्पित उदय, जिस अवस्था और आवश्यकता का निर्माण करने में समर्थ हुआ उसी की पूर्ति साम्राज्यवाद के रूप में हुई। इस प्रकार यूरप में घटी हुई ये घटनाएँ सारी मानव-जाति के इतिहास को दूसरी ओर मोड़ देने का कारण हुईं। भारत पर अंगरेजों का आक्रमण उन्हीं घटनाओं का परिणाम था और इसी

कारण पूर्व के किसी पृष्ठ में यह लिखा गया है कि इस देश में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना उस सांस्कृतिक युग की सूचना थी जो विश्व को एक नया स्वरूप प्रदान करने जा रहा था। इस प्रकार भारत पर अंगरेजों का आक्रमण केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक ही नहीं प्रत्युत महान् सांस्कृतिक आक्रमण भी था। अंगरेजों द्वारा भारत की पराजय भी केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक पराजय नहीं थी। वह आक्रान्त भारत के सांस्कृतिक पराभव की द्योतक भी थी। राजनीतिक दृष्टि से तो भारत इसके पूर्व भी कई बार पराजित हो चुका था पर राजनीतिक पराजय होने के बावजूद सांस्कृतिक दृष्टि से यह देश ही विजयी होता रहा। फ़ारसी, यूनानी, शक, हूण, तातार, मंगोल आदि जातियाँ यहाँ आयीं और बसीं पर धीरे-धीरे इस देश की संस्कृति ने उन्हें घुला-पचा डाला। यह सच है कि यूनान आदि देशों की संस्कृति का भी गहरा प्रभाव भारत पर पड़ा पर भारत की सजीवता और चेतना ने उसे ग्रहण करते हुए भी उस पर भारतीय रंग चढ़ा डाला और इस प्रकार बाहरी तत्त्वों पर भी भारतीय प्रतिभा की कलई कर दी।

पर अंगरेजों के आगमन के समय भारतीय आत्मा के उस ओज का क्षय हो चुका था। भारत पतन के उस बिन्दु पर पहुँच गया था जब उसके राष्ट्र-देह अथवा उसके गतिशील हृदय में इतनी शक्ति नहीं रह गयी थी कि वह प्रविष्ट होनेवाले किसी बाह्य तत्त्व का प्रतिरोध अथवा पाचन कर सकता। भारत के इस ह्रास का सूत्रपात हर्षवर्धन के बाद आरम्भ होनेवाले मध्य युग में ही हो गया था। उस युग पर आप यदि दृष्टिपात करें तो यह देखेंगे कि इस महान् देश की वह प्रतिभा जिसने उपनिषदों को जन्म दिया था, जिसने महती आर्य-संस्कृति का निर्माण किया था, जिसने कपिल और बादरायण, सिद्धार्थ

और महावीर, अशोक और विक्रम की परम्परा स्थापित की थी, जिसने आत्मा की अमरता और जीवन के सूक्ष्म स्वरूप का दर्शन किया था, जिसने उदारता और सहिष्णुता, उन्मुक्त चिन्तन और सत्य के निष्पक्ष अनुशीलन की धारा प्रवाहित की थी, निर्जीव और निष्क्रिय होती दिखाई देती है। जब किसी राष्ट्र की चेतना जड़ीभूत होने लगती है, जब देश में सत्य के निष्पक्ष और स्वतन्त्र दर्शन की प्रवृत्ति तथा साहस का अभाव हो जाता है, जब पूर्वजों की उपार्जित विभूति पर ही जीवित रहने में अपने कर्तव्य की पूर्ति समझी जाने लगती है और जब गतिशील जगत् के साथ चलने में असमर्थ होकर पुरानी व्यवस्थाओं, संस्कारों और रूढ़ियों को ठोस अन्धपरम्परा और कठोर रूढ़ियों का रूप प्रदान किया जाने लगता है और जब इस प्रकार अपने को बन्धन में आबद्ध करके गति-हीन बना दिया जाता है तब राष्ट्रों का उत्थान और विकास कुंठित हो जाता है। ये सब उसके पतन के कारण होते हैं और पतन के ही उपसर्ग भी हैं।

अपने इतिहास के मध्यकाल में भारत ने इसी युग में प्रवेश किया। उसके पतन का प्रमाण उसी समय मिल गया जब इस्लाम के उदय के बाद कुछ विदेशी जातियों ने भारत में प्रवेश किया। उनका सामना भारत क्यों नहीं कर सका ? उस भारत ने जिसने बार-बार अनेक विदेशी जातियों को पचाकर भारतीय बना डाला था अपनी परम्परा के अनुसार इस्लाम को भी क्यों नहीं पचा लिया ? स्पष्ट है कि उसकी असफलता उसके सांस्कृतिक पतन का परिणाम था। इस्लाम के प्रबल सांस्कृतिक आघात से वह भय-ग्रस्त हो गया और भयातुर मनोवृत्ति के वशीभूत होकर स्वभावतः पलायमान हुआ। उसमें यह शक्ति नहीं रह गयी थी कि जो परिस्थिति उत्पन्न हुई है उसका डटकर सामना करता, उसके अनुकूल अपेक्षित परिवर्तन अपनाता, कल्पना, भावना

और दूरदर्शिता से काम लेता तथा समन्वय और संतुलन की प्रक्रिया के द्वारा नयी स्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त करता। वह तो भय से ग्रस्त होकर भाग खड़ा हुआ और अपने बचाव के लिए चारों ओर से अपने को सिकोड़ लेने तथा जकड़ लेने की चेष्टा करने लगा। यदि आप तत्कालीन स्थिति पर दृष्टिपात करें तो भारत में अपना अधिकाधिक संकोच करते जाने का प्रयत्न देखेंगे। संकोच के उस प्रयत्न ने उदारता और सहिष्णुता, साहस और संतुलन के उस गुण का अधिकाधिक लोप कर दिया जो भारत की विशेषता थी। इन्हीं विशेषताओं ने उसे बार-बार सांस्कृतिक विजय प्रदान की थी। इनके अभाव में उसे अपनी रक्षा का एकमात्र उपाय संकोच में दिखाई दिया और संकुचन की प्रवृत्ति ने उपर्युक्त गुणों का क्रमशः विनाश कर डाला। जातपाँत के बन्धन और भेदभाव की कठोरता, खानपान और छुआछूत के रीति-रिवाज, बाहरी आडम्बरों तथा निष्प्राण क्रिया-कलापों को अनावश्यक महत्त्व प्रदान करना उक्त भय की मनोवृत्ति के ही द्योतक थे। जाति और वंश की शुद्धि के सम्बन्ध में अत्यधिक आशंका भी तो भयापन्न मनोवृत्ति का ही परिणाम था। इस डर से कि बाहर से आनेवाला इस्लाम कहीं भारतीयता को निगल न जाय, भारतीयता को चारों ओर से बाँधकर ठोस लौहकन्दुक बना देने की चेष्टा की गयी।

भयाकुल मनःस्थिति में विधायक गतिशीलता नहीं रहती। वह तो पलायनमुखी रहती है। फिर कार्यक्षेत्र में उतरकर रचनात्मक काम कैसे कर सकती है? यदि आपने एक बार भी भय को स्थान दे दिया तो फिर वह चतुर्दिक् भय की ही दीवार खड़ी कर देता है। परिवर्तन से भय, सत्य से भय, गति से भय, जीवन से भय, मृत्यु से भय अर्थात् चारों ओर भय ही का साम्राज्य छा जाता है और भय

मानसिक तथा शारीरिक, चारित्रिक तथा नैतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक निर्बलता का परिचायक होता है। भारत में इस निर्बलता और इस पतन का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो वह इस्लामधर्मावलम्बी जातियों से दलित भी न हुआ होता। यह सच है कि भारतीय पतन को रोकने और उसके उद्धार के लिए बीच-बीच में प्रयत्न हुए। संतों का युग और उनकी चेष्टा, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में मराठों और सिखों तथा बुन्देलों आदि के उत्थान में व्यक्त हुई, पर शताब्दियों से मूर्छित राष्ट्र की प्रसुप्त आत्मा का सम्पूर्ण जागरण नहीं हो पाया। यह सांस्कृतिक पतन इतना गहरा और व्यापक था कि भारत को पराजित करके स्थापित होनेवाला मुस्लिम साम्राज्य और यहाँ बस जानेवाले बाहरी मुसलमान भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे। जब वातावरण और परिस्थिति में क्षयकारी विष घुल-मिल जाता है तो उससे छोटे और बड़े, शासक और शासित सभी विषाक्त हो जाते हैं। मुगलसाम्राज्य भी जो अपने ऐश्वर्य और विस्तार के लिए, अपने बल और अपनी क्षमता के लिए इतिहास-प्रसिद्ध था, समय पाकर निस्तेज और निःसत्त्व हो चला। मुगल शासकों की विलासिता, आलस्य, चरित्र-हीनता तथा मिथ्या दम्भ, उनकी शिथिलता, अदूरदर्शिता और शक्ति-हीनता का कारण हुआ।

फलतः सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के भारतीय समाज को हम भावना-शून्य, चेतना-रहित और गति-हीन पाते हैं। जब कोई राष्ट्र इस प्रकार मोह-निद्रा से ग्रस्त हो जाता है तो उसे अपने पतन का भी ज्ञान नहीं रह जाता। पुराने तथा परिस्थिति के प्रतिकूल पथ पर रेंगते जाने में उसे अपने कर्तव्य की इति दिखाई देती है। जगत् किधर जा रहा है, परिस्थिति किस बात की माँग और अपेक्षा कर रही है, इतिहास का प्रवाह किस ओर है, पुरानी अवस्था और व्यवस्था

किन परिवर्तनों की पुकार कर रही है, चारों ओर की दुनिया का रंग-ढंग कैसा होता जा रहा है आदि बातों की कल्पना करने में भी वह असमर्थ होता है। फलतः तत्कालीन भारतीय समाज यह न देख सका कि वह गिर गया है, उसकी संस्कृति का प्रवाह रुक गया है और उसके नैतिक तथा चारित्रिक बल का क्षय हो गया है। वह यह भी न देख सका कि दुनिया बदल रही है, धरती के किसी सुदूर कोने में नयी शक्ति, नयी चेतना और नयी स्फूर्ति का उदय हो चला है। वह यह भी न देख सका कि काल का प्रवाह नयी दिशा पकड़ चुका है। उसे इसका पता भी न चला कि मानव-समाज के इतिहास में पुनः वह क्षण उपस्थित हो गया है जब संस्कृतियों की टक्कर अनिवार्य है। उसे इसका अनुभव भी न हुआ कि उसके देश की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पुरानी हो चुकी है जो नवोद्भूत ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुकूल नहीं रह गयी। वह यह कल्पना भी न कर सका कि व्यवस्थाओं की भी आयु होती है जो समय पाकर निष्प्राण हो जाती है। उस समय उनके शव से चिपटे रहना स्वयम् अपनी मौत बुलाने का कारण हुआ करता है।

अंगरेज जिस समय भारत में आये उस समय ऐसी ही मोह-रात्रि छायी हुई थी। भारतीय राष्ट्र में ज्ञानदृष्टि की धूमिलता थी, जागरूकता और जिज्ञासा का अभाव था, समय और परिस्थिति की उपेक्षा थी और जगत् के जीवनोदधि में उठनेवाली ऐतिहासिक तरंगों के सम्बन्ध में सर्वथा अज्ञान था। मुगल-साम्राज्य विकम्पित था, सामन्तशाही अपने ही पैरों पर काँप रही थी और सामन्तवादी आर्थिक व्यवस्था उस सड़े-गले राजनीतिक संघटन के भार से चूर हो रही थी जो उसके मस्तक पर लदी हुई थी। जो था वह भरभराकर गिर रहा था पर राष्ट्र में इतनी सूझ और पारदर्शिता तथा सक्रियता

नहीं रह गयी थी कि वह ध्वंसोन्मुख अट्टालिका के स्थान पर आवश्यकता, परिस्थिति और समय के अनुकूल नव निर्माण कर सकता। चारों ओर अव्यवस्था और अराजकता का नृत्य हो रहा था। जिस प्रकार नधे हुए घोड़े रास के टूट जाने पर भड़ककर इधर-उधर भाग निकलते हैं उसी प्रकार भारतीय राष्ट्र का अंगप्रत्यंग संकुचित दृष्टि, वृत्ति और कल्पना के वशीभूत होकर मनमाना बहका चला जा रहा था। पारस्परिक संघर्ष, कलह और अवसरवाद का बोलबाला था। यह स्थिति उद्ध्वस्त होती व्यवस्था से उत्पन्न परिस्थिति को और भी भयावना बना रही थी। इस प्रकार राष्ट्र के सामूहिक और चतुर्दिक् पतन के लक्षण ज्वलन्त रूप से दृष्टिगोचर हो रहे थे।

भारत के इतिहास में उपर्युक्त समय आ गया था जब अंगरेज इस देश में आये। उनके सामने लक्ष्य था, उनमें कल्पना थी, सक्रियता और स्फूर्ति थी तथा अपने भविष्य के निर्माण की आकांक्षा थी। इस देश के लिए वे अग्रदूत थे उस परिस्थिति के जो वसुन्धरा के अंचल में अपना अभिनय करने जा रही थी। फलतः भारतीय इतिहास के विशाल रंगमंच पर वे सूत्रधार होकर अवतीर्ण हुए। भारत की परिस्थिति उनके प्रवेश के अनुकूल थी। उन्होंने देखा कि ध्वंसोन्मुख, विघटितप्राय भारत को दो-चार ठोकरों से ही धराशायी बना देना संभव है और तदन्तर अनुकूल नव व्ययस्था का निर्माण कर लेना भी कठिन न होगा। फलतः कुशल शिल्पी की भाँति वे इस क्रिया को सम्पादित करने में लग गये और इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्हें अपने काम में आशातीत सफलता मिली। बड़ी सावधानी और दूरदर्शिता के साथ वे एक-एक पग आगे बढ़ते गए, चोट के बाद चोट देते गये और गिरे हुए खँडहरों की सफाई करते हुए स्वयम् जमने का प्रबन्ध करते गये।

अठारहवीं शती के मध्य में यूरप से आनेवाली अन्य कोई जाति भारत में उनकी प्रतिस्पर्धा और उनका मुकाबिला करनेवाली नहीं रह गयी। पोर्चगीज, डच, फ्रांसीसी सब के पैर उखड़ चुके थे। प्राय: इसी समय तक अंगरेजों का पैर मद्रास में जम गया था। उसके बाद बिहार और बंगाल ने भी उनकी पताका फहरायी। दक्षिण में उन्हें अनेक लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। हैदरअली और टीपू सुल्तान, महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस तथा अन्य मराठा सरदारों से एक नहीं अनेक टक्करें लेनी पड़ीं। सिराजुद्दौला और मीरकासिम से भी भिड़ना पड़ा। पर एक के बाद दूसरे की शक्ति को विचूर्ण करते हुए, भारतीय सामन्तों और सरदारों के पारस्परिक कलह और ईर्षा से लाभ उठाते हुए, उनकी अदूरदर्शिता और स्वार्थपरता को अपने हित का साधन बनाते हुए ब्रिटिश शक्ति क्रमश: भारत पर अधिकार स्थापित करती गयी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक युग में तो अंगरेजों ने मराठा-साम्राज्य और उसकी शक्ति को अन्तिम रूप से चूर कर डाला। पंजाब में उभड़ती हुई सिख-शक्ति का विघटन भी उसी समय उन्हीं के हाथों हो गया। प्राय: उसी समय सिन्ध का प्रान्त भी उनके हाथों लगा। नैपाल और बर्मा तथा अफगानिस्तान में भी उन्होंने मुठभेड़ की। सन् १८५६ ई० में अवध के इलाके पर भी ब्रिटिश प्रभुता हो गयी। इस प्रकार सौ वर्ष बीतते-बीतते धरती के सुदूर कोने से आनेवाली इस जाति की विजय-वैजयन्ती विशाल भारतीय भू-खंड पर मस्तक ऊँचा किये सगर्व फहराने लगी।

दिल्ली के राजसिंहासन पर अब भी मुगल वंश आसीन था। मराठे और राजपूत, सिख और जाट सभी जीवित थे। मुगल-साम्राज्य के स्तम्भ-स्वरूप प्रान्तों में शासन करनेवाले अभिमानी और वैभव-शाली नवाबों की लड़ी भी मौजूद थी। पर सब के सब शताब्दियों

की अपनी महत्ता और इतिहास, गौरव तथा प्रतिष्ठा को लिए हुए धूल में लोटते दिखाई पड़े। किसी की भुजा में यह सामर्थ्य नहीं थी कि इस बढ़ती हुई शक्ति को कुंठित करती। किसी में इतनी कल्पना और बुद्धि न थी कि सारे देश के बल को संघटित करके उसका मुकाबला करने का आयोजन करता। उक्त कल्पना और बुद्धि की बात तो जाने दीजिए उनमें इतना चरित्रबल और इतनी दूरदर्शिता भी नहीं थी कि एक दूसरे का विनाश करने में विदेशियों की सहायता न करते। फलतः भारत की राजनीतिक सत्ता जो भारतीयों के हाथों में थी देखते-देखते लुप्त हो गयी। विदेश से आयी हुई एक व्यापारी मंडली ने भारत ऐसे विशाल राष्ट्र को अपने चरणों के नीचे धर दबाया। किसी महाराष्ट्र का, जिसका अतीत इतना उज्ज्वल रहा हो, जिसका इतिहास इतना गौरवपूर्ण रहा हो और जिसकी संस्कृति इतनी महती और प्रतिभा-संपन्न रही हो—ऐसा अपमान, ऐसा प्रतारण और ऐसा पराभव वह आश्चर्यजनक घटना है जिसकी मिसाल दुनिया के इतिहास में कम ही मिलेगी। अंगरेजों ने भारत को बड़ी सरलता से जीता। कुछ अपने खड्ग से, कुछ अपनी बुद्धि से, अधिकतर अपनी धूर्तता से पर अधिकतम भारत की मूढ़ता, चरित्रहीनता और नैतिक अधःपात से लाभ उठाकर जीत लिया।

राजनीतिक सत्ता के लोप का प्रभाव देश के आर्थिक जीवन पर पड़ना अनिवार्य था। यह न भूलना चाहिए कि भारत में अंगरेजों का आगमन एक व्यापारी कंपनी के रूप में ही हुआ था। आर्थिक लाभ उठाने तथा व्यापार करने की कामना ने ही उन्हें भारत की ओर अभिप्रेरित किया था। उनकी इस कामना की पूर्ति में भारत की तत्कालीन परिस्थिति अकल्पित और अप्रत्याशित रूप में सहायक हुई। उन्होंने देखा कि इस देश को निरंकुश तथा स्वच्छन्द होकर लूटना

कठिन नहीं है। देश और देश की संपत्ति के स्वामी यदि सोये हुए हों अथवा यदि स्वेच्छापूर्वक अपने भंडार को इसलिए खोल दें कि दूसरे उसे मनमाना लूट लें तो भला कौन मूर्ख होगा जो अवसर से लाभ उठाना न चाहेगा। फलतः अंगरेजों का पैर ज्यों ही जम चला त्यों ही उन्होंने लूट-खसोट की अपनी नीति आरंभ कर दी। जब तक उनका चंचुप्रवेश नहीं हुआ था तब तक अंगरेज भारत का माल विदेश की मंडियों में ले जाकर बेंचते थे और वहाँ के सामान भारतीय बाजारों में पहुँचाते थे। इस व्यापार से वे पर्याप्त मुनाफा कमाते थे और अपने देश को मालामाल कर रहे थे। भारत का मसाला, मोती, बहुमूल्य जवाहरात, रेशम और ढाके की प्रसिद्ध मलमल तथा आबेरवाँ, छींट और अहमदाबादी दुपट्टे, नील तथा हाथीदाँत की बनी चीजें वे यहाँ से ले जाते थे और बाहर से मखमल, काँच के बने सामान और लोहे के औजार तथा अस्त्रशस्त्र लाकर भारत में बेंचते थे।

इस प्रकार अंगरेज भारत तथा विदेशी बाजारों को जोड़नेवाले सूत्र के समान थे। इस व्यापार से यद्यपि इंगलैंड का बड़ा लाभ हो रहा था तथापि भारत की भी कोई आर्थिक क्षति नहीं हो रही थी। पर अठारहवीं शती के मध्य से इस दशा में सहसा परिवर्तन होने लगा। यही युग था जब इस देश में अंगरेजों की अधिकार-सत्ता का उदय हुआ। उत्तर और दक्षिण में इसी युग में उन्हें शासन-सूत्र प्राप्त हुए। इसी समय बिहार, उत्कल और बंगाल की दीवानी अंगरेजों के हाथों में आयी। अवध के इलाके भी उनके पंजे में आ गये। इस प्रकार उत्तर भारत में उनका सामना करनेवाला तथा उनका मार्ग रोकनेवाला कोई नहीं रह गया। सारा मैदान खाली पाकर अंगरेजों की लोभ-प्रवृत्ति बारूद की भाँति सहसा बल उड़ी। अब न कोई पूछनेवाला था और न कोई रोकथाम करनेवाला। फिर क्या था?

फिर तो कुप्रसिद्ध ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों ने इस देश की छाती पर नृशंस लूट और जघन्य शोषण की वह भयावनी विभीषिका उत्पन्न की जिसकी कहानी आज भी रोंगटे खड़े कर देती है। ईस्ट इंडिया कंपनी का तत्कालीन आर्थिक इतिहास घूसखोरी, दगाबाजी और शुद्ध डकैती का इतिहास है जिसने सदा के लिए ब्रिटेन के सुयश और सुनाम पर कालिख पोत रखी है। उसकी सारी नीति का एक ही लक्ष्य था। उसका सारा प्रयास एक ही दिशा की ओर उन्मुख था। किस प्रकार भारत के अपार धन को लूटकर इंगलैंड का खजाना भर दिया जाय? इस लक्ष्य की पूर्ति करने में न उचित-अनुचित की चिन्ता की जाती थी, न नीति-अनीति की और न यश-अपयश की। जैसे भी हो और जहाँ भी मिले, भारत की संपत्ति हड़प ली जाय।

इतिहास प्रमाण है इस बात का कि ईस्ट इंडिया कंपनी वे कर्मचारियों ने धन की खोज करने और अपना जेब भरने में निर्लज्जता और घृणित लोलुपता की भी सीमा पार कर दी। बंगाल की दीवानी ग्रहण करने के बाद उन्होंने सरकारी खजाने तक में हाथ लगाया और प्राय: सब का सब धीरे-धीरे चूस गये। जिसके पास धन देखते उसे दबाकर सारी रकम हड़प लेने की चेष्टा करते। न जाने कितने जागीरदारों की जागीरें इसी प्रकार छीन ली गयीं। न जाने कितनों से लंबी-लंबी घूस लेकर जागीरें प्रदान की गयीं। मनमाना किसी को नवाब बनाया जाता और किसी को गद्दी से उतार दिया जाता। जो उनके लोभ की पूर्ति करने में तथा घूस देकर श्वेत प्रभुओं को प्रसन्न करने में जितना सफल होता वह उतनी ही आशा जागीरदारी तथा नवाबी प्राप्त करने की करता। पर यह न समझियेगा कि अंगरेज इतने ही से संतुष्ट थे। भारत का शोषण करने के लिए मनुष्य की लोलुप प्रवृत्ति जितने संभव उपाय खोजकर निकाल सकती थी उन सब का

अवलम्बन किया गया। जहाँ-जहाँ ईस्ट इंडिया कंपनी का हाथ पहुँचा वहाँ-वहाँ के लगान और मालगुजारी में वृद्धि कर दी गयी। कंपनी प्रत्येक इलाके का दोहन अधिक से अधिक करना चाहती थी। इसके लिए पहला उपाय यही दिखाई पड़ा कि लगान की दर जितनी बढ़ायी जा सके बढ़ा दी जाय तथा उस रकम की वसूली जैसे भी हो की जाय। बंगाल और बिहार की दीवानी मिलते ही उन प्रांतों का लगान कुछ वर्षों के भीतर ही दूना कर दिया गया। अवध के नवाबों से मिले हुए प्रदेश की मालगुजारी भी तीस लाख रुपये वार्षिक बढ़ा दी गयी। मराठों से प्राप्त प्रदेशों में मालगुजारी की वृद्धि इतनी कर दी गयी कि उसकी दर मराठा शासकों की दर से तिगुनी अधिक हो गयी। मद्रास और बंबई के क्षेत्रों में उपज का ५५ प्रतिशत लगान के रूप में लिया जाने लगा। मैसूर-मलाबार और आरकाट के क्षेत्र में लगान प्राय: ११७ प्रतिशत बढ़ा दिया गया।

लगान की दर बढ़ाते हुए इसका ध्यान भी नहीं रखा गया कि उसकी अदायगी करनेवाले किसान में उसे अदा करने की क्षमता भी है अथवा नहीं और लगान की वृद्धि जिस अनुपात और दर से की जा रही है वैसा करना उचित भी है या नहीं। इतनी गहराई में सोचने और विचार करने की आवश्यकता भला ईस्ट इंडिया कंपनी क्यों समझती। वह तो उन्मत्त हो गयी थी अपने लोभ में। फलतः लगान बढ़ाया गया और उसकी वसूली करने के लिए घृणित और अमानुषिक उपायों का अवलम्बन किया गया। किसानों में इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वे बेहद बढ़ा हुआ लगान अदा कर सकते। स्मरण रखना चाहिए कि लगान और मालगुजारी की नयी दर न किसी आर्थिक सिद्धान्त के आधार पर स्थापित थी और न कर लगाने की सर्वमान्य तथा ग्राह्य पद्धति के अनुकूल

थी। वह आश्रित थी एकमात्र लूट की मनोवृत्ति पर। अंगरेज यह समझते थे कि प्रत्येक भारतीय की सार्थकता और उपयोगिता केवल इस बात में है कि वह ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए उपार्जन करे। अंगरेजों ने भारत की भूमि को अपनी निजी संपत्ति मान लिया। उनकी कल्पना यह थी कि वे स्वयं भू-स्वामी हैं और किसान केवल मजदूर है जिसे अपने श्रम के लिए मजदूरी मिल जानी चाहिए। भू-स्वामित्व सम्बन्धी यह कल्पना ही भारत के लिए विजातीय थी। इस देश में भूमि का मालिक वह होता रहा है जो उसे जोतता और बोता हो। भारत में भूमि कभी राजा की नहीं मानी गयी। यहाँ का आदर्श तो यह रहा है कि राजा भूमि और समाज का रक्षक मात्र है और अपने इस कार्य के लिए कर के रूप में उपज का कुछ भाग वेतनस्वरूप प्राप्त करता है। राज-पद रक्षक का पद रहा है, देश की भूमि तथा संपत्ति के स्वामी का नहीं। पर अंगरेज इस देश की भूमि पर पदार्पण करके इस उन्नत तथा पुनीत आर्थिक और राजनीतिक आदर्श को भ्रष्ट कर देने में सफल हुए। उन्होंने न केवल भारत को जीत लिया प्रत्युत भूमि पर स्थापित किसानों के स्वामित्व का भी अपहरण कर लिया।

इस दृष्टिकोण और नीति के फलस्वरूप उन्होंने खेती से उत्पन्न होनेवाली सारी संपत्ति तथा लाभ को स्वयं ले लेने का आयोजन किया। किसान को मजदूरी मात्र मिले और सारी उपज खजाने में आवे। यही थी धारणा, दृष्टि और नीति जिसके आधार पर लगान की दर स्थिर की गयी। इस स्थिति में किसानों के शोषण और उनकी दुर्दशा की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। कंपनी के कर्मचारी और कारिंदे किसानों की सूखी चमड़ी से भी सरकारी लगान निकाल लेने की चेष्टा किया करते थे। यह ऐतिहासिक सत्य है कि लगान की वसूली के लिए किसानों को प्रचंड धूप में घंटों खड़ा किया जाता,

भोजन अथवा नित्यकर्मों के लिए भी जाने न दिया जाता। उन पर कोड़ों की मार पड़ती, उन्हें मुर्गा बनाया जाता, उनकी शिखा पेड़ से बाँध दी जाती, गाय या भैंस की दुम में भी उनके सिर के बाल बाँध दिये जाते, उनके सिर परस्पर टकराये जाते, उनकी अँगुलियाँ दो लकड़ियों के बीच में रखकर दबायी जातीं। यह सारा अत्याचार इसलिए किया जाता कि असमर्थ किसान लगान अदा कर दे। तमाशा यह था कि कोई किसान यदि खेती और खेत छोड़कर भागना चाहता तो उसे वैसा भी करने न दिया जाता। किसानों की स्थिति उन मध्ययुगीन दासों से भी बुरी हो गयी जिनका अपना कुछ नहीं होता था। कंपनी की सरकार ने भूमि के बन्दोबस्त के लिए जो नीति ग्रहण की वह किसानों की तबाही और बरबादी का कारण हुई। दक्षिण और पंजाब का रैयतवारी बंदोबस्त तथा बंगाल-बिहार का स्थायी और अवध का स्थायी बंदोबस्त करने में उसकी एक ही नीति यह थी कि किस प्रकार भूमि की उपज का अधिक से अधिक भाग सरकार को मिले और किस प्रकार कम से कम कठिनाई से यह वसूली की जा सके। ईस्ट इंडिया कंपनी ने उत्तर भारत में अपनी नीति के फलस्वरूप नये प्रकार की उस जमींदारी और तालुकदारी प्रथा को जन्म दिया जिससे भारत का किसान वर्ग आजतक उत्पीड़ित है। दक्षिण की रैयतवारी प्रथा में यद्यपि जमींदार नहीं हैं पर वहाँ उस प्रकार का बंदोबस्त इस नीयत से किया गया कि सरकार और किसान के बीच कोई मध्यम वर्ग न रहे और सारा लाभ जो कोई तीसरा लेता सीधे कंपनी के हाथ लगे।

इस भयानक लूट की घृणित कहानी का वर्णन करने के लिए इस ग्रन्थ में स्थान कहाँ है? इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारत कृषि-प्रधान देश रहा है और किसान इसके प्राण रहे हैं। कृषि और

किसानों को चौपट करके इस देश का रक्त चूस लेने की नीति खुलकर बरती गयी। इस नीति का परिणाम क्या हो सकता था इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बंगाल, बिहार और उत्कल की दीवानी जिस वर्ष ईस्ट-इंडिया कंपनी को मिली उसके पाँच वर्ष बाद ही बंगाल-बिहार में वह व्यापक तथा प्रलयंकर दुर्भिक्ष हुआ जिसने इस देश के करोड़ों नर-नारियों को उदरस्थ कर लिया। कहते हैं कि उस दुर्भिक्ष में उक्त प्रदेशों की तृतीयांश जनसंख्या साफ हो गयी। गाँव के गाँव उजड़ गये, शस्यश्यामला भूमि वीरान हो गयी, जहाँ हरे-भरे खेत थे वहाँ जंगल और झाड़झंखाड़ लग गये। भारतीय संतान दाने-दाने को तरसते हुए कुत्तों की भाँति मरे पर उन्हें कोई पूछनेवाला न था। जो पूछनेवाला था उसकी करतूत की बात मत पूछिए। उसने केवल यही किया कि इस बरबादी और संहार तथा भूख और दैन्य के बीभत्स नर्तन के मध्य अपने लगान, मालगुजारी का एक-एक पैसा वसूल कर लिया। विचार कीजिए कि जो मुर्दे से भी अपना लगान वसूल करने में समर्थ थे वे जीवितों की कैसी दशा करते रहे होंगे।

यह न समझियेगा कि भारत में स्थापित ब्रिटिश सत्ता की आर्थिक नीति यहीं समाप्त होती थी। व्यय-कर के रूप में वसूल की गयी सारी रकम का उपयोग कैसे होता था? कर-स्थापन का सिद्धान्त तो यह है कि जनता की कमाई का अंश राज-सत्ता उसी प्रकार ले जिस प्रकार सूर्य धरातल से जल का शोषण करता है। सूर्य जल का शोषण करता है इसलिए कि पृथ्वी को पुनः वह जलप्रदान करके उसे सींच दे। राजा भी कर लेता है, पर लेता है इसलिए कि पुनः जनसमाज के कल्याण, सुख और संरक्षण में उसका व्यय कर दे। इस प्रकार जिसका धन होता है उसी के पास वापस लौट जाता है। पर भारत में ब्रिटिश-

राजसत्ता लूट के आधार पर स्थापित हुई थी। क्या दुनिया के इतिहास में कहीं भी ऐसी मिसाल मिलेगी कि किसी व्यापारी कंपनी के हिस्सेदारों को मुनाफा बाँटा जाय गरीब जनता का पेट काटकर? इतिहास सिद्ध करता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के हिस्सेदारों को सौ तथा डेढ़ सौ प्रतिशत मुनाफा भारत की जनता को देना पड़ता था। भारत को जीतने तथा उसे पराधीन बनाने का सारा व्यय ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत से ही वसूल किया। इस देश को अंगरेजों के अधीन रखने के लिए जो धन अपेक्षित होता वह भी भारत से ही वसूल किया जाता। भारत ही नहीं पर उसके अन्य पड़ोसी प्रदेशों पर आक्रमण करने और उन्हें विनष्ट करने का सारा व्यय भी भारत से वसूल किया गया। चीन, वर्मा, अफगानिस्तान, मिस्र, जावा, ईरान आदि देशों से हुए युद्ध का खर्च भारत से लिया गया। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार में यदि घाटा लग जाय तो उसकी पूर्ति करने के लिए ऋण लिया जाता जिसका सूद भारत की जनता से वसूल किया जाता।

यही थी भारत के सम्बन्ध में ब्रिटिश राज की आर्थिक नीति। इस अंधाधुंध किन्तु खुली और निर्लज्ज लूट ने भारतीय राष्ट्र की रीढ़ चूर कर डाली। उसका सारा आर्थिक जीवन और उसकी आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। जहाँ पर शोषण की नीति बरती गयी वहीं भारतीय शिल्प और व्यापार को भी मटियामेट कर देने में कोई बात उठा नहीं रखी गयी। भारत के शिल्प और व्यवसाय इतिहास-प्रसिद्ध रहे हैं। ईसा के जन्म के हजारों वर्ष पूर्व भारत का निर्मित पदार्थ जगत् के बाजारों में बिकता रहा है। चार हजार वर्ष पुरानी मिस्र की कब्रों से निकले हुए अस्थिपिंजर भारत की बनी मलमलों से आवेष्ठित देखे गये हैं। पश्चिमी एशिया, मिस्र और यूनान से भारत

का व्यापार ईसवी शती से शताब्दियों पूर्व से होता रहा है। रोमन साम्राज्य के भूमध्य-सागर-तटवर्ती प्रदेशों के बाजार भारत के माल से भरे रहते थे। कनिष्क का समकालीन एक रोमन लेखक शिकायत करता है कि 'भारत से आनेवाली अति सुन्दर मलमल पहनकर हमारी महिलाएँ अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करती हैं और रोम पाँच करोड़ का सोना प्रतिवर्ष भारत को अपनी विलासिता तथा शौकीनी के लिए देने को बाध्य होता है।' अरब, फारस, चीन, जापान, मलाया के प्रदेश, प्रशान्त के अनेक द्वीपों, हिंद-चीन, बर्मा आदि देशों से तो भारत का निकट व्यापारिक संपर्क शताब्दियों तक रहा है। भारतीय व्यापारी भारतीय जलपोतों के द्वारा महोदधियों को लाँघते हुए एक ओर अतलान्तक तक तो दूसरी ओर प्रशान्त के द्वीपों तक चक्कर काट आते थे। यह सब आज के पूर्व हजारों वर्ष से होता रहा है।

बुनाई और कताई तथा कपड़ों की रंग-बिरंगी छपाई और बेलबूटों का काम तो भारत का राष्ट्रीय व्यवसाय रहा है। सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्रों का, हाथीदाँत के बने पदार्थों और सुगन्धित द्रव्यों का, मोती तथा जवाहरात का निर्यात भारत अतीत के सुदूर युग से करता रहा है। अनेक विदेशी जातियाँ यहाँ आयीं, अनेक बार आक्रमण हुए, अनेक बार भारत का राजनीतिक पतन हुआ पर भारत का व्यवसाय, व्यापार तथा शिल्प ज्यों का त्यों चलता रहा। उसका यह निर्यात-व्यापार भारत में अंगरेजों के आगमन तथा उनकी स्थापना हो जाने के समय तक जारी रहा। स्वयं अंगरेज भी भारतीय माल को ले जाकर यूरप के बाजारों में बेंचने और धन कमाने की लिप्सा लेकर ही भारत में आये थे। आरम्भिक युग में उन्होंने यही किया और इस देश के आयात-निर्यात-व्यापार के एक वाहन बने। शिल्प-कला, उद्योग और व्यवसाय की उन्नति इस देश की समृद्धि और श्रीसंपन्नता

दिया जाता था। याद रखिये कि यह सारा 'देना' इंगलैंड का था पर पराधीन और पददलित भारतीय राष्ट्र बलि चढ़ा देने के लिए उपलब्ध था। इंगलैंड का देना इंगलैंड का पावना बना दिया गया और भारत ऋणग्रस्त कर दिया गया।

करोड़ों रुपये प्रतिवर्ष भारत को खिराज के रूप में अदा करना पड़ता था। यह रकम सोने-चाँदी के रूप में नहीं भेजी जाती थी। इसके एवज में भारत का माल निर्यात कर दिया जाता था। भारत का अन्न और भारत के बने कपड़े खरीद कर बाहर भेज दिये जाते थे। इस नीति के फलस्वरूप वह आदान-प्रदान और सांपत्तिक संचलन रुक गया जो साधारणतः आयात-निर्यात व्यापार से होता। भारत का माल बाहर चला जाता, अन्न-वस्त्र से वह वंचित होता पर उसके बदले में उसे कुछ न मिलता। कमाई करके वह उस ऋण की पूर्ति करता जो उसके मस्तक पर उसकी पराधीनता ने लाद दी थी। जिस देश की संपत्ति का ऐसा दोहन हो रहा हो और आयोजित तथा संघटित लूट अबाध गति से जारी हो उसकी दुर्दशा की कल्पना करना क्या कठिन है? धीरे-धीरे भारतीय व्यापार के सूत्र भी ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों तथा इंगलैंड से आकर भारत में व्यापार करनेवाले अंगरेजों ने अपने हाथ में कर लिये। अंगरेजों की कोठियाँ स्थापित हुईं जो भारतीय कपड़े की खरीद करतीं। इन व्यापारियों ने एकाधिकार स्थापित कर लिया। किसी जुलाहे को यह अधिकार न था कि वह अपना माल किसी दूसरे के हाथ बेंचता। जुलाहों को जबर्दस्ती बयाना दे दिया जाता, उनसे माल तैयार कराया जाता और मनमाना दाम देकर खरीद लिया जाता। निश्चित तिथि पर यदि सामान न पहुँचा तो जुलाहों के घर कोठीवालों के चपरासी बैठा दिये जाते और उनका खर्च जुलाहों से वसूल किया जाता। बहुधा जुलाहों की

खबर कोड़ों से ली जाती। कंपनी-सरकार की आज्ञा थी कि लोग इन अंगरेज कोठीवालों की सहायता किया करें और जुलाहों से माल तैयार कराने में सब तरह की मदद दें।

यह स्थिति कर दी गयी उन कारीगरों की जो भारतीय शिल्पकला और उद्योग के प्राण थे। यदि किसानों को दास बना दिया गया था तो भारतीय कारीगर भी किसी दास से कम नहीं रहा। दूसरी ओर न केवल विदेशी किन्तु आन्तरिक व्यापार पर भी अंगरेजों ने अधिकार स्थापित करना शुरू किया। भारतीय माल हो अथवा विदेशी, वे विदेश के विभिन्न स्थानों में ले जाकर उसे बेंचते। अपने इस व्यापार को उन्होंने चुंगी से भी बरी कर लिया था। स्वदेशी व्यापारी और कारीगरों को अपने देश में चुंगी देनी पड़ती थी पर विदेशी व्यापारी जबर्दस्ती अपने को उससे मुक्त रखने में सफल होते।

इस अवस्था में भारतीय व्यापार और उद्योग नष्ट न होता तो क्या होता। स्पष्ट है कि भारतीय व्यापारी अपने ही देश में माल बेचनेवाले विदेशी व्यापारियों की प्रतिस्पर्धा में टिक न पाते। हानि उठाकर अथवा लागत से कम में माल बेंचकर कोई व्यापार नहीं कर सकता। इसका भयावना प्रभाव भारतीय व्यवसाय तथा उद्योग पर पड़ा। पर अंगरेजों के हाथों होनेवाली उसकी विनाश-क्रिया का अन्त अभी होनेवाला न था। यह सब होने पर भी भारतीय कपड़ा स्वयं इंगलैंड के बाजार में अंगरेजी वस्त्र के मुकाबले में पचास-साठ प्रतिशत कम मूल्य में, किन्तु लाभ के साथ बिकता था। अनेक प्रयत्न करने पर भी ब्रिटिश कारीगर भारतीय वस्त्र के व्यापार का सामना करने में असमर्थ थे। उन्होंने देखा कि इंगलैंड के बाजारों में जब तक भारतीय वस्त्र आता रहेगा तब तक उनके लिए अपने पैरों पर खड़ा होना संभव नहीं है। फलतः ब्रिटिश कारीगरों ने अठारहवीं शती के आरम्भ

में ही यह आवाज उठानी आरम्भ कर दी कि भारतीय वस्त्र का आयात रोक दिया जाय। अब वह युग आ गया था जब ब्रिटेन में उद्योग और व्यवसाय धीरे-धीरे नये ढंग से पनपने लगा था।

ब्रिटिश कारीगरों तथा ब्रिटिश व्यवसाय की रक्षा के लिए भारतीय माल के आयात पर प्रतिबन्ध लगाया जाने लगा। इंगलैंड में कई प्रकार के भारतीय पदार्थों का प्रवेश भी कानून के द्वारा रोक दिया गया। कुछ प्रकार के भारतीय कपड़े को पहनना अपराध घोषित कर दिया गया जिसके लिए दंड दिया जाता। आश्चर्य होता है यह देखकर कि इतने पर भी उन्नीसवीं शती के आरम्भिक युग में भारतीय रेशमी तथा सूती वस्त्र इंगलैंड में ब्रिटिश वस्त्र से सस्ते मूल्य पर बिकता था। यह प्रमाण है इस बात का कि भारतीय वस्त्र-व्यवसाय अपनी उन्नति तथा सफलता की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। अंगरेजों के लिए यह अवस्था असह्य थी। वहाँ की सरकार ने भारतीय वस्त्र के प्रवेश पर अस्सी प्रतिशत तट-कर बैठा दिया और इस प्रकार उसके आयात को सर्वथा रोक दिया। इतने आघात पर भी भारतीय व्यवसाय जीवित रह गया होता पर दुर्भाग्य से भारत में ब्रिटिश सत्ता स्थापित हो चुकी थी। भारतीय भूमि का बहुत बड़ा भाग जब अंगरेजों के अधीन हो चुका था तो ब्रिटिश उद्योग के हित में राजनीतिक अधिकार से लाभ उठाने में उन्हें कौन रोकता? अब दूसरा कदम यह उठाया गया कि भारत में ब्रिटिश माल येन केन प्रकारेण खपाया जाय। ब्रिटिश माल भारतीय बंदरगाहों में उतरता, वहाँ से देश के कोने-कोने में वितरित होता पर उस पर किसी प्रकार का कर न लिया जाता। यदि लिया भी जाता तो नाम मात्र का जिससे ब्रिटिश व्यापार पर कोई प्रभाव न पड़ने पावे। इधर भारत में ही भारतीय माल के एक स्थान से दूसरे स्थान में लाने और ले जाने पर चुंगियाँ बैठा दी गयीं। भारतीय जुलाहों को तरह-

तरह की यातनाएँ दी जातीं और इन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी के कारखानों में काम करने के लिए बाध्य किया जाता।

इस सुसंघटित सुआयोजित और सुविचारित प्रहार के सामने भारत का व्यवसाय, उसका शिल्प और उसका व्यापार भला कब तक टिक पाता? धीरे-धीरे आन्तरिक और निर्यात-व्यापार रुक गया, शिल्प और उद्योग नष्ट होने लगे और वह भारत जो सहस्राब्दियों तक पूर्वी भूखंड का औद्योगिक तथा व्यापारिक केन्द्र था, जिसके माल से पूर्व तथा पश्चिम के बाजार पटे रहते थे जबर्दस्ती ब्रिटिश माल की खपत करनेवाली मंडी बना दिया गया। ढाका, मुर्शिदाबाद और सूरत ऐसे व्यावसायिक केन्द्रों की समृद्ध और संपन्न बस्तियाँ उजड़ गयीं। जिस मुर्शिदाबाद की प्रशंसा करते हुए क्लाइव ने यह लिखा कि यह नगर लंडन के समान ही विस्तृत, भरा-पूरा और संपन्न है तथा लंडन की अपेक्षा यहाँ के लोग कहीं अधिक धनी हैं, वही सौ वर्ष बीतते-बीतते उजड़ गया। जो अवस्था वस्त्र-व्यवसाय की हुई वही दुर्दशा उन सभी उद्योगों की हुई जो ब्रिटिश व्यवसाय के लिए प्रतिस्पर्धी सिद्ध हो रहे थे। भारत में जहाजों के निर्माण का व्यवसाय भी बड़ा पुराना रहा है। भारतीय जलपोतों का वर्णन वेदों तक में पाया जाता है। हजारों वर्ष पूर्व भारतीय न केवल जहाज बनाते थे प्रत्युत उनके द्वारा पृथ्वी के सुदूर बाजारों में अपना माल ले जाते थे। ब्रह्मदेश तथा मलाया के द्वीपों में जहाजों द्वारा जाकर ही भारतीयों ने उपनिवेश बसाये और बृहत्तर भारत का निर्माण किया। जहाज-निर्माण का यह व्यवसाय सन १८४० ईसवी तक जारी रहा। उस समय तक कलकत्ते और बंबई में अच्छे जहाज बनते थे। भारतीय जहाज-निर्माण के व्यवसाय को चौपट करने के लिए सत्रहवीं से उन्नीसवीं शती तक इंगलैंड में यह व्यवस्था की गयी कि कोई माल सिवा ब्रिटिश जहाजों के अन्यों के

द्वारा जा ही नहीं सकता। जहाँ-जहाँ ब्रिटिश प्रभाव था, वहाँ-वहाँ अंगरेजी जहाजों को अधिक सुविधा प्रदान की गयी। धीरे-धीरे भारत का यह अति पुरातन व्यवसाय भी लुप्त हो गया।

धातु के बर्तन बनाने और कागज तथा काँच के समान बनानेवाले व्यवसाय भी इसी प्रकार उखाड़ फेंके गये। धीरे-धीरे भारत उद्योग-हीन, व्यवसाय और व्यापारहीन, शिल्प तथा कलाविहीन बना डाला गया। रेल-पथ तथा सड़कों का निर्माण जैसे-जैसे होता गया वैसे-वैसे ब्रिटिश माल भारत के सुदूर गाँवों की झोपड़ियों तक पहुँचता गया। परिणामतः भारत के ग्रामीण उद्योग और शिल्प तथा ग्रामीण शिल्पी और कारीगर मटियामेट होते गये। जो अवस्था इस देश में कभी उत्पन्न नहीं हुई थी वह अंगरेजों के युग में हुई। यहाँ के उद्योग और व्यवसाय पर, भारत के पेट और उसकी रोटी पर अब तक कभी किसी जाति ने, चाहे वह भारत में आकर प्रवास करनेवाली रही अथवा विजेता, चोट नहीं मारी थी। सहस्राब्दियों से जो आर्थिक और व्यावसायिक प्रवाह इस देश में बहता रहा वह अंगरेजों के आगमन के बाद सूख चला। परिणाम यह हुआ कि देश के लाखों, करोड़ों नर-नारी जो उद्योग और व्यवसाय में लगे हुए थे बेकार हो गये। वे दाने-दाने को तरसते और काम के अभाव में इधर-उधर भटकते। कोई दूसरा उपाय न पाकर वे खेती की ओर आकृष्ट होते। धीरे-धीरे भूमि पर बोझ बढ़ता गया। व्यापार के द्वारा आनेवाला वह धन-भांडार जो विदेशों से आता था रुक गया। फलस्वरूप देश क्रमशः गरीब होता गया। भूमि भी कितना बोझ बर्दाश्त करती? वहाँ खेतिहर-किसानों की अपार भीड़ पहले ही से मौजूद थी। कृषियोग्य भूमि भी पहले से ही जोत में थी। इस हालत में लाखों, करोड़ों की संख्या में बेकार हुए कारीगर कहाँ जाते? न जाने कितने खेतों में मजदूरी कर,

कितने भीख माँगकर और कितने नगरों में इधर-उधर लोगों की खिदमतगारी कर अपना पेट-पालन करने लगे। न जाने कितनों ने भूख से तड़प-तड़पकर अपने प्राण भी गँवा दिये होंगे।

सन् १८३४ ईसवी में भारत के तत्कालीन गवर्नर जेनरल ने अपनी एक रिपोर्ट में लिखा था कि "भारतीय कारीगरों की जो दुर्दशा और जो दयनीय स्थिति है उसका दूसरा उदाहरण भी इतिहास में शायद ही मिले। जुलाहों की हड्डियाँ भारत के विस्तृत भूभाग को श्मशान बनाये हुए हैं" इस प्रकार भारत के कुटीर-व्यवसायों को नष्ट कर दिया गया पर उनके स्थान पर भूखों मरने के सिवा किसी दूसरे व्यवसाय को पनपने नहीं दिया गया। जो व्यवसाय बँच गया था वह था खेती का, पर उसकी जो दुर्दशा हो गयी थी उसकी ओर संकेत किया जा चुका है। केवल भूमि कहाँ तक लोगों का पालन-पोषण करती ? कहाँ तक बोझ उठाना उसके लिए संभव होता ? फलतः भारत की दरिद्रता ने विकराल रूप धारण किया। फिर तो इस देश में दुर्भिक्ष, भूख और दैन्य का स्थायी निवास हो गया। बंगाल और बिहार की दीवानी ग्रहण करते ही ईस्ट इंडिया कंपनी की कृपा से बंगाल दुर्भिक्ष से उद्ध्वस्त हुआ था। पर एक शताब्दी बीतते-बीतते तो अकालों की भरमार होने लगी। सन् १८६१ ईसवी में सारा उत्तर भारत और विशेष कर युक्तप्रान्त भयावने अकाल का शिकार हुआ। कहते हैं कि उस अकाल में इस प्रान्त की प्रायः ८ प्रतिशत जनता काल के मुख में समा गयी। पंद्रह वर्ष बीतते-बीतते पुनः महाव्यापक दुर्भिक्ष हुआ जिसने सारे उत्तर भारत, मध्य भारत और दक्षिण भारत में बहुत बड़े भाग को श्मशान बना डाला। कहा जाता है कि करोड़ों नर-नारियों का संहार करने में वह दुर्भिक्ष भी सफल हुआ। सन् १८९६ ईसवी में तथा पुनः सन् १९०० ईसवी में पुराने अकालों की अपेक्षा

कहीं अधिक भयावने दुर्भिक्ष हुए। न जाने कितने अभागे भारतीय संतानों ने अन्न और भोजन के अभाव में अपनी जान गँवायी।

पर इन दुर्भिक्षों का नामोल्लेख करना व्यर्थ है। प्रत्येक भारत-संतान जानता है कि इस देश में रोज ही दुर्भिक्ष का दृश्य उपस्थित है। जिस धरती के निवासियों की चतुर्थांश जन-संख्या एक समय भी पेट भर भोजन न पाती हो, जहाँ की जन-संख्या का अर्द्धांश पूरे साल भर दोनों समय पेट भर न खा सकती हो, जहाँ लाखों बच्चे दूध के अभाव में मर जाते हों, जहाँ प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में नर-नारी महामारियों के शिकार होते हों वहाँ दुर्भिक्ष और मृत्यु का राज्य प्रतिक्षण स्थापित नहीं है तो क्या है? यह आर्थिक दुरवस्था अनिवार्य परिणाम है उस राजनीतिक पराधीनता का जो भारतीय मस्तक पर स्थिरतापूर्वक जमकर बैठी हुई है। शताब्दियाँ बीत गयीं पर भारत में आर्थिक शोषण की नीति ज्यों की त्यों बनी हुई है। आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार शोषण की नीति का स्वरूप समय-समय पर भले ही बदलता रहा हो पर मूल दृष्टि सदा समान ही रही है। जैसे एक युग में भारतीय माल को बेचने का एकाधिकार स्थापित करके इस देश का दोहन किया गया, जैसे कुछ समय बाद भारतीय शिल्प और उद्योग को नष्ट करके भारत के गले जबर्दस्ती ब्रिटिश माल मढ़कर ब्रिटिश व्यवसाय को प्रोत्साहन और विस्तार प्रदान किया गया वैसे ही आज भी ब्रिटिश व्यवसायियों, पूंजीपतियों और महाजनों के हित में ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति परिचालित है। भारत की विदेशी भारत-सरकार ब्रिटिश सरकार की दासी है जिसके लिए ब्रिटिश सरकार के संकेत पर चलना अनिवार्य है। फलतः ब्रिटिश उद्योग और व्यवसाय के लिए भारत के आर्थिक हित की बलि आँख मूँदकर चढ़ा देने में कभी न संकोच किया गया और न आज किया जा रहा है।

उन्नीसवीं शती के मध्य से इंगलैंड में यान्त्रिक उत्पादन की प्रणाली का विकास स्थिर गति से होता चला गया। उत्पादन की मात्रा का बढ़ना था कि उसके सामने नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न हुईं। अब उसकी आवश्यकता यह थी कि माल खपाने के लिए बाजार हो और यन्त्रों से पदार्थों का निर्माण करने के लिए कच्चा माल हो। भारत ब्रिटेन के अधीन प्रदेश था। यहाँ की जनता अफ्रिका आदि भूखंडों की भाँति असभ्य न थी। देश में धन था, पदार्थों का उपयोग करनेवाले लोग थे। बने-बनाये माल सरलता से खपाये जा सकते थे। दूसरी ओर विस्तृत भू-प्रदेश थे, उर्वर भूमि थी, कृषि का मुख्य व्यवसाय था। ब्रिटेन की दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती थी। इंगलैंड में बना हुआ माल खपाने के लिए बाजार था और कच्चा माल प्राप्त करने की सुविधा थी। फलतः भारत को बाजार बनाये रखने की तथा कृषि-प्रधान बनाये रहने की चेष्टा सतत की जाती रही। हर प्रकार से इस देश का औद्योगिकीकरण रोका गया जिसमे ब्रिटिश माल की खपत होती रहे। ग्रामोद्योग पहले ही नष्ट हो गये और वैज्ञानिक उत्पादन की पद्धति के विकास का अवसर नहीं दिया गया। परिणामतः लोगो के सामने यथासंभव खेती करने के सिवा दूसरा मार्ग न रह गया। इस प्रकार यह देश ब्रिटिश माल की खपत के लिए बाजार और कच्चे माल की उत्पत्ति तथा बिक्री के लिए मंडी बना रह गया। उन्नीसवीं शती मे आरम्भ की गयी यह नीति अब तक परिचालित है। साम्राज्यान्तर्गत संरक्षण में मुद्रा और विनिमय की सारी नीति में, भारतीय उद्योगो को यथासंभव संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान न करने में ब्रिटेन की वही आर्थिक नीति अभिव्यक्त है। यह सच है कि बीसवीं शती के आरंभिक युग से भारत में कल-कारखानों की कुछ वृद्धि हुई, कुछ उद्योगों को नाम

मात्र का संरक्षण भी प्रदान किया गया पर यह सब किया गया परिस्थितियों से बाध्य होकर। पर वैसा करते हुए भी इस बात की चेष्टा जारी रही कि ब्रिटिश व्यवसाय के मार्ग में बाधा न उपस्थित होने पावे।

भारतीय उद्योग को यथासंभव ब्रिटिश व्यवसाय का प्रतिस्पर्धी न होने देने और ब्रिटिश हितों की रक्षा भारतीय हित की अवहेलना तथा संभव हो तो बलि चढ़ाकर भी करने का प्रयत्न बराबर जारी रहा। पर जहाँ भारतीय उद्योग को ब्रिटेन का प्रतिस्पर्धी न होने देने की चेष्टा बराबर की गयी वहीं भारतीय उद्योग के साथ ब्रिटिश व्यवसाय को प्रतिद्वन्द्विता करने में हर प्रकार की सहायता प्रदान की गयी। जब यह देख लिया गया कि भारत का औद्योगिकीकरण कुछ न कुछ हुए बिना बाकी नहीं रहता और यह भी समझ लिया गया कि ब्रिटेन में बने लोहे के सामान और कल-पुरजों तथा बड़े-बड़े यन्त्रों को खपाने के लिए उन्हें भारत के हाथ बेचना अनिवार्य हो गया है तो यह सोचा गया कि क्यों न ब्रिटिश पूँजी भारत की ओर प्रवाहित कर दी जाय? ब्रिटिश पूँजीपतियों की पूँजी यदि अपने देश में पड़ी रहने की अपेक्षा विदेशों में जाकर अपेक्षाकृत कहीं अधिक मुनाफा ला सके तथा बाजार पर कब्जा रख सके तो क्यों न उसका उपयोग उसी ढंग से किया जाय? फलतः भारत में अंगरेजों की अनेक कंपनियों ने कल-कारखाने खड़े करने आरम्भ कर दिये। आज इस देश में महती ब्रिटिश पूँजी लगी हुई है। उन्नीसवीं शती के अन्त से लेकर आज तक यह पूँजी क्रमशः बढ़ती ही चली गयी है। भारत में इस समय कारबार करनेवाली विदेशी कंपनियों की संख्या कई सौ के करीब है। सन् १९३१ ईसवी में ही ऐसी कंपनियों की संख्या प्रायः साढ़े छ सौ के थी जिनकी पूँजी साढ़े सात खर्व रुपये थी। भारत में रजिस्ट्री हुई विदेशी कंपनियों की

संख्या तो ५ हजार से अधिक थी जिनकी पूँजी भी तीन खर्व रुपये के लगभग थी।

गत दस-बारह वर्षों में इनकी संख्या में वृद्धि ही हुई है। तात्पर्य यह कि जब परिस्थितियों से बाध्य होकर भारत का कुछ न कुछ औद्योगिकीकरण अनिवार्य समझा गया और यह देखा गया कि इसके फलस्वरूप ब्रिटिश व्यवसाय को कुछ धक्का पहुँच सकता है तो उसके परिहार का यह मार्ग ढूँढ़ निकाला गया। इस प्रकार भारत के बाजार पर जैसे भी हो अधिकार बनाये रखने और ब्रिटिश व्यवसाय का हित-साधन करते रहने के सिवा ब्रिटेन की कोई न दूसरी आर्थिक नीति थी और न आज़ तक हुई। राजनीतिक अधिकार और सत्ता का उपयोग इसकी पूर्ति में जहाँ तक संभव हुआ किया गया। फलतः भारत का आर्थिक जीवन और संघटन पूर्णतः उद्ध्वस्त और विचूर्ण हो गया।

इस प्रकार भारत में ब्रिटिश सत्ता के उदय के फलस्वरूप यदि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र दलित हुआ तो सामाजिक क्षेत्र का प्रभावित होना भी अनिवार्य था। अंगरेजी शासन के कारण वे ग्राम-संस्थाएँ नष्ट होने लगीं जो इस देश के सामाजिक जीवन का केन्द्र थीं। भारत के भूतपूर्व गवर्नर जेनरल सर चार्ल्स मेटकाफ (सन् १८३० ईसवी) का एक वाक्य उद्धृत किया जाता है जिसमें उन्होंने भारत की ग्राम-पंचायतों का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं "ये पंचायतें छोटे-छोटे प्रजातन्त्र के समान हैं। उन्हें वह सब उपलब्ध है जो अपेक्षित है। वे अमर मालूम होती हैं क्योंकि जहाँ दूसरी सब चीजें ढह रही हैं वहाँ वे सजीव हैं। ये पंचायतें भारतीय जनता की रक्षा करने में मुख्य कारण रही हैं। कोई भी उथल-पुथल और उलट-फेर क्यों न हो, जन-समाज को सुरक्षित रखने में और उनके सुख तथा स्वतन्त्रता

को बचाये रखने में वे बड़ी सीमा तक सफल होती हैं"। ये संस्थाएँ स्वायत्त-शासनाधिकारिणी रही हैं जिनके हाथों में ग्रामों के सारे सामाजिक जीवन का सूत्र रहा है। गाँव के स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, व्यापार-व्यवसाय, रक्षा, मालगुजारी की वसूली तथा एक बड़ी सीमा तक अपने शासन का सारा काम ग्रामों की पंचायतों के ऊपर था। प्रत्येक गाँव की यह पंचायत अपने क्षेत्र में एक प्रकार की प्रजा-तन्त्रात्मक सत्ता के रूप में स्थित थी जो बहुत दूर तक अपने कार्य में स्वतन्त्र थी। वे बाहरी अथवा केन्द्रीय शासन के हस्तक्षेप से यद्यपि सर्वथा मुक्त न थीं फिर भी उनका अपना स्थान, अपना पद और अपना कार्यक्षेत्र बहुत कुछ स्वतन्त्र और निर्मुक्त था। यही कारण है कि ये संस्थाएँ समाज के सांस्कृतिक जीवन का आधार बन गयी थीं। आश्चर्य की बात है कि इन संस्थाओं की परम्परा हजारों वर्ष पूर्व से आरम्भ हुई थी जो भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना हो जाने के बाद तक बनी रही। वैदिक काल में भी आप 'सभा' और 'समिति' तथा 'निगम' आदि का उल्लेख पावेंगे जिन्हें उस समय व्यापक अधिकार प्राप्त थे। देश की शासन-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था में इनका भारी हाथ था। वैदिक युग के बाद भी, जब देश में केन्द्रित राजतन्त्र का उदय और विकास हो गया था, जब राजाओं ने स्थानीय संस्थाओं का अधिकार हड़पकर अपनी स्थिति तथा शक्ति को सुदृढ़ करना आरम्भ कर दिया था उस समय भी 'निगमों' और 'पौर जानपदों' का स्थान था और स्थानीय संस्थाओं का कर्मक्षेत्र अछूता बना हुआ था।

भारत की इन संस्थाओं तथा उनके सामाजिक जीवन ने अभूतपूर्व जीवनी-शक्ति का परिचय दिया है। उनके इतिहास की यह विशेषता रही है कि एक नहीं अनेक बार व्यापक राष्ट्रीय विप्लव,

सार्वदेशिक उथल-पुथल, विदेशी आक्रमण और विदेशी विजय तथा राजसत्ता के बार-बार परिवर्तन के बावजूद वे जीवित रहीं और युग-युग की यात्रा करती हुई उन्नीसवीं शताब्दी तक चली आयीं। इन संस्थाओं के कारण भारत की सामाजिक व्यवस्था और जीवन आक्रान्त तथा उद्ध्वस्त होने से बच रहे। समाज का आधार बनकर वे उसके अंग-प्रत्यंग को एक सूत्र में बाँधे रहने में समर्थ हुईं। इनके कारण जनसमाज का आर्थिक तथा सामाजिक और एक सीमा तक राजनीतिक अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा होती रही। भले ही देश का शासन पलट गया हो, राजसिंहासन और राजपद का परिवर्तन हो गया हो पर भारतीय समाज का मूल वह जनवर्ग जो देश के लाखों गाँवों में दूर-दूर तक फैला हुआ था उसके प्रभाव से बहुत कुछ अछूता बना रह जाता था। उसका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन अपने ढर्रे पर चलता था और उसकी ये स्थानीय तथा स्वायत्त-शासनाधिकारिणी संस्थाएँ उसका संचालन करती रहती थीं।

अंगरेजों के आगमन ने इन संस्थाओं को नष्ट कर डाला। इन संस्थाओं का नाश हुआ अंगरेजों की शासन-नीति तथा अर्थ-नीति के कारण। कहा जा चुका है कि अंगरेजों के आगमन के पूर्व किसान अपनी भूमि का स्वामी था। किसानों के सिवा ग्रामों में उद्योग थे, व्यवसाय था और शिल्प तथा कला थी। केन्द्रीय सरकार गाँव के किसानों से मालगुजारी वसूल अवश्य करती थी पर भूमि पर स्वामित्व किसान का ही था। फलतः ग्रामीण जनता में स्वामित्व की भावना थी, स्वाभिमान था और आत्मनिर्भरता थी। उसे अपनी संपत्ति की, अपने व्यवसाय, व्यापार और शिल्प तथा कला की, अपने परिवार और ग्रामीण समाज की रक्षा तथा व्यवस्था के उत्तरदायित्व का भान

हुआ करता था। सामूहिक रूप से समूह की रक्षा तथा हितचिन्ता करना आवश्यक था। ये ग्राम-पंचायतें उसी आवश्यकता की पूर्ति करती थीं। गाँव के भीतर सरकारी मालगुजारी की वसूली और बँटवारा करना, गाँव के उद्योग और व्यापार की सहायता करना, उन्हें उत्तेजन प्रदान करना, उनकी खरीद-बिक्री का प्रबन्ध करना, परस्पर के झगड़ों को निपटाना, शिक्षा और स्वास्थ्य की रक्षा का प्रबन्ध करना और गाँव के सामाजिक जीवन को बनाये रखना गाँववालों का ही काम था। यही काम वे अपनी पंचायतों के द्वारा करते थे। पर अंगरेजों के शासन में किसानों से भूमि का स्वामित्व छिन गया। किसान मजदूर हो गया और भूमि हो गयी राज की। अब ईस्ट इंडिया कंपनी के कारिंदों, गुमाश्तों और कर्मचारियों के हाथ में मालगुजारी की वसूली का काम आ गया। अंगरेजों ने इतने ही से संतोष नहीं किया। उन्होंने मालगुजारी वसूल करने के अधिकार को बाजार में बिकनेवाला पदार्थ बना डाला। जमींदारियाँ बेची जाने लगीं और जमींदारों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे सरकारी मालगुजारी अदा करने के बाद गाँववालों से जैसा चाहें व्यवहार करें।

भला इन जमींदारों तथा मध्यम श्रेणी के सरकारी कर्मचारियों तथा अधिकारियों को गाँववालों से कहाँ सहानुभूति हो सकती थी? पुराने रजवाड़े, सरदार और जागीरदार जो भारतीय शिल्प और उद्योग तथा व्यापार को प्रोत्साहन भी दिया करते थे लुप्त हो गये और उनका स्थान ऐसे वर्ग ने लिया जो सरकारी कानून और शक्ति के भरोसे केवल अपना जेब गरम करना चाहता था। जो स्थिति कृषि की हुई वही भारतीय शिल्प और उद्योग की भी हुई। इन सबके फलस्वरूप भारतीय समाज की आत्मनिर्भरता नष्ट हो गयी। अधिकार और उत्तरदायित्व से वंचित भारत, अपना

स्वाभिमान भी खो बैठा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही दृष्टि में गिर गया और सदा के लिए परमुखापेक्षी और परावलम्बी हो गया। मस्तक ऊँचा करके चलने का साहस भी उसमें न रहा। दूसरों की कृपा का भिखारी वह दूसरों की भ्रू-भंगिमा के संकेत पर उठने बैठने लगा। यह स्थिति सांस्कृतिक पतन को उत्तेजित करनेवाली हुई। यह पतन तो पहले ही आरम्भ हो गया था पर अंगरेजी शासन ने उस पतन को अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया। जब दशा यह हो गयी हो तो भला ग्राम-संस्थाएँ कहाँ टिक सकती थीं? वे क्रमशः निस्तेज, निर्बल, निरुपयोगी होते-होते निष्प्राण हो गयीं। भारतीय समाज के सामाजिक जीवन का कोई आधार न रह गया। जो रह गया वह केवल सरकारी कर्मचारियों का कृपा-कटाक्ष था। सब उसी की उपलब्धि के लिए तरसने लगे।

यह सच है कि जगत् के स्वरूप में जो परिवर्तन होने जा रहा था उसमें उपर्युक्त ग्राम-संस्थाओं के लिए अधिक दिनों तक टिके रहना संभव न होता। विज्ञान की उन्नति के कारण और गमनागमन के नये नये साधनों के विकसित होने के फलस्वरूप धरती के सुदूर भाग जब परस्पर निकट आ रहे थे तो यह संभव न था कि अधिक समय तक भारत के गाँव अपनी-अपनी इकाइयों को अलग बनाये रख सकते। वह समय इस देश में भी आता जब यहाँ के गाँव न केवल परस्पर निकट हो जाते प्रत्युत जगत् के कोने-कोने के गाँवों से भी उनका सम्बन्ध स्थापित हो जाता। कहीं सहस्रों मील पर घटी घटना से वे उसी प्रकार प्रभावित होते जिस प्रकार अपने गाँव की किसी घटना से होते थे। फलतः जगत् की उथल-पुथल का आघात सहन करने में वे सफल न होतीं। निस्संदेह उनके लिए यह आवश्यक हो जाता कि वे समय और परिस्थिति के अनुकूल अपने

स्वरूप में परिवर्तन करें। फलतः यह निश्चित है कि भारत यदि अपनी स्वाभाविक गति से विश्वव्यापी महान् ऐतिहासिक प्रवाह से प्रभावित होने पाता तो धीरे-धीरे उसका सामाजिक संघटन सहज रूप से स्थिति के अनुकूल परिवर्तित, परिवर्धित तथा विकसित हो गया होता। पर अंगरेजों के आगमन ने यद्यपि उसे उक्त ऐतिहासिक धारा के संपर्क में ला खड़ा किया पर उनकी शासन-नीति ने उसकी सहज गति के पथ का अवरोधन कर दिया। अपने हित की दृष्टि से उन्होंने भारत के पुराने संघटन को तो विचूर्ण कर डाला पर उसके स्थान पर नये का निर्माण न होने दिया। निर्माण यदि किया भी तो केवल उस अप्राकृतिक और असहज पराधीनता की रचना का जो भारत के सामाजिक जीवन के लिए प्राणघातक सिद्ध हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में अंगरेजी शासन के उदय से न केवल भारतीयों ने अपनी राजनीतिक सत्ता खो दी प्रत्युत उनका सर्वस्व लुट गया। राजाओं के राजमुकुट छिने, किसानों का भू-स्वामित्व गया, कृषि विनष्ट हुई, शिल्प लुप्त हुआ, उद्योग और व्यवसाय तथा व्यापार चौपट हो गया। भारत का स्वाभिमान मिटा, उसकी आत्मनिर्भता धूल में मिल गयी, सामाजिक संघटन विचूर्ण हो गया। देश में दैन्य, दोहन, दासता और दलन का नंगा नाच होने लगा। जो भारत स्वयं जगत् का सर्वोत्कृष्ट उत्पादक राष्ट्र था, जिसका डंका दुनिया के बाजारों में बजता था और निर्यात के व्यापार के कारण जो लक्ष्मी की लीलास्थली बना हुआ था, बलात् पंगु बना दिया गया। अब वह उत्पादक के स्थान पर स्वयं उपभोग्य पदार्थ बन गया और विदेशी महाजनों तथा पूँजीपतियों का चरागाह हो गया। भारत का धन और अपार वैभव क्रमशः खिसककर विदेश जा पहुँचा। परिणामस्वरूप यह देश दुर्भिक्ष और दरिद्रता का

परम पोषक हो गया। सौ, सवा सौ वर्षों के बीच अनेक अकाल पड़े और करोड़ों नर-नारियों का संहार हो गया। भूमि पर बोझ बढ़ता गया जिसने भारत की गरीबी को स्थायित्व प्रदान कर दिया। यह सब तो जो हुआ सो हुआ, सबसे बड़ी हानि यह हुई कि इस देश का महान् सांस्कृतिक पतन, भयावना नैतिक अधःपात तथा लज्जाजनक चारित्रिक क्षय हुआ। दासता और दरिद्रता मनुष्य के सांगोपांग विनिपात का कारण होती ही है। यह सच है कि भारत के सांस्कृतिक, नैतिक तथा चारित्रिक पतन का ही यह परिणाम था कि इस देश में विदेशी जाति का भाग्य-नक्षत्र चमक सका पर एक बार पराधीनता की श्रृंखला में जकड़ जाने के बाद उसका अधःपतन क्षण प्रतिक्षण होता चला गया। यही होता है भयावना दुश्चक्र जिसमें फँस जाने के बाद किसी राष्ट्र का बाहर निकलना अति दुष्कर हो जाता है। चरित्र की भ्रष्टता और नैतिक-हीनता के कारण पराधीनता गले पड़ती है और पराधीनता चरित्र-भ्रष्टता तथा नैतिकह्रास का कारण होता है। इन दोनों का कार्य-कारण संबंध अन्योन्याश्रित और अविच्छेद्य है। भारत ऐसे ही आवर्त में फँस पड़ा। फलतः ब्रिटिश शासन उसकी संस्कृति, उसकी मनुष्यता और उसके चरित्र को भी ले डूबा।

काल के प्रवाह से भारत का सांस्कृतिक जीवन यों ही निर्बल और निश्चेष्ट हो गया था, तिस पर उसकी पराधीनता ने उसकी रही-सही शक्ति को भी खा डाला। अंगरेजी-शासन में प्रचलित की गयी शिक्षा-पद्धति ने तो उस पर वह कठोर आघात किया जिसका घाव आज तक पूरा नहीं हो सका। उन्नीसवीं शती के द्वितीय चरण में मेकाले ने भारत के लिए विशेष शिक्षा-योजना उपस्थित की जिसके अनुसार अंगरेजी भाषा का पठन-पाठन आरम्भ किया गया। पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति की विवेचना करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि गत तीस-

चालीस वर्षों में देश के हितैषियों, विचारकों और विद्वानों के द्वारा उसके गुण-दोष की इतनी विवेचना हो चुकी है कि अब कुछ और अधिक कहने को बाकी नहीं रह गया। पश्चिमी शिक्षा की पद्धति का जो हितकर तथा अहितकर प्रभाव देश के जीवन पर हुआ है वह इतना स्पष्ट है कि प्रत्येक विचारशील भारतीय उसका अनुभव करता है। फलतः कुछ अधिक न कह कर के बस इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त ज्ञात होता है कि उक्त पद्धति को प्रचलित करते समय अंगरेज शासकों के हृदय में जो मूल-भावना काम कर रही थी वह यह नहीं थी कि यह देश पश्चिम से आनेवाले नये प्रकाश और ज्ञान से लाभ उठा सके। उनका लक्ष्य तो यह था कि भारतीय चरित्र और भारतीय संस्कृति को इतना निर्बल बना दिया जाय कि पराधीनता का कड़वा घूँट पीने में ही उसे आनन्द आने लगे। भारतीय को पाश्चात्य शासन, पाश्चात्य शासक और अपनी परतन्त्रता से प्रेम हो जाय, उसे अपनी संस्कृति, अपने इतिहास और अपने राष्ट्रीय अतीत से घृणा हो जाय। भारतीयता पतन की मदिरा पीकर इस प्रकार मूर्च्छित हो जाय कि उसे अपने राष्ट्र का अभिमान, अपनी संस्कृति का गौरव तथा अपनेपन का ज्ञान भी विस्मृत हो जाय।

मेकाले ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि "हमारी भाषा जहाँ जायगी वहाँ हमारा व्यापार भी पहुँचेगा"। आज इतिहास इस बात का साक्षी है कि मेकाले तथा उनके देश के लोगों की धारणा सही निकली और बहुत दूर तक वे अपने लक्ष्य की पूर्ति करने में सफल हुए। पाश्चात्य शिक्षा की पद्धति भारतीय राष्ट्र की पराधीनता, उसकी नैतिक शक्ति के ह्रास, उसके चरित्रबल के क्षय और उसके सांस्कृतिक जीवन के पतन में किस सीमा तक सफल हुई हैं यह बताने की आवश्यकता नहीं है। एक युग आया जब भारतीय को भारतीय

होने में लज्जा आने लगी, अपनी परतन्त्रता पर गर्व होने लगा, अपने देश और अपने राष्ट्र से घृणा करने में गौरव का अनुभव होने लगा। जो कुछ भारतीय था वह बर्बर और गँवारू प्रतीत होने लगा तथा दूसरे की भाषा, वेष, भाव, दृष्टि, विधि और विचार श्रेष्ठ दिखाई देने लगे। यह स्थिति भारत के पतन और उसकी सांस्कृतिक पराजय की चरम अवस्था की द्योतिका है। सन् १८३८ ईसवी में ट्रैविलियन नामक अंगरेज अपनी पुस्तक 'आन दि एजुकेशन आफ दि पीपुल आफ इंडिया' में लिखता है कि "भारत में वह वर्ग जो अंगरेजी-शिक्षा-प्राप्त है और वह वर्ग जिसने वह शिक्षा नहीं पाई है, अंगरेजी राज के प्रति दो भिन्न दृष्टियों से देखते हैं। जहाँ अंगरेजी शिक्षा का प्रसार नहीं हुआ है वहाँ के लोग अपने राजनीतिक सुधार का एक ही उपाय यह समझते हैं कि अंगरेज इस देश से निकाल बाहर किये जायँ। वे चाहते हैं कि अंगरेजी सरकार का तत्काल अन्त करना ही अभीष्ट है। पर जहाँ अंगरेजी शिक्षा का प्रसार काफी हो चुका है वहाँ इस बात को स्वीकार कर लिया जाता है कि बहुत दिनों तक हमारे शासन की आवश्यकता बनी रहेगी और ज्यों-ज्यों जनता अपने शासन की योग्यता प्राप्त करती जायगी त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक अधिकार प्राप्त होते जायँगे"।

वास्तव में अंगरेजी शिक्षा-पद्धति का प्रचलन करने के पीछे यही कामना थी और उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि उसका आरम्भ होने के बाद, थोड़े ही वर्षों में, वह अवस्था उत्पन्न होने लगी जो अंगरेजों को अभीष्ट थी। पराधीनता और दरिद्रता तथा सांस्कृतिक पतन का प्रभाव भारतवासियों के जीवन पर पड़ना अनिवार्य था। अंगरेजी शिक्षा के प्रसार से देश में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न भी हो गया था जिसे अंगरेजी राज के प्रति भक्ति तथा अंगरेजों की नेकनीयती, ईमानदारी

और उनकी नीति में विश्वास था। अंगरेजी संस्कृति तथा अंगरेजी शिक्षा की पद्धति में भी उन्हें आस्था थी। यह सच है कि ऐसे लोगों में वे आदरणीय व्यक्ति भी थे जिन्हें अपने देश के प्रति प्रेम था, वे देश के शासन में सुधार चाहते थे, भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक पतन को रोकना चाहते थे और समाज-सुधार के पक्षपाती थे। पर यह सब होते हुए भी उनके मानस-पटल पर पाश्चात्य संस्कृति की गहरी छाप बैठ गयी थी। वे समझते थे कि भारत का कल्याण अंगरेजी राज से ही हो सकता है। समाज-सुधार हो या शिक्षा और ज्ञान का प्रसार, राजनीतिक अधिकार हो या सांस्कृतिक पुनरुद्धार, सब कुछ संभव है अंगरेजी राज के द्वारा, जिसकी भारत को नितान्त आवश्यकता है। उन्हें यह भी विश्वास था कि भारत में अंगरेजों का आगमन कोई आकस्मिक घटना नहीं प्रत्युत भगवान् की कृपा का परिणाम है और भारत का उद्धार तथा परम हित उन्हीं के द्वारा होगा। इस दृष्टि और विश्वास ने न केवल उनके हृदय में अंगरेजों के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया था प्रत्युत यह भावना भी भर दी थी भारतीय जीवन में यथासंभव अंगरेजी पुट और रंग का सम्मिश्रण करते जाना ही देश के उद्धार का मार्ग है। उन्हें यह विश्वास भी था कि भारत में आज अपना शासनभार ग्रहण करने की योग्यता नहीं है पर जैसे जैसे उसमें इस क्षमता का विकास होगा वैसे वैसे अंगरेज माँगने तथा प्रार्थना करने पर अधिकाधिक शासनाधिकार भारत की जनता को प्रदान करते जायँगे।

उन्नीसवीं शती के आरंभिक युगों में अंगरेजी-शिक्षा-प्राप्त तथा उससे प्रभावित ऐसे नेताओं के नेतृत्व में कुछ संस्थाएँ भी जन्म ग्रहण करने लगी थीं। इस आंदोलन के सर्वप्रथम नेता बंगाल के राजा राममोहन राय थे। उनका ब्रह्म-समाज पाश्चात्य संस्कृति से प्रभा-

वित तथा उसकी प्रेरणा से उत्प्रेरित भाव, दृष्टि और विचार लेकर प्रसूत हुआ। कलकत्ते, बंबई और मद्रास में ऐसी संस्थाएँ भी स्थापित हुईं जिन्होंने एक ओर पाश्चात्य शिक्षा और ज्ञान के प्रसार की चेष्टा आरम्भ की और दूसरी ओर जो अंगरेजी सरकार से भारत के लिए छोटे-मोटे तथा तुच्छ अधिकारों की माँग करने लगीं। राजा राममोहन राय, सर सैयद अहमद खाँ, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गोपाल हरि देशमुख प्रभृति ऐसे ही लोगों में से थे जिनके नेतृत्व में उपर्युक्त प्रकार की धारा बह चली।

(३)

१८५७ की चेतना और प्रतिक्रिया

तात्पर्य यह कि भारत में अंगरेजी शक्ति का उदय और उसकी प्रतिष्ठा एक ओर जहाँ धरातल के पश्चिमी भाग में उद्भूत नयी ऐतिहासिक धारा और संस्कृति की द्योतिका थी वहीं वह भारत के पतन और उसके सांस्कृतिक पराभव की सूचिका भी थी। भारत की राजनीतिक सत्ता लुप्त हुई तो उसका आर्थिक और सामाजिक पतन भी ऐसा हुआ जैसा उसके जीवन में पहले कभी नहीं हुआ था। अंगरेजों के शासन, उनकी नीति और उनकी शिक्षा-पद्धति ने भारतीय-पतन की गति को अधिकाधिक तीव्रता ही प्रदान की।

पर जहाँ एक ओर यह दशा थी वहीं दूसरी ओर भारत की आत्मा पूर्णतः मरी नहीं थी। अब तक उसमें कुछ स्पंदन और कुछ जीवन बाकी बचा था जो अपनी पराधीनता, दैन्य और दुर्दशा देखकर क्षुब्ध होने लगा था। अंगरेजों की नीति और उनके द्वारा हुए सांस्कृतिक

आघात की अनुभूति, अस्पष्ट रूप से ही सही, होने लगी थी। वह सामन्त वर्ग जो अब तक देश का सूत्रधार था, जो अधिकार और वैभव का उपभोक्ता था विशेष रूप से रुष्ट था, क्योंकि ब्रिटिश शासकों की नीति से उसके पद, उसकी प्रतिष्ठा और शक्ति तथा संपत्ति को गहरी ठेस लग रही थी। डलहौजी आदि ने देशी राजाओं तथा बड़े-बड़े जागीरदारों की संपत्ति को हड़पने की जो नीति ग्रहण की उसके फल-स्वरूप अनेक राजे-रजवाड़े रंक हो गये और उनकी मिलकियत उन लोगों को मिल गयी जो अंगरेज-शासन के सहायक तथा समर्थक थे। जो राजे, महाराजे, नबाब तथा जागीरदार बचे-बचाये रह गये थे वे भी संतुष्ट न थे क्योंकि उनकी वह प्रतिष्ठा और उनका वह पद नहीं रह गया था जो अंगरेजी शासन के पूर्व उन्हें प्राप्त था।

अंगरेजी शिक्षा के प्रसार के कारण अंगरेजी-शिक्षा-प्राप्त वर्ग उत्पन्न हो गया था जो सरकारी नौकरियों तथा पदों पर प्रतिष्ठित था। अब वह समय आ गया था जब अधिकार-सत्ता पुराने सरदारों और जागीर-दारों के हाथों से खिसककर इस मध्यम श्रेणी के हाथों में आने लगी थी। फल-स्वरूप पुराने ऊँचे खानदानों और जमीदारों की अपेक्षा इनका प्रभाव समाज पर उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। समाज का नेतृत्व भी धीरे-धीरे इनके ही हाथों में आ रहा था और जो अब तक आदरणीय, 'बड़े' तथा नेता थे वे उपेक्षित होने लगे थे। इन बातों के सिवा देश की बढ़ती हुई दरिद्रता, शिल्प-व्यवसाय और उद्योग का ह्रास बार बार अकाल तथा दुर्भिक्ष के व्यापक असंतोष की सृष्टि कर रहा था। इन सबकी प्रतिक्रिया सन् १८५७ ई० के उस महान् विद्रोह में मूर्त हुई जिसने एक बार अंगरेजी सत्ता के पैर प्रकम्पित कर दिये। सन् १८५७ का विद्रोह भारतीय स्वाधीनता की स्थापना का महाप्रयास था। सारे उत्तर भारत में इसकी अग्नि प्रज्वलित हुई। इस महती क्रान्ति

धारा ने दिल्ली के सिंहासन से लेकर गाँव के साधारण व्यक्ति तक को, बड़े-बड़े सामन्तों और सरदारों से लेकर अंगरेजी सैनिक शिविर के साधारण सिपाही तक को, आलोड़ित किया। एक बार उत्तर भारत से अंगरेजी सत्ता लुप्त होती दिखाई पड़ी, पर देश के भाग्य में अभी कुछ और बदा था। यद्यपि यह महाप्रयत्न आयोजित और संघटित था पर भारतीय विद्रोहियों को सफलता न मिली। मैं इस विद्रोह के इतिहास में जाना नहीं चाहता और न उसकी विफलता के कारणों का उल्लेख करना चाहता हूँ। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारतीय चरित्र की वही हीनता और भ्रष्टता उसकी विफलता का कारण हुई जिसके प्रताप से ही भारत पराधीन हुआ था। विद्रोह विफल हुआ पर उसकी विफलता में अंगरेजों का भुजबल उतना कारण नहीं है जितना भारतीयों की अदूरदर्शिता तथा नैतिक अधःपात।

विद्रोह के विफल होने पर जो दशा हुआ करती है वही भारत की भी हुई। अंगरेजी सरकार ने इस देश को कुचल देने में कुछ उठा नहीं रखा। प्रचंड दमन और भयावनी क्रूरता तथा हिंसा का आश्रय लेकर भारत की जनता को इस प्रकार पीस डालने की चेष्टा की गयी कि वह शताब्दियों तक सिर उठाने के योग्य भी न रह जाय। दूसरी ओर विफलता की प्रतिक्रिया ने भारतीय जीवन को भी प्रभावित किया। विद्रोहोत्तर भारत की स्थिति पर दृष्टिपात करें तो ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ समय के लिए भारतीय राष्ट्र ने अपना सारा आत्म-विश्वास खो दिया था। अपने बल और आत्मनिर्भरता का आश्रय ग्रहण करके आत्मोद्धार की वह प्रवृत्ति जो उपर्युक्त विद्रोह की मौलिक प्रेरणा थी कुछ समय के लिए बुरी तरह दब गयी। राष्ट्र निस्तेज और निर्जीव हो गया। परमुखापेक्षण तथा परावलम्बन की दूसरी धारा जो अंगरेजी शासन तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से संभूत हुई

थी स्वभावत: अधिक बलवती हो गयी। एक ओर यह स्थिति थी और दूसरी ओर अंगरेजों ने भी विद्रोह से बहुत कुछ सीखा। अंगरेजी शासन को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए जिन बातों की आवश्यकता थी और जिन त्रुटियों के कारण भारतीयों का विद्रोह करना संभव हुआ उनका ज्ञान उन्हें हो गया। अब ऐसी व्यवस्था कर डालने का निश्चय किया गया जिसके फलस्वरूप भविष्य में कोई संकट उत्पन्न होने की संभावना न रह जाय। विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी से भारत का शासनभार स्वयं ले लिया। ईस्ट इंडिया कंपनी को इस देश में व्यापार करने का जो एकाधिकार प्राप्त था वह भी समाप्त कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने कंपनी की पूँजी का मूल्य १२० लाख पौंड लगाया और वह रकम देकर भारत को कंपनी के हाथों से छुड़ा लिया। इस संबंध में स्मरण रखने की बात यही है कि कंपनी को एक सौ बीस लाख पौंड चुकाने का भार भारत के सिर पर लाद दिया गया। कंपनी ने भारत का शोषण किया, उसे पराधीन बनाया और बाद में उसे अपने देश की सरकार के हाथ बेच दिया, पर खरीदनेवाले ने बिक्री के पदार्थ से ही खरीद का दाम वसूल किया। इस प्रकार यह देश अब ब्रिटिश पार्लमेंट और ब्रिटिश नरेश का शासनाधीन प्रदेश हो गया। ब्रिटिश सरकार ने भारत का शासनभार ग्रहण करने के बाद उसे जकड़ देने की नीति का अवलम्बन किया। इसी समय से शस्त्र-कानून बनाकर भारतीय निहत्थे कर दिये गये। इस देश में गोरी फौज की संख्या बढ़ा दी गयी और देशी सेना हटा दी गयी। अंगरेजों की बस्तियाँ यहाँ बसाने की भी योजना चलायी गयी, क्योंकि यह समझा गया कि भविष्य से वे भारतीयों को दबाए रखने में सहायक होंगी। पुलिस और गुप्तचर विभाग का सुदृढ़ तथा व्यापक आयोजन इसी समय से कर दिया गया। अंगरेजों ने

यह देखा था कि मुसलमानों ने उक्त विद्रोह में अधिक योग दिया है। पहले तो अंगरेज-सरकार मुसलमानों से रुष्ट थी पर धीरे-धीरे उसने मुसलमानों को अपनी ओर मिलाए रखने की कोशिश आरम्भ की। उसी समय से मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग करके देश में फूट पैदा करना तथा आगे चलकर उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन से पृथक् रखने की चेष्टा करना ब्रिटिश सरकार की नीति रही है जो आज तक सतत उसी दिशा की ओर प्रवाहित है।

इन सबके सिवा रेल-पथ का व्यापक रूप से निर्माण करने की चेष्टा की गयी। सन् १८५७ की क्रान्ति ने यह दिखा दिया था कि भारत में गमनागमन के साधनों का अभाव मुख्यतः उत्तरदायी था उस दुर्दशा के लिए जिसका सामना अंगरेजी सेना, शासन तथा कर्मचारियों को करना पड़ा। यदि एक स्थान से दूसरे स्थान तक सैनिक साहाय्य पहुँचना संभव होता तो विद्रोहियों को दबा देना अधिक सरल हुआ होता। फलतः विस्तृत रूप से रेल-पथों का निर्माण किया गया। यों तो सन् १८४५ ई० से ही ईस्ट इंडियन तथा ग्रेट इंडियन पेनिन्सुला रेल कंपनियों ने भारत में काम आरम्भ कर दिया था। सरकार ने इस कार्य में उन कंपनियों को गहरा प्रोत्साहन भी प्रदान किया था। उनसे यह शर्त की गयी थी कि उनकी पूँजी पर ५ प्रतिशत से जितना कम लाभ होगा उतना सरकार स्वयं अदा करेगी। सन् १८५८ ई० में तो ऐसी और पाँच कंपनियाँ इसी शर्त पर खड़ी कर दी गयीं। लार्ड मेयो जिस समय भारत के वायसराय हुए उस समय तो इस देश में कंपनी-रेलों के स्थान पर सरकारी रेलें भी आरम्भ कर दी गयीं और इस प्रकार सारे देश में रेल-पथों का जाल सा बिछा दिया गया। इन रेलों के निर्माण से प्रत्येक दृष्टि से ब्रिटेन का लाभ ही लाभ हुआ। ब्रिटिश पूँजी भारत में खप सकी, लोहे के ब्रिटिश माल

इस देश में लग सके, अंगरेजी पदार्थों को देश के कोने कोने में ले जाकर बेचना संभव हुआ। यह सब तो था ही पर लार्ड मेयो के कथनानुसार इन सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि "भाप से चलनेवाले जल-पोत तथा रेल-पथों ने इंगलैंड को भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर रखने में दिन प्रतिदिन अधिकाधिक समर्थ होते जाने में अकल्पित सहायता प्रदान की। रेल-पथों का विकास, नयी राइफलों से सुसज्ज सेना तथा योग्य और व्यवस्थित पुलिस भारत को मुट्ठी में रखने में सफल बना रही है"।

इस प्रकार उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में भारत पर ब्रिटिश सत्ता का आधिपत्य अधिकाधिक कठोर तथा स्थायी होता गया। इस राजनीतिक पराधीनता के साथ-साथ उसका आर्थिक शोषण भी बढ़ता गया। यह न समझियेगा कि ईस्ट इंडिया कंपनी से पिंड छूटने पर भारत को राजनीतिक अथवा आर्थिक दृष्टि से साँस लेने का अवकाश मिला। वास्तव में स्थिति सर्वथा विपरीत हुई और वह नीति जिसे ईस्ट इंडिया कंपनी ने परिचालित किया था ज्यों की त्यों चलती रही। अधिक विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि गदर के बाद भारत में ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति का एकमात्र लक्ष्य यह था कि जैसे भी हो ब्रिटिश व्यवसाय तथा ब्रिटिश महाजनों का हित-संपादन किया जाय। देश का अन्ध तथा अनैतिक दोहन करने में ब्रिटेन की सरकार को रंचमात्र भी लज्जा न थी। इसी युग में भारत के भूमिकर में प्रायः ५० प्रतिशत की वृद्धि की गयी। इसी युग में ब्रिटिश माल को, विशेषकर ब्रिटेन के वस्त्र-व्यवसाय को, प्रोत्साहन देने के लिए भारतीय तट-कर की नीति का संचालन ब्रिटेन के हित में किया गया। विदेशी वस्त्र के आयात पर जो तट-कर लगाया गया था वह धीरे धीरे इसलिए घटाया गया कि ब्रिटिश वस्त्र भारत के बाजारों

में सस्ते दाम पर बिक सके। इस नीति का घातक परिणाम एक ओर जहाँ यह हुआ कि भारत के शिल्प और उद्योग मर मिटे वहीं दूसरी ओर यह हुआ कि सरकारी आय में कमी होने लगी। आय की इस कमी की पूर्ति अभागे भारतीयों पर कर-वृद्धि करके की गयी। सन् १८५८ ईसवी में भारत के नाम ईस्ट इंडिया कंपनी ने जो कर्ज डाल रखा था वह सात सौ लाख पौंड के करीब था। पर महारानी विक्टोरिया के शासन-काल के आरम्भिक बीस वर्षों में ही कर्ज की रकम दूनी हो गयी। इस कर्ज का सूद तथा इंगलैंड में भारत-सरकार के खर्च के नाम पर जो रकम भारत से प्रतिवर्ष वसूल की जाती थी वह २ करोड़ पौंड के करीब थी। इसी काल में वह रकम जो भारत से विलायत जाती थी चौगुनी हो गयी, जिसकी पूर्ति के लिए देश की जनता पर लगे कर में (भूमि-कर के अलावा) ५० प्रतिशत वृद्धि कर दी गयी। नमक तक पर जो कर लगाया गया था प्रायः शत प्रतिशत के बढ़ा दिया गया। इसी युग में इंगलैंड ने एशिया और अफ्रिका में साम्राज्य-विस्तार के लिए कतिपय युद्ध ठाने जिनके व्यय का बोझ भारत के सिर लाद दिया गया। उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में विनिमय और मुद्रा की वह नीति ग्रहण की गयी जिसका कुफल भारत आज तक भोग रहा है। भारतीय रुपये को सांकेतिक सिक्का का पद प्रदान करके उसे पौंड की दुम में बाँध दिया गया और रुपये की दर पौंड पर निर्भर कर दी गयी। विनिमय की दर सदा ब्रिटिश हित के अनुकूल निर्धारित होती रही।

यह बात भी ध्यान में रखने के योग्य है कि सन् १८६० ईसवी से लेकर बीसवीं शती के आरम्भ तक सारे देश में कभी यहाँ और कभी वहाँ बराबर दुर्भिक्ष पड़ते रहे। करोड़ों की संख्या में भारतीय प्राणों का नाश हुआ, विस्तृत प्रदेश उजड़ गये, महाश्मशान का

दृश्य उपस्थित होता रहा, पर ब्रिटिश प्रभुओं के लिए ब्रिटिश व्यवसाय तथा ब्रिटेन के आर्थिक हित के सिवा दूसरा कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही नहीं था। वे निशंक तथा निःसंकोच हो कर घृणित शोषण में संलग्न रहे और भारतीय दुर्दशा तथा दैन्य की ओर उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखते रहे। भारत जिस बुरी तरह से साम्राज्यवादी लिप्सा का शिकार हो गया था उसकी गाथा करुण तथा हृदय-विदारक है। पर यदि आप तत्कालीन इतिहास पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि यह देश न केवल साम्राज्यवादी विभीषिका का शिकार स्वयं हुआ प्रत्युत साम्राज्यवादियों की घृणित साम्राज्य-साधना में भी सहायक हुआ। उसने अपमान और विदेशी पक्षपात को, शोषण और दलन को, पराधीनता तथा स्वत्वापहरण को स्वयं तो सहन किया ही पर उससे भी बढ़कर लज्जा की बात यह है कि साम्राज्यवादियों के लिए यह संभव हुआ कि वे दूसरे अनेक देशों का दलन करने में तथा उन्हें पराधीन बनाने में भारत का उपयोग कर सकें।

उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में ही यूरप में साम्राज्य-विस्तार की लहर अपनी चरम अवस्था को पहुँच चुकी थी। यूरप के राष्ट्र साम्राज्य-स्थापना के लिए परस्पर प्रतिद्वन्द्विता में भिड़े हुए थे। ब्रिटेन और फ्राँस, पुर्तगाल और हालैंड तो पहले ही से साम्राज्य की खोज और प्रतिष्ठा में संलग्न थे पर अब इटली और जर्मनी भी मैदान में उतरे। इन राष्ट्रों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा तीव्र वेग से चल पड़ी। जिसने जहाँ जगह पायी वहीं अपनी पताका फहरा दी। एशिया के पुराने देश इनकी चपेट खाकर गिर चुके थे। भारत पराधीन हो चुका था। अफ्रिका का तट इनके अधीन था। अमेरिका में यूरोपियन जातियों का उपनिवेश स्थापित हो गया था। यूरप के कुछ राजाओं को सम्राट् बनने का शौक हो चुका था। प्रशिया के राजा

जर्मन-सम्राट् हो चुके थे। महारानी विक्टोरिया भारत की सम्राज्ञी बन चुकी थीं। तात्पर्य यह कि साम्राज्यों के विस्तार और उनकी स्थापना की प्रवृत्ति यूरोपियन राष्ट्रों को पूर्णत: प्रभावित कर चुकी थी। अंगरेज इस नयी धारा में सबके अग्रणी थे। भारत के विशाल भूखंड पर उनकी सत्ता उन्हें साम्राज्याधिपति बना चुकी थी, पर अब भारत का उपयोग साम्राज्य-साधना में करना उनकी नीति का अंग हो गया। ब्रिटिश सरकार ने भारत के धन-जन से सहायता लेकर सन् १८६० में चीन पर आक्रमण किया और चीनी बंदरगाहों पर अधिकार स्थापित कर लिया। चीन पर यह आक्रमण दूसरे अफीम-युद्ध के नाम से विख्यात है जिसका खर्च भारत के ऊपर लाद दिया गया। आगे चलकर सन् १८६४—६५ ईसवी से तो चीन का ८० प्रतिशत प्रदेश यूरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रों के 'प्रभाव-क्षेत्रों' में बँट गया। सन् १६०० ईसवी के 'बौन्सर' युद्ध में तो चीन को बुरी तरह कुचल दिया गया और उसकी छाती पर विदेशी सेना लाद दी गयी। यह सारा कुकृत्य भारतीय सेना की सहायता से किया गया। इसी युग में भारतीय सेना 'न्यूजीलैंड' भी भेजी गयी और वहाँ के पुराने निवासियों को कुचल कर वहाँ ब्रिटिश उपनिवेश बसाने में सहायक हो गयी। इसके बाद अबिसीनिया और मिस्र में, अफगानिस्तान और ईरान में, माल्टा और तुर्क-साम्राज्य के प्रदेशों में. बर्मा और मलाया में, अंगरेजों ने छापा मारा। उन्होंने भारतीय सेना और भारतीय धन तथा साधनों का उपयोग करके इन देशों को करारी चोट मारी। कुछ को पराधीन बनाया, कुछ की नकेल अपने हाथ में की और कुछ को अपने हित के अनुकूल सन्धि करने के लिए बाध्य किया। अफ्रिका और एशिया के अधिकतर प्रदेश भारतीय सेना तथा साधन के द्वारा ही पराधीन बनाये गये। स्वेज की नहर इस समय तक बन चुकी थी।

नहर बनानेवाली कंपनी के अधिकतर हिस्से अंगरेजों के हाथ में आ चुके थे। स्वेज पर उनका नियन्त्रण एशिया और अफ्रिका को दबाये रखने में सहायक हो रहा था। इन परिस्थितियों से लाभ उठाकर उन्होंने न केवल भारत को प्रत्युत भारत के द्वारा दूसरी अभागी जातियों को भी अपने चरणों के नीचे धर रगड़ा।

सन् १८५७ के विद्रोह के बाद भारत में जो धारा बही उसके स्वरूप की ओर संकेत मात्र कर देने की चेष्टा ऊपर की गयी है। यह स्पष्ट हो गया होगा कि गदर के भयावने विस्फोट को बुझाने के बाद अंगरेजी सरकार ने खुलकर भारत का दोहन कर लेने का प्रयास किया। उसकी राजनीतिक पराधीनता की शृंखला जकड़ देने की कोशिश की गयी। उसके आर्थिक शोषण को उग्र कर दिया गया और यदि वह साम्राज्य-लोलुपता का शिकार बनाया गया तो साम्राज्य-विस्तार तथा साम्राज्य-साधना का साधन भी बना दिया गया। उस पर ऋण का बोझ लदता गया, कर-वृद्धि होती गयी, उसका व्यापार-व्यवसाय नष्ट होता गया और उसके हित का बलिदान करके ब्रिटेन का स्वार्थ-साधन किया गया। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के हाथ में देश के शासन का सूत्र था, भारत के वक्षःस्थल में उनके संगीन की नोक धँसी हुई थी, विदेशी सेना उसका गला दबाये हुए थी। स्वयं भारत नैतिक अधःपात और चारित्रिक क्षय तथा सांस्कृतिक पतन के गर्त में पहुँच चुका था। उसमें सचेष्टता का अभाव था, आत्मविश्वास लुप्त था, और राष्ट्रीय जीवन की रचना करने की शक्ति का नाम-निशान भी दिखाई नहीं देता था। चारों ओर अन्धकार व्याप्त था, भयावनी मूर्च्छा छायी हुई थी। इस स्थिति को देखकर ब्रिटिश-शासकों ने स्वभावतः यह समझ लिया होगा कि भारत को उन्होंने इस प्रकार पंगु बना दिया है कि अब अनन्तकाल तक कोई चूँ भी न कर सकेगा। पर काल के

दोलन पर परिस्थिति कभी एक-सी नहीं रह सकती। इतिहास का प्रवाह किसी के मन के अनुसार और इच्छा के अनुकूल प्रवाहित नहीं हुआ करता। जिन परिस्थितियों और घटनाओं को आप अपने हित में समझते हैं उन्हीं के गर्भ से आप पर चोट करनेवाले तत्त्व भी संभूत हो जा सकते हैं। इतिहास की यही है शिक्षा और यही है सत्य।

निशा की निबिड़-तमिस्रा जब छायी रहती है तो क्या टिमटिमाते नक्षत्रों के प्रकाश की उज्ज्वलता प्रखर होकर निखरती दिखाई नहीं देती? यह कब संभव था कि मूर्च्छित महाराष्ट्र में जीवन का स्पन्दन सदा के लिए तिरोहित हो जाता! भारत मर नहीं गया था और न उसे उन कतिपय महाजातियों की भाँति धरती से लुप्त हो जाना था जिन्होंने अतीत में महती संस्कृतियों को जन्म दिया था। फलतः उपर्युक्त निराशाजनक परिस्थिति जब अपने परम विकास पर पहुँच रही थी उसी समय राष्ट्रीय जीवन में गतिशीलता का आविर्भाव भी हुआ। जगत् का इतिहास प्रमाण है इस बात का कि दमन और दलन की प्रतिक्रिया निर्दलित के पुनर्जागरण में ही व्यक्त होती है। जिस साम्राज्यवादी विभीषिका के निष्ठुर आघात में भूमंडल के अनेक राष्ट्र धराशायी हुए थे और जिसने पृथ्वी की छाती पर पराधीनता तथा दोहन की भयावनी आग धधका दी थी उसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एशिया तथा अफ्रिका की जातियों में राष्ट्रीयता की प्राण-संचारिणी लहरी भी प्रवाहित हुई। गत पचास-साठ वर्षों के जगत् के इतिहास पर आप दृष्टिपात करेंगे तो यह पावेंगे कि वे देश जो विजयी साम्राज्य-वादियों की ठोकर खाकर मुँह के बल गिरे पड़े थे, समय आने पर उठने लगे। न केवल यूरप प्रत्युत एशिया और अफ्रिका के राष्ट्रों में भी पुनर्जागरण हुआ। तुर्की और मिस्र में, अरब और ईरान में, अफगानिस्तान और भारत में, बर्मा और मलाया में, चीन और जापान

में राष्ट्रोत्थान का जो प्रयत्न हुआ वह उस नयी लहर का ही सूचक था। भारत इस विश्वव्यापी धारा के प्रभाव से अछूता कैसे रह सकता था ?

अतः सन् १८५७ ईसवी के विद्रोह के बाद जहाँ एक ओर भारतीय परतन्त्रता की शृंखला को जकड़ देने की तथा उसके आर्थिक दोहन और सांस्कृतिक विनिपात की प्रक्रिया को स्थायी बना देने की चेष्टा की गयी वहीं एक समय ऐसा आया जब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का सूत्रपात हुआ। इस प्रतिक्रिया से देश का वह वर्ग सबसे अधिक प्रभावित हुआ जो अंगरेजी भाषा, अंगरेजी वेष और अंगरेजी भाव का भक्त था। भारत का अंगरेजी-शिक्षित समुदाय अंगरेजी-शिक्षा-नीति के गर्भ से उद्भूत हुआ था। अंगरेजों ने इस नीति का संचालन इसलिए नहीं किया था कि एक ऐसा शिक्षित समुदाय उत्पन्न हो जो ब्रिटिश शासकों के शासनाधिकार के विसर्जन के लिए यत्नशील हो। उनकी नीयत सर्वथा इसके विपरीत थी। उन्होंने यह समझा था कि अंगरेजी शिक्षा और दीक्षा से दीक्षित एक ऐसा वर्ग उत्पन्न होगा जो अंगरेजी शासन, अंगरेजी दृष्टि और अंगरेजी भावना का भक्त और सहायक होगा। अंगरेजी शिक्षा का प्रसार किया गया था भारत पर सांस्कृतिक आघात करने के लिए और अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करके अंगरेजी राज की सहायता करनेवाले बाबुओं और क्लर्कों की सृष्टि करने के लिए यह सच है कि अंगरेजी राजनीतिज्ञों और शासकों की उपर्युक्त अकांक्षा और आशा बहुत बड़े अंश में पूर्ण हुई और उन्हें अपनी नीति में दूर तक सफलता भी मिली। पर यह सब होते हुए भी इतिहास का अपना अविरल प्रवाह होता है जो न जाने कितने कल्पित और अकल्पित मार्गों से बहता चलता है। उस पर न किसी का वश है और न जगत् में कोई शक्ति है जो उसे स्वेच्छानुकूल मोड़

देने में समर्थ हो पाती है। आरम्भ में अंगरेजी शिक्षा से शिक्षित जो वर्ग उत्पन्न हुआ वह निस्संदेह अंगरेजी शासन का भक्त हुआ, अंगरेजी सरकार की चाकरी करके परिपालित भी हुआ। पर जहाँ यह हुआ वहीं दूसरा परिणाम भी होना अनिवार्य था। अंगरेजी पढ़े-लिखे वर्ग के लिए यह भी स्वाभाविक था कि वह अंगरेजी साहित्य के द्वारा यूरप के इतिहास, वहाँ की तत्कालीन संभूत नयी विचार-धाराओं तथा वहाँ के नवादर्शों और नव-कल्पनाओं से अभिज्ञ होता, उससे प्रभावित तथा उत्प्रेरित होता। उसमें उस स्फूर्ति और चेतना का विकास अवश्यंभावी था जिसका सर्जन यूरप की नयी वैज्ञानिक संस्कृति तथा लोकतंत्रात्मक भावनाएँ कर रही थीं।

यह सच है कि शिक्षित समुदाय का एक बहुत बड़ा अंश ऐसा था जिसका स्वार्थ अंगरेजी शासन से संबद्ध था। उसका पद, उसकी प्रतिष्ठा, उसकी नौकरी, सब उसी पर निर्भर थी। उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अंगरेजी शासन की दृढ़ता इष्ट समझता। पर इसके साथ ही उसका एक अंश ऐसा भी था जो पाश्चात्य संस्कृति से यदि प्रभावित हुआ तो उसकी उन्नत, प्रगतिशील तथा उत्तम धाराओं से भी ओतप्रोत हुआ! उस धारा ने उसे नयी ज्योति, नया जीवन और नया दृष्टिकोण प्रदान कर दिया जिसके परिणाम-स्वरूप उसका दृष्टिपथ प्रशस्त हुआ, उसे देशप्रेम और राष्ट्रीयता का झिलमिल दर्शन मिला और उसमें भारत के अधिकार तथा उसकी स्वतंत्रता की कल्पना जगी। इसी वर्ग ने आरम्भ में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात किया जो क्रमशः बल ग्रहण करते हुए आज भारतीय जनवर्ग के समस्त जीवन को समूल आलोड़ित कर रहा है। देश में दरिद्रता थी, भूख का नंगा नाच था, अज्ञान और निरक्षरता थी। अंगरेजी शासन का बोझ राष्ट्र के मेरुदंड को विचूर्ण

कर रहा था। सारा भारत व्यापक दमन का शिकार था। ऐसी परिस्थिति स्वभावतः असंतोष की सृष्टि कर देती है। विदेशी शासकों ने यद्यपि भारत को धर दबाया था तथापि असंतोष की आग भीतर ही भीतर सुलगती जा रही थी। फलतः देश जिस बन्धन में पड़ा हुआ था उसकी कड़ियों को ढीला करने की प्रवृत्ति जागने लगी थी। शिक्षित वर्ग का एक समुदाय राष्ट्रीय हृदय की इस आन्तरिक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि से आकृष्ट हुआ और उसके प्रतिनिधि के रूप में अवतरित हुआ।

विद्रोह के बाद जो राष्ट्र आक्रान्त और विश्रान्त होकर पड़ा हुआ था उसमें अब जागरण के लक्षण प्रकट होने लगे। भारत के जिस भाग में अंगरेजी शिक्षा का प्रसार अधिक था वहाँ भारतीय जागरण की ओर संकेत करनेवाली समितियों ने जन्म ग्रहण किया। सन् १८७० ईसवी में पूना में 'सार्वजनिक सभा' की स्थापना हुई। उसके ६ वर्ष बाद कलकत्ते में स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में 'इंडियन असोसियेशन' नामक संस्था संघटित हुई। उसके कुछ वर्ष बाद मद्रास में 'महाजन सभा' तथा बंबई में 'बंबई प्रेसिडेंसी असोसियेशन' ने भी जन्म ग्रहण किया। कलकत्ते में सुरेन्द्र बाबू और आनन्दमोहन बोस, बंबई में फिरोजशाह मेहता तथा बदरुद्दीन तैयबजी आदि महापुरुष इन संस्थाओं के जनक थे। भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था जब इस प्रकार की सभा-समितियों की स्थापना हुई। इन पर स्पष्टतः अंगरेजी परंपरा, ढंग तथा पद्धति का प्रभाव दिखाई देता है। संघटित लोकमत के द्वारा शासन-सत्ता पर प्रभाव डालने और जन-समाज की कठिनाइयों के परिहार की चेष्टा करने का वैध उपाय ब्रिटेन ऐसे लोकतंत्रात्मक राष्ट्रों की परिपाटी थी। इन समितियों की स्थापना का उद्देश्य भी यही था। इनके जन्मदाता अंगरेजी शिक्षा

से निर्मित हुए थे। उनमें से अधिकतर ऐसे थे जो ब्रिटिश भूमि में भी कुछ समय तक प्रवास कर चुके थे। उनके संमुख देश के उद्धार की न कोई दूसरी पद्धति थी और न वे किसी दूसरे मार्ग की कल्पना कर सकते थे। देश का तत्कालीन निश्चेष्ट तथा अधःपतित वातावरण, आत्मविश्वास का व्यापक अभाव, अंगरेजी शिक्षा का प्रभाव आदि बातों ने मिलकर उनकी मनोवृत्ति को जो धारा प्रदान कर दी थी उसमें वे सिवा उपर्युक्त प्रणाली के और किसी ओर झुक ही नहीं सकते थे। वे प्रकृत्या तथा अंगरेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण अंगरेजी शासन के प्रति शत्रुता का भाव नहीं ला सकते थे। उन्हें अंगरेजों की नीयत पर विश्वास था। उन्हें अंगरेजी शासन से होनेवाले अनेक लाभों की अनुभूति हो रही थी और साथ ही उनके हृदय में यह धारणा भी जमकर बैठी हुई थी कि भारतीयों में आज अपने देश के शासन का संपूर्ण उत्तरदायित्व उठाने की योग्यता नहीं है।

यही थी उनकी मूल दृष्टि जिस पर उनकी सारी कार्य-पद्धति और सक्रियता आश्रित थी। ऐसी दशा में उनके लिए सिवा उपर्युक्त पथ के और किसी मार्ग का अवलम्बन करना संभव ही नहीं था। वे समझते थे कि जनता में धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार करके, उसे जागरित करके, उसे योग्य बनाकर, वैध उपायों के द्वारा अंगरेजी सरकार को इस प्रकार प्रभावित करना संभव है कि वह क्रमशः भारतीयों को शासनाधिकार में भागी बनावे। वे समझते थे कि जन-समाज की कठिनाइयों और कष्टों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करके उनके निराकरण में सफलता प्राप्त की जा सकती है। ब्रिटिश जाति की सद्भावना सत्प्रवृत्ति और चरित्र में विश्वास होने के कारण वे यह भी समझते थे कि अंगरेज स्वेच्छा से ही यथावसर भारत को क्रमशः अधिकार प्रदान

करते जायँगे। तात्पर्य यह कि लोकतंत्रात्मक देशों की वैधानिक पद्धति को आधार बनाकर राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्र-पात पहले-पहल इसी समय भारत में हुआ। यद्यपि इन सभा-समितियों का कोई संबंध देश के विशाल जनवर्ग से न था, तथापि लोक-शिक्षण का कार्यारम्भ इनके द्वारा अवश्य हुआ। जो सचेष्टता आरम्भ हुई थी वह केवल थोड़े से अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही परिमित थी। यह शिक्षित-समुदाय देश का वह मध्यम वर्ग था जो अंगरेजों के आगमन तथा परिवर्तित परिस्थिति के फलस्वरूप उत्पन्न हो गया था। इन समितियों का कार्य क्षेत्र उक्त मध्यम श्रेणी के लोगों तक ही परिमित था, फलतः उसके सामने समस्यायेँ भी उन्हीं की थीं और उसकी माँगें भी उन्हीं से संबंध रखनेवाली थीं।

यह सब होते हुए भी इनके द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में लोक-शिक्षा का कार्य अवश्य प्रारम्भ हुआ। सुरेन्द्र बाबू के 'इंडियन असोसियेशन' की अनेक शाखाएँ न केवल बंगाल के कतिपय जिलों में प्रत्युत उत्तर भारत के अनेक स्थानों में स्थापित हुईं। सुरेन्द्र बाबू पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय एकता तथा भारतीय राष्ट्र की विराट् कल्पना की। पहले-पहल उन्होंने ही एक ऐसी अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था के संघटन का स्वप्न देखा जो सारे भारत को एक सूत्र में बाँधकर राष्ट्र के सामूहिक हित के लिए सचेष्ट हो। उनके ऊपर इटली के स्मरणीय विधायक मेजिनी के लेखों का बड़ा प्रभाव पड़ा था और संभवतः भारत की एकता की कल्पना भी उन्होंने उन्हीं से ली थी। फलतः उन्होंने अन्तःप्रान्तीय संबंध स्थापित करने के लिए न केवल यत्न किया प्रत्युत सन् १८८३ ईसवी के दिसंबर में कलकत्ते में समस्त भारत का प्रथम राष्ट्रीय संमेलन संयोजित किया जिसमें बंबई, मद्रास तथा युक्तप्रान्त के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। जिस प्रकार बंगाल

में सुरेन्द्र बाबू और आनन्दमोहन बोस कार्य कर रहे थे ठीक उसी प्रकार दक्षिण भारत में स्वर्गीय श्री दादा भाई नौरोजी के नेतृत्व में फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैयबजी, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, चन्दावरकर आदि नेता काम में लगे हुए थे। श्री दादा भाई नौरोजी ने सन् १८६७ ईसवी में ही इंगलैंड में 'ईस्ट इंडिया असोसियेशन' नामक संस्था की स्थापना की थी और उसके द्वारा ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों का ध्यान भारतीय प्रश्नों की ओर आकर्षित करने का यत्न आरम्भ कर दिया था। इँगलैंड में इस समय तक राजनीतिक दलों का उदय हो चुका था। वहाँ का ब्रिटिश उदार दल (लिबरल पार्टी) प्रगतिशील राजनीतिक विचारों के लिए प्रसिद्ध होने लगा था। ग्लैडस्टन उसी दल के नेता थे। वह समय ऐसा था जब ब्रिटिश उपनिवेशों में स्वतंत्रता का आन्दोलन हो रहा था। ब्रिटेन के सामने आयरलैंड की समस्या उपस्थित थी और आयरिश जनता अपनी स्वतंत्रता की माँग कर रही थी। ब्रिटिश पार्लमेंट की साधारण सभा में उदार दल आयरलैंड तथा अन्य उपनिवेशों के प्रति सहानुभूति-पूर्ण नीति ग्रहण करने का समर्थक था। भारतीय नेताओं का समुदाय इसी कारण ब्रिटिश उदार दल से प्रभावित था और यह विश्वास करता था कि किसी समय यदि शासन का सूत्र उसके हाथों में आवेगा तो भारत के साथ अवश्य न्याय किया जायगा। दादा भाई नौरोजी के 'ईस्ट इंडिया असोसियेशन' के प्रयत्न से तथा सुरेन्द्र बाबू के 'इंडियन असोसियेशन' के प्रचार और उसकी प्रार्थना के फलस्वरूप समय-समय पर ब्रिटेन का उदार दल पार्लमेंट में भारतीय प्रश्नों को भी उठाता था और कभी कभी साधारण सभा में भारत के संबंध में वाद-विवाद भी हुआ करता था। स्मरण रखियेगा कि वह समय था विद्रोह के बाद का और भारत में दमन की विभीषिका छायी हुई थी। लार्ड लिटन जिस समय भारत

के वायसराय थे उस समय भारतीय जागर्ति का पथावरोध न करने के लिए भारत की विदेशी सरकार ने तरह-तरह के उपाय किये। उन्हीं के शासनकाल में 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' बना था जिसका उद्देश्य भारत के समाचार-पत्रों का नियंत्रण तथा उनकी स्वतंत्रता पर आघात करना था। देश में उत्पन्न हुई जागरूकता के फलस्वरूप इस समय तक भारत के सभी प्रान्तों में देशी भाषा के समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगे थे। ये समाचार-पत्र भारतीय समस्याओं पर टीका-टिप्पणी करते थे और जन-जीवन में प्रवेश करके अंगरेजी भाषा से अछूती जनता तक भी पहुँच जाते थे।

लार्ड लिटन की सरकार ने यह आवश्यक समझा कि जागरण के इस प्रतीक का निर्दलन कर दिया जाय और उनका 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' उसी प्रयास का परिणाम था। एक ओर यह स्थिति थी दूसरी ओर भारत की गरीबी और दुर्भिक्ष जीता-जागता प्रश्न हो गया था। गत पृष्ठों में उन अकालों का उल्लेख किया गया है जो इस युगमें देश को महाश्मशान बना रहे थे। इस अवस्था के फलस्वरूप सहज ही असंतोष की वृद्धि हो रही थी पर उसके प्रकटीकरण के लिए कोई मार्ग न था। विदेशी सत्ता बल-पूर्वक जनता की पुकार और असंतुष्टि को दबा देने में संलग्न थी। इंगलैंड में दादा भाई नौरोजी की उक्त संस्था ने तथा भारत में यहाँ के उपर्युक्त नेताओं ने साधारणतः ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का तथा विशेषतः ब्रिटिश उदार दल के नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। ग्लैडस्टन ने पार्लमेंट में इन बातों के संबंध में प्रस्ताव भी उपस्थित किए और यद्यपि प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुए पर भारतीय समस्याओं के संबंध में ब्रिटिश जनता का ध्यान कुछ न कुछ अवश्य आकृष्ट हुआ। इस प्रकार इस युग में हम एक ऐसे शिक्षित समुदाय को प्रादुर्भूत हुआ पाते हैं जो राष्ट्र की समस्याओं की ओर

न केवल ध्यान देने लगा था प्रत्युत उनके सुलझाव के लिए उठती हुई माँग का प्रतिनिधित्व भी कर रहा था। यह सच है कि अब तक किसी अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था की स्थापना नहीं हुई थी और न इस दिशा में देश सर्वभारतीय संघटित प्रयत्न करने में समर्थ हुआ था। पर अब वह लक्षण आ गया था जब ऐसी संस्था के संघटन की आवश्यकता तात्कालिक प्रतीत होने लगी थी। तत्कालीन स्थिति पर दृष्टिपात करें तो आप स्पष्ट देखेंगे कि देश के विभिन्न कोनों में ऐसा वर्ग उत्पन्न हो चला था जिसकी दृष्टि, भावना, कल्पना और आकांक्षा समान थी। वह वर्ग पृथक् पृथक् संस्थाओं को संघटित करके सक्रिय हुआ था पर साथ ही साथ यह अनुभव भी करने लगा था कि देश की आवश्यकता राष्ट्र के सामूहिक तथा सुसंघटित प्रयास की माँग कर रही है। इस अनुभूति की ही अभिव्यक्ति सुरेन्द्र बाबू द्वारा संयोजित वह राष्ट्रीय संमेलन था जिसका उल्लेख पूर्व के पृष्ठ में किया जा चुका है। जिस प्रकार सुरेन्द्र बाबू ने उत्तर भारत में संमेलन का संयोजन किया था उसी प्रकार उसके ठीक एक वर्ष बाद मद्रास के अडयार नामक स्थान में थियोसोफिकल सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर देश के विभिन्न प्रान्तों के उपस्थित प्रतिनिधियों ने अपनी उपस्थिति से लाभ उठाकर अखिल भारतीय संस्था की स्थापना के संबंध में विचार-विमर्श किया।

अडयार में दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग आदि उपस्थित थे। इन लोगों ने मिलकर यह निश्चय किया कि अब वह समय आ गया है जब सर्वभारतीय राजनीतिक संस्था की स्थापना कर दी जाय। इस निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उन्होंने एक विज्ञप्ति वितरित की जिसमें यह कहा गया था कि आगामी वर्ष के दिसंबर में (सन् १८८५ ईसवी) पूना में

'इंडियन नेशनल यूनियन' का संमेलन होगा जिसमें देश के सभी प्रान्तों से अंगरेजी शिक्षित राजनीतिज्ञ प्रतिनिधि रूप में संमिलित होने की कृपा करें। भारतीय नेताओं को अपने उपर्युक्त प्रयत्न में श्री ह्यूम से अत्यधिक सहायता, सहयोग तथा सहानुभूति प्राप्त हुई। श्री ह्यूम इंडियन सिविल-सर्विस के सदस्य थे। उन्होंने भारतीय नेताओं को जो सहायता प्रदान की उसने अखिल भारतीय संस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ह्यूम साहब भारत में उस समय उपस्थित थे जिस समय सन् १८५७ का विद्रोह फूट पड़ा था। भारतीय असंतोष की भयावनी ज्वाला के दर्शन वे स्वयं कर चुके थे। इस समय देश में जो परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी उससे भी वे परिचित थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे दूरदर्शी थे, उनका दृष्टिकोण विस्तृत और उनकी बुद्धि कल्पनाशील तथा समीक्षात्मक थी। उन्होंने अनुभव किया कि भारतीय राष्ट्र के अन्तर्गर्भ में पुनः असंतोष की आग सुलग रही है। दरिद्रता और अकाल, बेकारी तथा शोषण, ब्रिटिश सरकार की नीति तथा भारत में शिक्षित वर्ग का आविर्भाव धीरे-धीरे इस असंतोष को सुलगाता जा रहा है। उन्होंने समझ लिया कि अब वह धारा प्रवाहित हो गयी है जिसे यदि अनुकूल दिशा में मोड़ा न जायगा तो वह पुनः सन् १८५७ की आवृत्ति कर सकती है।

इस अवस्था की उत्पत्ति रोकने के लिए उन्होंने आवश्यक प्रबन्ध करने की कल्पना भी की। उनका विचार था कि ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे एक ओर जनता को अपने मनोभावों को प्रकट करने का अवसर मिले और दूसरी ओर सरकार भी उसके हृद्गत भावों से परिचित हो सके। ह्यूम साहब की पारदर्शिनी दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रही कि भारत का वह वर्ग जो अंगरेजी शिक्षा पद्धति से शिक्षित तथा प्रभावित हुआ है इस कार्य में सहायक हो

सकता है। यह वर्ग अंगरेजी परंपरा, परिपाटी और दृष्टि से न केवल प्रभावित था प्रत्युत उनका भक्त था। ह्यूम साहब का यह समझना सर्वथा स्वाभाविक और उचित था कि यह वर्ग वह कड़ी हो सकता है जो ब्रिटेन और भारत के संबंध को जोड़े रखने में सहायक होगी। वे इस वर्ग की सहज आकांक्षाओं और भावनाओं की ओर सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि डालकर उसे ऐसा अवसर प्रदान करना उचित समझते थे कि वह भारतीय जनता की मनोवृत्ति को इस प्रकार बदल दे कि जनवर्ग विक्षोभ और विद्रोह की ओर न बढ़कर वैध उपायों के अवलम्बन में ही संतोष-लाभ करे। फलतः ह्यूम साहब भारत के अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों की सार्वदेशिक राजनीतिक संस्था की स्थापना को ब्रिटेन के हित के लिए ही आवश्यक समझते थे और उसी भावना को लेकर उन्होंने भारतीय नेताओं के प्रयत्न में सक्रिय सहायता प्रदान की। पर ह्यूम साहब का विचार चाहे जो रहा हो, उन्होंने भारतीय नेताओं की सहायता करके इस देश का जो हित किया है उसके लिए यह राष्ट्र सदा उनका ऋणी रहेगा।

तात्पर्य यह कि तत्कालीन भारत में चतुर्दिक् वह स्थिति और प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी जो देश में सर्वभारतीय राजनीतिक संस्था की स्थापना को अनिवार्य बना रही थी। दादा भाई तथा सुरेन्द्र बाबू आदि नेताओं के द्वारा सन् १८८५ में पूना में 'इंडियन नेशनल यूनियन' का जो प्रथमाधिवेशन संयोजित किया गया था वह उस वर्ष पूना में न होकर बंबई में हुआ। पूना हैजे की भयावनी महामारी से त्रस्त था फलतः उक्त संमेलन उसी वर्ष निर्धारित तिथियों में श्री उमेशचन्द्र बैनर्जी की अध्यक्षता में बंबई में हुआ। इस संमेलन में समस्त भारत से केवल ७२ प्रतिनिधि आये थे। संमेलन ने वहीं

अपना नामकरण किया और 'इंडियन नेशनल यूनियन' 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' के नाम से विख्यात हुआ। भारत की वह राष्ट्रीय महासभा जो आज प्रत्येक भारतीय के हृदय में राष्ट्रीयता की सजीव प्रतिमा के रूप में स्थापित है, जो महिमा-मयी जाह्नवी की भाँति भारत के राष्ट्रीय जीवन का अभिषेक कर रही है इसी प्रकार उद्भूत हुई। उसका आदि रूप यही था और उपर्युक्त परिस्थितियों तथा प्रवृत्तियों ने ही उसे जन्म प्रदान किया। उस समय उसे ब्रिटिश सरकार और उसके कर्मचारियों का आशीर्वाद भी प्राप्त था। वह समय था जब लार्ड डफरिन भारत के वायसराय थे। लार्ड डफरिन ने कांग्रेस के प्रति सहानुभूति प्रकट की थी। सरकारी कर्मचरियों को उसके अधिवेशनों में सम्मिलित होने की अनुमति भी थी। बंबई में प्रथम कांग्रेस के अधिवेशान में इसी कारण बहुत से उच्च सरकारी अधिकारी उपस्थित थे। दूसरे वर्ष कलकत्ते के द्वितीयाधिवेशन में उपस्थित प्रतिनिधियों को स्वयं लार्ड डफरिन ने आमंत्रित किया था और उन्हें भोज दिया। उसके बाद वर्षों तक प्रान्तों के छोटे लाट भी यदा-कदा अधिवेशनों में सम्मिलित हो जाया करते थे। सरकार का जहाँ यह भाव कांग्रेस की ओर तथा भारत के तत्कालीन नेताओं की ओर था वहीं अंगरेजी पढ़े-लिखे नेताओं का भाव भी सरकार की ओर श्रद्धा, विश्वास और सहानुभूति से परिपूर्ण था। कांग्रेस के नेताओं को अंगरेज राज के प्रति अपनी भक्ति-भावना पर बड़ा गर्व था। वे बहुधा अपनी राज-भक्ति की दुहाई दिया करते और उसी के आधार पर सरकार की कृपा तथा उदारता की अपेक्षा किया करते। वे हृदय से यह समझते थे कि अंगरेजों का आगमन भगवान् की परम दया का परिणाम है क्योंकि उससे इस देश का महान् कल्याण हुआ है। ब्रिटिश सरकार की घोषणाओं और उसकी नीति तथा

सद्भाव में भी उन्हें गहरी आस्था थी। उनकी इन धारणाओं की प्रतिच्छाया कांग्रेस की तत्कालीन नीति में स्पष्ट झलकती है।

आरम्भ में कांग्रेस का उद्देश्य शुद्ध राजनीतिक नहीं था और वह सामाजिक सुधारों के लिए भी प्रयत्न करना चाहती थी, पर दो वर्ष बीतते-बीतते दादा भाई नौरोजी ने यह घोषणा की कि वह शुद्ध राजनीतिक संस्था है। शुद्ध राजनीतिक संस्था होते हुए भी कांग्रेस की राजनीति का आधार और उसकी कार्य-पद्धति नेताओं के उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुकूल थी। अंगरेजों के प्रति भक्ति की यह धारा इतनी व्यापक और विस्तृत हो चुकी थी कि अब उससे भारत का वह मुसलमान-समुदाय भी प्रभावित होने लगा था जिसने बीस, पचीस वर्ष पूर्व अंगरेजी सरकार के विरुद्ध हुए महा-विद्रोह में जमकर और बढ़कर योग दिया था। अंगरेजों के आगमन के समय तक इस देश का शासन मुसलमानों के हाथ में था। सन् १८५७ ईसवी तक दिल्ली के राजसिंहासन पर मुसलमान-सम्राट् आसीन था। अंगरेजी सत्ता ने भारत का राज मुसलमानों के हाथ से ही लिया था। स्वाभाविक था कि मुसलिम समुदाय अंगरेजी राज का विरोधी होता। अंगरेजी शासन में उनका आर्थिक अहित भी बहुत हुआ। मुसलमानों ने अंगरेजी शिक्षा से लाभ नहीं उठाया। उन्हें सरकारी नौकरियों में भी इसी कारण जगह न मिलती। बहुत से मुसलमान जमींदारों, जागीरदारों और सरदारों की जमींदारियाँ तथा जागीरें भी जब्त कर ली गयी थीं। भारतीय सेना में मुगल-साम्राज्य के समय मुसलमानों को जो ऊँचे-ऊँचे पद मिलते थे उनसे भी अब वे वंचित थे। भारतीय वस्त्र-व्यवसाय और उद्योग में देश की मुसलिम जनता बुनकारों तथा जुलाहों के रूप में लगी हुई थी। वह भी ब्रिटिश अर्थ-नीति तथा व्यवसाय नीति के कारण बेकार हो रही थी। इन सबके फलस्वरूप

मुसलमान प्रकृत्या अंगरेजी राज से खिंचे रहते थे। पर विद्रोहोत्तर भारत में अंगरेजी शासन के प्रति जो भक्ति-धारा अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों में प्रवाहित हुई उससे मुसलमान भी अछूते नहीं रहे। उनमें भी ऐसे नेता उत्पन्न हुए जिन्होंने यह चेष्टा की कि मुसलमानों का भाव अंगरेजी शासन की ओर से बदले और अंगरेज भी मुसलमानों के विरोधी न रह जाँय। वे चाहते थे कि मुसलमान भी अब ऐसी नीति ग्रहण करें कि अंगरेजी राज से लाभ उठा सकें।

सर सैयद अहमद खाँ इसी प्रवाह के प्रतीक थे। उन्होंने मुसलमानों में यह प्रचार किया कि उन्हें सब प्रकार की राजनीति से अलग होकर अंगरेजी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और अंगरेजी राज से होनेवाले लाभ में हिस्सेदार होना चाहिए। दूसरी ओर उन्होंने अंगरेज सरकार को भी प्रसन्न करने की चेष्टा की और उसके हृदय में मुसलमानों के प्रति जो भी विरोध तथा शंका का भाव था उसे दूर करने का यत्न किया। पुस्तकें लिखकर उन्होंने यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की कि मुसलमान अंगरेजी राज के शत्रु नहीं हैं और न भारत के किसी अन्य वर्ग की अपेक्षा उन्हें कोई अधिक शिकायत अंगरेजों से है। मुसलमानों में अंगरेजी शिक्षा का प्रसार करने के लिए सर सैयद अहमद के प्रयत्न से सन् १८७७ में अलीगढ़ मुसलिम कालेज की स्थापना हुई। सरकार के प्रति मुसलमानों के भाव-परिवर्तन की संभावना उत्पन्न होते देखकर अंगरेजी सरकार ने भी उससे लाभ उठाने का यत्न किया। मुसलमानों को मिलाकर उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन तथा कांग्रेस से अलग रखने की नीति का अवलम्बन करने की चेष्टा इसी समय से आरम्भ हो गयी। इस प्रकार हिन्दू हों या मुसलमान, देश के अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ जो देशभक्त था, जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात

किया पर जिसकी राजनीति, दृष्टि, भावना और धारणा पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ चुका था। उसे पाश्चात्य आदर्शों में आस्था थी, उसके हृदय में अंगरेजी शासन और अंगरेजी सभ्यता के प्रति भक्ति थी और उसे यह विश्वास था कि अंगरेजों के द्वारा ही भारत का हित साधन हो सकेगा। यह मनोवृत्ति उन्नीसवीं शती में उत्पन्न हुई और तदनन्तर दशकों तक भारत के राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करती रही। आज भी उसका सर्वथा लोप नहीं हुआ है यद्यपि उसके बल का क्षय बहुत बड़ी सीमा तक अवश्य हो चुका है। इस मनोवृत्ति से केवल राजनीतिक जीवन ही प्रभावित नहीं हुआ प्रत्युत भारतीय राष्ट्र के जीवन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी प्रभावित हुई। अंगरेजी भाषा, अंगरेजी वेष, अंगरेजी रहन-सहन के सिवा अंगरेजी कला और अंगरेजी साहित्य ने भी भारत की कला और साहित्य पर छाप डाली। उन्नीसवीं शती में भारत के कलाकारों की प्रतिभा पाश्चात्य शैली के सम्मुख अस्त हो गयी थी। इसका प्रमाण रवि वर्मा की वह निर्जीव, स्पन्दन-हीन कला है जिसमें भारतीय कल्पना को पाश्चात्य पद्धति में व्यक्त करने की चेष्टा की गयी है। कालिदास और भवभूति ने, उपनिषद् और गीता ने गेटे और मैक्समूलर को भले ही आश्चर्य में डाल दिया हो पर भारतीय ऐसा मोहित था कि उसे अपनी विभूति और संपत्ति का न तो पता था और न उसके प्रति कोई प्रेम रह गया था। अंगरेजी संस्कृति के प्रभाव ने उसे इस प्रकार अपने वश में कर लिया था कि वह दूसरों की अंजलि से जल ग्रहण करने में ही शिष्टता तथा गौरव का अनुभव करता। जब पराभूत तथा पददलित राष्ट्र अपने विजेता की नकल करने लगे और उसके चरणों में भक्ति प्रदर्शित करने लगे तो यह समझ लेना चाहिए कि उसके घोर सांस्कृतिक और नैतिक पतन की घड़ी आ गयी है। फिर उसके उद्धार की आशा भी नहीं रह जाती।

पर सौभाग्य से भारत पतन की उस अन्तिम सीमा तक नहीं पहुँचा था। निस्संदेह देश में एक ऐसी धारा बही थी जो विदेशियों के प्रति भक्ति से ओत-प्रोत थी; पर जहाँ यह प्रवाह था वहीं उसके समानान्तर दूसरा प्रवाह भी गतिशील था। यदि विद्रोहोत्तर भारत की स्थिति की एक प्रतिक्रिया उपर्युक्त रूप में व्यक्त हुई तो एक दूसरी प्रतिक्रिया भी मूर्त हुई जो सर्वथा दूसरी प्रवृत्तियों को लेकर अग्रसर हुई। अंगरेजों की नीति, उनकी संस्कृति, उनकी शिक्षापद्धति तथा उनके शासन के आघात के कारण भारतीयता आहत हुई थी। भारत न कोई नव-निर्मित राष्ट्र था और न अब तक वह असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य अवस्था में पड़ा हुआ था। उसने उन्नति के युग देखे थे, जीवन का निर्माण किया था, महती संस्कृति को जन्म दिया था। विकास की यात्रा में दूर की मंजिल तै करने का श्रेय उसे प्राप्त हो चुका था। उसके सहस्रों वर्ष के जीवन ने इतिहास का निर्माण किया था और सहस्राब्दियों के इतिहास से उसकी शृंखला-बद्ध परंपरा आविर्भूत हो चुकी थी। सामाजिक क्षेत्र हो अथवा राजनीतिक, सांस्कृतिक हो अथवा नैतिक, ज्ञान का क्षेत्र रहा हो या विचार का, भारत ने जगत् को कुछ न कुछ प्रदान ही किया था। उसका उज्ज्वल अतीत, उसका अपार ऐश्वर्य, मानवता के विकास में उसकी कठोर साधना उसकी ऐतिहासिक आधार-पीठिका के रूप में समुपस्थित थी। जिस देश की ऐसी विभूति रही हो उसकी अपनी प्रतिभा भी रही होगी। वह भारतीय प्रतिभा मूर्च्छित भले ही रही हो, परिस्थितियों तथा राष्ट्र-देह की दुर्बलता ने उसके ओज का क्षय भी भले ही कर दिया रहा हो अथवा काल के अजस्र प्रवाह ने उसे धूमिलता प्रदान कर दी रही हो, पर अब तक उसका सर्वथा विनाश नहीं हुआ था। अंगरेजों ने धरा-स्वामिनी भारतीयता को बलहीना पाकर उस पर पदाघात अवश्य

किया पर यह ठोकर उसके जागरण का कारण भी हुई! कभी-कभी विष भी अमृत का काम कर जाता है। भारत की घृणित पराधीनता और उसके परम पतन की प्रतिक्रिया उसके जागरण का हेतु बन गयी। इस प्रसुप्त महाराष्ट्र की आँखें खुलीं और इसकी विस्मृति दूर होने लगी। उसे अपने अतीत का, अपनी महत्ता का अपनी विभूति का और अपने गौरव का स्मरण होने लगा। उसकी मोहित प्रतिभा ठेस पाकर पुनः जागरूक होने लगी। वह धीरे-धीरे अपने को पहचानने लगा और अपनी गिरी हुई स्थिति की अनुभूति करने लगा। उसने देखा कि उसकी धार्मिकता मोहाच्छन्न राष्ट्र की अन्ध-परंपरा और रूढ़ि-पूजा में, उसका सामाजिक जीवन प्राण-हीना कुरीतियों और रीति-रिवाज में, उसकी राजनीति परमुखापेक्षण, आत्म-समर्पण तथा दूसरों के बूटों को सधन्यवाद मस्तक पर ग्रहण करने में, उसकी सांस्कृतिक गति विदेशियों की नकल करने में समाप्त हो रही है। वह अपना सब कुछ भूल रहा है, सर्वस्व को खोये दे रहा है और आत्मविस्मृत होकर अपने को मिटा देने पर उतारू हो गया है।

अपनी हीन दशा की इस अनुभूति ने उसे विकल और सक्रिय बना दिया। इस अनुभूति ने आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता का सहारा लेकर पतन के मार्ग का अवरोधन करने तथा साहस के साथ परिस्थितियों का सामना करने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी। फलतः आत्म-बोध और आत्मावलम्बन की भावना के परिस्फुरण में दूसरे प्रकार की वह प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई जिसका उल्लेख पूर्व के पृष्ठ में किया गया है। उदीयमान हुई इस प्रवृत्ति ने न केवल अंगरेजी शिक्षा से अपरिचित और अछूते लोगों को प्रभावित किया वरन् धीरे-धीरे पाश्चात्य शिक्षा से दीक्षित लोग भी उसके प्रभाव-क्षेत्र में आये। गदर के बाद उन्नीसवीं शती के चतुर्थ चरण में देश में व्यापक रूप से व्याप्त घोर

अनात्मविश्वास को इस प्रवृत्ति ने कुछ कम किया। इसके फलस्वरूप जो गतिशीलता उत्पन्न हुई और कार्य तथा विचार की जो धारा बही उसमें स्पष्टतः एक विशिष्टता दिखाई देती है। आप गंभीरतापूर्वक देखें तो यह पावेंगे कि उक्त सक्रियता में भारतीयता का गहरा संपुट था। अंगरेजी पढ़े-लिखे वर्ग की राजनीतिक चेतना का उल्लेख करते हुए पूर्व के पृष्ठ में कहा गया है कि उनकी धारणा और भावना तथा दृष्टि पर पाश्चात्य सभ्यता की ही गहरी छाप दिखाई देती है। वे देश-भक्त थे तथा अपने राष्ट्र का कल्याण चाहते थे पर उनके कार्य और उनकी विचार-पद्धति अंगरेजी धारा पकड़ चुकी थी। वे समझते थे कि भारत का कल्याण अंगरेजी शिक्षा से, अंगरेजी सभ्यता से, अंगरेजी शासन से, जीवन के लिए अंगरेजी रंग-ढंग, वेष, भाव, रहन-सहन अपनाने से ही होगा। फलतः देश के हित के लिए तथा देश के अधिकार की प्राप्ति और राष्ट्रीय जीवन की भावी रचना के लिए उन्होंने अपने कार्य और विचार की पद्धति को अंगरेजी भाव और कल्पना पर ही आश्रित किया था।

पर यह प्रस्तुत प्रवृत्ति जिसका उल्लेख मैं कर रहा हूँ सर्वथा दूसरी दिशा से अग्रसर हुई। उसकी आत्मा भारतीय थी, उसकी भावना भारतीय थी, उसकी प्रेरणा के मूल में भारतीयता थी। वह भारतीयता के गौरव को स्मरण करके, भारतीय इतिहास को आधार-शिला बनाकर भारतीय आदर्शों और कल्पनाओं की प्रेरणा लेकर उठी और देश के भविष्य की रचना करने के लिए अग्रसर हुई। उसमें भारत की वह प्रतिभा सक्रिय होने लगी थी जो शताब्दियों की सुषुप्ति के बाद पुनः चैतन्य होने के लक्षण प्रकट करने लगी थी। उसने स्फूर्ति ग्रहण की भारत के उज्ज्वल अतीत से, विकल हुई उसके हीन, पतित तथा लज्जाजनक वर्तमान से और उत्प्रेरित हुई अपने महान् भविष्य की रचना की आशा लेकर।

भारतीयता का यह गहरा सम्मिश्रण ही उसकी विशेषता थी। स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस देव तथा उनके बाद उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द राष्ट्र की उसी प्रवृत्ति से प्रसूत तथा उसी के द्योतक थे। इन्होंने इस देश के मुरझाये हुए जीवन में एक बार पुनः भारतीयता का स्पंदन उत्पन्न किया। पराजित मनोवृत्ति, प्रत्येक भारतीय वस्तु को तुच्छ मान लेने की दृष्टि तथा दूसरों की कृपा में ही अपना कल्याण देखने की हेय भावना का परिमार्जन करके अपने बल से अपने उद्धार की नीति में विश्वास उत्पन्न कर देने में ये महानुभाव बड़ी सीमा तक सफल हुए। स्वामी विवेकानन्द की ओजस्विनी वाणी ने कन्याकुमारी से हिमगिरि तक और गंगा-सागर से लेकर सिन्धु के तट तक भारतीय राष्ट्र को हिला दिया। भारत की सीमा से बाहर अमेरिका में भारतीय महर्षियों द्वारा प्रतिपादित 'अमर-अद्वैत-सिद्धान्त' उच्च स्वर में उन्हीं के द्वारा गूँज उठा। जगत् ने भारतीय बुद्धि की प्रखरता और अति उत्तुंग स्तर से विचार करने की क्षमता का परिचय प्राप्त किया। संसार ने देखा कि जीवन के स्वरूप-दर्शन में भारतीय दृष्टि उस प्रौढ़ता को पहुँच चुकी है जिसका स्पर्श करने में भी पाश्चात्य सभ्यता समर्थ नहीं हुई है।

इस प्रवृत्ति ने भारतीय जन-जीवन में आत्म-विश्वास तथा चेतना की नयी लहरी लहरा दी। भारतीय धीरे-धीरे अपने राष्ट्रीय गौरव की अनुभूति करने लगा। इसी समय भारत के प्राचीन इतिहास के संबंध में हुई नयी खोजों ने भारतीयों की उक्त प्रवृत्ति को और अधिक उत्तेजित किया। बंगाल की रायल-एशियाटिक सोसायटी तथा कनिंघम और बर्जेस सदृश इतिहास के ब्रिटिश विद्वानों ने पुरातत्त्व-संबंधी खोजें कीं। अनेक प्राचीन स्तूपों, लाटों, लेखों और सिक्कों तथा दान-पत्रों के द्वारा जो ऐतिहासिक तत्त्व प्रकट हुए उनसे भारत के महान्

अतीत पर उज्ज्वल प्रकाश पड़ा। भाषा और लिपि-संबंधी गवेषणापूर्ण खोजों ने भारत के प्राचीन वाङ्मय तथा संस्कृत भाषा की प्राचीनता सिद्ध कर दी। धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि भारत उन प्राचीन राष्ट्रों की पंक्ति में अग्रणी स्थान रखता है जिन्होंने अतीत में महती संस्कृतियों का निर्माण करके मानव-जाति की विकास-यात्रा को गति प्रदान की है। इन बातों का प्रभाव भारत के उस अंगरेजी-शिक्षित समुदाय पर भी पड़ना अनिवार्य था जो अपने को भूलकर पश्चिम से आनेवाले प्रकाश से चौंधिया गया था। अपने को हीन, अर्द्धसभ्य तथा उन्नत राष्ट्रों की पंक्ति में स्थान पाने के अयोग्य समझनेवालों ने भी यह अनुभव किया कि धरती पर मस्तक ऊँचा करके चलने का अधिकार उन्हें भी है। जागृति की यह धारा धीरे-धीरे भारतीय जीवन के अंग-प्रत्यंग को परिप्लावित करने लगी। उसके साहित्य और उसकी कला पर, उसकी राजनीति और उसकी सामाजिक स्थिति पर आप इसका प्रभाव पड़ते देखेंगे। आप देखेंगे कि उस काल में भारत की स्वाधीनता और राष्ट्रीयता, उसके अभ्युत्थान और उसके गौरव की प्रतिष्ठा की भावना व्यक्त होती दिखाई देती है।

तत्कालीन बंग-साहित्य और बँगला-कविता में आपको स्वाधीनता की गूँज सुनाई देगी। बंकिम के आदर्श पर दृष्टिपात कीजिये। उनके 'आनन्द-मठ' के संन्यासियों ने भारतीय वसुधा को पावन करनेवाले 'वन्देमातरम्' के द्वारा उस जागरित मंत्र का आवाहन किया जिसने समय पाकर एक-एक भारतीय प्राण को अनुप्राणित कर दिया।

जिस लहर ने बंग-साहित्य को प्रभावित करके बंकिम को जन्म प्रदान किया उसी ने हिन्दी में हरिश्चन्द्र और उर्दू में हाली को, मराठी में चिपलूणकर तथा गुजराती में नर्मद को जन्म दिया। सन् १८७० ईसवी के बाद भारत के अधिकतर प्रांतों में प्रांतीय भाषाओं में समा-

चार-पत्रों का प्रकाशन भी होने लगा था। इन पत्रों में उन पत्रों की संख्या भी कम न थी जो राष्ट्रीय-स्वाधीनता की पुकार करते थे। लोकमान्य तिलक इसी प्रवृत्ति से प्रसूत थे जिन्हें सन् १८८१ ईसवी में ही अपने एक लेख के कारण चार मास कारावास का दंड भोगना पड़ा। यह धारा जिस प्रकार साहित्यिक जीवन को प्रभावित कर रही थी उसी प्रकार राजनीतिक जीवन को बहाने में भी सफल हुई। यह सत्य है कि तत्कालीन भारत की राजनीति की बागडोर देश के उन अंगरेजी पढ़े लिखे लोगों के हाथों में थी जो ब्रिटिश शासन से ही भारत के कल्याण की आशा करते थे। उन्होंने कांग्रेस का संघटन करके राष्ट्रीय आंदोलन का सूत्रपात भी किया था। पर जहाँ देश की राजनीति में उक्त प्रवृत्ति का बोलबाला था वहीं यह दूसरी धारा भी मन्द किन्तु स्थिर गति से बहती चली जा रही थी। अवश्य ही अभी उसकी गंभीर अभिव्यक्ति का समय नहीं आया था पर वह धीरे-धीरे जन-जीवन का स्पर्श करने लगी थी। अंगरेजी सरकार की नीति तथा उसके फल-स्वरूप देश में घटित घटनाओं ने इस प्रवृत्ति को बल प्रदान करने में सहायता पहुँचायी। कांग्रेस के नेताओं को इंगलैंड की सद्भावना और अंगरेजों की सहानुभूति में विश्वास था। वे समझते थे कि कांग्रेस की माँगों के प्रति ब्रिटिश सरकार उदार नीति बरतेगी। आरंभ में अंगरेजों ने कांग्रेस के प्रति सहानुभूति भी प्रकट की। पर यह अवस्था क्षणिक ही थी। अंगरेजों का स्वार्थ भारतीय स्वार्थ का प्रकृत्या विरोधी है। यह संभव ही न था और न संभव है कि दोनों साथ-साथ चल सकें। कांग्रेस की स्थापना में तीन ही चार वर्ष बाद कांग्रेस की ओर से अंगरेज न केवल उदासीन होने लगे प्रत्युत उनका विरोध भी बढ़ने लगा। जैसे-जैसे कांग्रेस का प्रभाव बढ़ता दिखाई दिया वैसे-वैसे सरकार का विरोध भी बढ़ता गया। सन् १८८८

ईसवी में कांग्रेस का जो अधिवेशन प्रयाग में हुआ उसे सरकारी अधिकारियों के विरोध के कारण बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। अधिवेशन के लिए स्थान मिलना भी दुश्कर हो गया। अंगरेजी सरकार की यह नीति तो थी ही साथ-साथ भारतीय आकांक्षाओं की उपेक्षा का भाव भी स्पष्ट होने लगा।

कांग्रेस की स्थापना के दो वर्ष पहले लार्ड रिपन भारत के वायसराय थे। उनकी उदार नीति ने उन्हें भारतीयों में लोक-प्रिय बना दिया था। लार्ड रिपन के शासन-काल में ही स्थानीय स्वायत्त-शासन-संबंधी अधिकार भारतीयों को मिले। उन्हीं के समय किसानों को भूमि पर अधिकार प्रदान करनेवाले कानून का प्रस्ताव किया गया था जो डफ-रिन के समय स्वीकृत हुआ। रिपन के समय में ही प्रसिद्ध इलर्ट बिल उपस्थित किया गया था। उस समय तक भारतीय जजों को यह अधिकार न था कि अंगरेज अपराधियों के मुकदमों पर विचार कर सकें। इलबर्ट बिल के द्वारा लार्ड रिपन ने भारतीय जजों की इस अपमानजनक स्थिति तथा भारतीयों के प्रति वर्ण-भेदमूलक इस दृष्टि का अंत करने की चेष्टा की। उन्होंने भारतीय जजों को भी अंगरेज अभियुक्तों के मामलों पर विचार करने का अधिकार प्रदान करना चाहा। पर इस बिल का उपस्थित किया जाना था कि भारत में रहनेवाले गोरों में आग लग गयी। उनका क्षोभ इस सीमा तक उभड़ा कि उन्होंने लार्ड रिपन का सामाजिक बहिष्कार किया, सरकारी कर्ज का बहिष्कार किया और गोरी सेना को भड़का देने की चेष्टा की। कहा जाता है कि क्षुब्ध गोरों ने यह प्रस्ताव तक किया कि लार्ड रिपन का अपहरण किया जाय और उन्हें बलात् किसी जहाज में रखकर विलायत भेज दिया जाय! भारत की छाती पर विदेशियों का यह दंभ और उनका यह दुस्साहस! वे क्रुद्ध थे इसलिए कि भारत में भारतीए को वह

अधिकार क्यों प्रदान किया जाय जो गोरी चमड़ी को प्राप्त हो। वे रुष्ट थे इसलिए कि विदेशी सरकार का वायसराय भारतीयों को अपमानित और निर्दलित करने के पथ से रंच मात्र भी क्यों हटा ?

लज्जा की बात यह है कि भारत में रहनेवाले गोरों की इस दुर्नीति के सामने अंगरेजी सरकार ने भी सिर झुकाया। रिपन को अंत में झुकना पड़ा और इलबर्ट बिल में गोरों को संतुष्ट करने के लिए संशोधन करना पड़ा। इस आंदोलन में भारत के एग्लोंइंडियन, अंगरेज व्यापारी और ब्रिटिश पत्र-संपादकों ने मिलकर योग दिया और इलबर्ट बिल का विरोध किया था। अंगरेजों की यह दृष्टि देखकर कांग्रेस के उन नेताओं को भी चोट लगी जो अंगरेजी नीति और अंगरेजी शासन पर विश्वास करते थे। धीरे-धीरे उन्होंने भी यह देखा कि कांग्रेस का विरोध सरकार की ओर से तथा भारत-प्रवासी अंगरेजों की ओर से बढ़ता चला जा रहा है। कांग्रेस की मांगों की ऐसी निर्मम उपेक्षा होने लगी कि कांग्रेसी नेता निराश होने लगे। स्मरण रखना चाहिए कि उनके द्वारा उपस्थित की जानेवाली माँगें अति तुच्छ होती थीं। भारत के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की माँग लेकर वे नहीं खड़े होते थे और न समस्त शासनाधिकार के समर्पण की माँग कर रहे थे। वे कहीं कहते कि सैनिक-व्यय घटाया जाय तो वहीं कहते कि नमक-कर घटाया जाय। कहीं भारत में सिविल सर्विस की परीक्षा की मांग करते तो कहीं व्यवस्थापक-सभाओं के सदस्यों की संख्या-वृद्धि की पुकार करते। व्यवस्थापक सभा में सरकार से प्रश्न पूछने अथवा बजट पर वाद-विवाद करने का अधिकार माँगते। इन सब में साथ-साथ अंगरेजी राज के प्रति अपनी भक्ति की दुहाई देते और महारानी की राजभक्त प्रजा होने के नाते छोटे-छोटे अधिकार माँगते। पर कांग्रेस की इन माँगों की पूर्ति तो दूर रही उनका कोई प्रभाव भी सरकार पर न

होता। यह स्पष्ट हो गया सन् १८६२ ईसवी में जब भारत-शासन विधान में पहले पहल कुछ सुधार किये गये। ये सुधार क्या थे सुधारों का मखौल उड़ाना था। उनसे कांग्रेस की उक्त अति तुच्छ माँगों की भी पूर्ति शतांश में नहीं होती थी।

कांग्रेसी नेताओं ने अंगरेजों के प्रति अपने विश्वास के फल-स्वरूप इंगलैंड में भी प्रचार-कार्य आरंभ किया था। सन् १८८६ में ही ब्रिटेन में भारतीय नेताओं ने कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी स्थापित की थी। बाद में 'इंडिया पार्लमेंटरी कमेटी' का संघटन किया गया, 'इंडिया' नामक पत्र प्रकाशित किया गया पर यह सारा प्रयत्न निष्फल गया। अंगरेजी सरकार पर उन सबका रत्ती भर भी प्रभाव न पड़ा। न कांग्रेसी नेताओं को राजभक्ति, न उनका अंगरेज-प्रेम, न उनकी प्रार्थना और न प्रचार फलदायक सिद्ध हुआ। धीरे-धीरे देश ने अनुभव किया कि प्रार्थना और विनती से किसी प्रकार की आशा करना व्यर्थ है। क्रमशः उन लोगों की मोहनिद्रा भी भंग होने लगी जिन्हें ब्रिटेन की सद्भावना और उसकी न्याय-बुद्धि में विश्वास था। इधर यह धारा बहने लगी थी और उधर ब्रिटिश सरकार की नीति अधिकाधिक भयावनी होती चली गयी। उन्नीसवीं शती का अंतिम दशक ऐसा था जिसमें भारत दुर्भिक्षों से बार-बार पीड़ित होता रहा। देश की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। सरकार की मुद्रा और विनिमय की नीति ने भारत के आर्थिक जीवन को तहस-नहस कर दिया था। सन् १८९३ ईसवी के बाद भारत सरकार ने भारत के रुपये की चाँदी घटाकर ११ आने के सिक्के का दाम सोलह आने कर दिया था। इस सांकेतिक और झूठे सिक्के का कोई मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-विनिमय की दृष्टि में नहीं हो सकता था। फलतः अंगरेजी सरकार ने भारतीय रुपये का मूल्य ब्रिटिश

पाउंड के मूल्य पर निर्भर करके पाउंड के मुकाबिले में उसकी विनिमय-दर स्थिर कर दी। अस्वाभाविक और कृत्रिम ढंग से रुपये का मूल्य बढ़ा देने का परिणाम यह हुआ कि भारत के बाजारों में मंदी आयी, अनाज का दाम गिरने लगा। किसान जितनी मालगुजारी अदा करता था उतने की अदायगी करने में उसे पहले की अपेक्षा अधिक गल्ला देना पड़ता। उसकी क्रयशक्ति का ह्रास होने लगा। ग्यारह आने की चाँदी के रुपये को सोलह आने का बनाकर सरकार ने भारतीय जनता पर अप्रत्यक्ष रूप से पैंतालीस प्रतिशत की कर वृद्धि कर दी। भारत के ऊपर गत दशकों में अंगरेजी सरकार ने अरबों का कर्ज लाद दिया था। तरह-तरह के ब्रिटिश पावने भी भारत के सिर लदे थे। भारत से यह खिराज यहाँ के गल्ले और कच्चे माल के रूप में ही इंगलैंड जाया करता था।

सन् १८९७ ईसवी में सारे देश के व्यापक दुर्भिक्ष में लाखों आदमी मरे। पहले दुर्भिक्ष होते थे इसलिए कि गल्ले का अभाव होता था। अब दुर्भिक्ष होने लगे इसलिए कि रुपये का अभाव था। एक ओर देश की यह हालत थी, दूसरी ओर कर-वृद्धि होती जा रही थी, सीमान्त का व्यय-साध्य युद्ध चलता जा रहा था और भारत का आर्थिक शोषण उग्र होता जा रहा था। उसी समय बंबई में भयावना प्लेग भी फूट पड़ा। प्लेग से त्रस्त जनता और उजड़े हुए नगर के निवासियों के प्रति सहानुभूति रखना तो दूर रहा ब्रिटिश कर्मचारी प्लेग-निवारण के नाम पर पीड़ितों को तरह-तरह के कष्ट देने लगे। इस प्रकार सारे देश में व्यापक असंतोष फैलने लगा। दरिद्रता, दैन्य और दासता का अनुभव करने के लिए देश बाध्य हुआ। जब असंतोष उत्पन्न हुआ तो सरकारी दमन का चक्र भी तीव्र वेग से गतिशील हो गया। प्लेग के कारण उत्पन्न रोष के फलस्वरूप पूने में

दो अंगरेज अफसरों की हत्या हो गयी। अब सरकार को दमन करने का नया आधार और नया बहाना मिला। असंतोष के कारणों का परिहार करने की बात तो दूर रही जनता को और अधिक पीसने की चेष्टा आरंभ कर दी गयी। लोकमान्य तिलक को इसी समय दूसरी बार डेढ़ वर्ष के कठिन कारावास का दंड मिला। इन परिस्थितियों में भला वह मनोवृत्ति और धारणा जो अंगरेजी शासन से प्रेम करती थी भारतीय जनता के हृदय को कैसे प्रभावित कर सकती थी? स्वयं उन कांग्रेसवादी नेताओं का जो उक्त धारणा का प्रतिनिधित्व करते थे, प्रभाव उत्तरोत्तर क्षीण होने लगा। उनकी नीति जो उपर्युक्त धारणा पर ही आश्रित थी निष्प्राण दिखाई देने लगी। दूसरी ओर वह प्रवृत्ति जो आत्मनिर्भरता और भारत के गौरव तथा भारतीयता के अभिमान पर अश्रित थी उपर्युक्त स्थिति और घटनाओं का बल ग्रहण करके बढ़ चली। भारतीय जीवन पर क्रमशः उसका प्रभाव बढ़ने लगा।

(४)

नव-प्रवृत्ति का उदय और बंग-विच्छेद

इसी समय भारत की वायसरायल्टी का मुकुट लार्ड कर्जन ने धारण किया और उनके साथ-साथ बीसवीं शताब्दी ने पदार्पण किया। लार्ड कर्जन के शासन और उनकी नीति ने भारत के राष्ट्रीय इतिहास में नये अध्याय का प्रारंभ कर दिया। वे अति अदूरदर्शी और कट्टर-पंथी शासक थे जिनके हृदय में भारतीय आकांक्षा, भारतीय राष्ट्र और भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा तथा विरोध कूट-कूट कर भरा हुआ था। भारत का वायसराय होते ही उनकी दृष्टि भारत के शिक्षित समुदाय पर पड़ी। उन्होंने देखा कि यही जागरूक वर्ग है जो अंगरेजी

सत्ता और अधिकार के लिए किसी समय भयावह हो जा सकता है। उन्हें यह भी पसंद न था कि भारत के काले मनुष्य अंगरेजी पढ़-लिखकर शिक्षित बनने तथा उच्च रहन-सहन अंगीकार करने का साहस करें। यही कारण है कि वे शिक्षित भारतीयों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा करते। दूसरी ओर वे उच्च शिक्षा-व्यवस्था की शिखा को सरकार के हाथों में रखकर उस पर अधिकाधिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए भी उत्सुक थे। वे नहीं चाहते थे कि भारत में उच्च शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार होने पाये। फलतः लार्ड कर्जन ने तत्कालीन भारतीय विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए तथा उन पर सरकारी नियंत्रण, हस्तक्षेप और अधिकार का अधिक विस्तार करने के लिए सन् १९०४ ईसवीमें 'युनिवर्सिटीज़ एक्ट' के नाम से एक कानून बना डाला। भारतीयों के प्रति उनका घृणित विरोध और क्षोभ उस समय प्रकट हुआ जब कलकत्ता विश्वविद्यालय के पदवी-दानोत्सव के अवसर पर चांसलर की हैसियत से भाषण करते हुए उन्होंने भारतीय सभ्यता और भारतीयों के चरित्र पर ही आक्षेप किया। कर्जन की इन बातों से असंतोष की आग सुलग ही रही थी कि सन् १९०५ ईसवी के अक्तूबर मास में उन्होंने बंग-भंग करके उक्त असंतोषाग्नि में घी डाल दिया। बंगालियों ने कर्जन के इस कार्य में अपने देश का अपमान और अपनी राष्ट्रीयता का दमन करने की कुचेष्टा देखी। उन्होंने यह भी देखा कि बंगाल के दो भाग करके सरकार बंगाली मुसलमानों को राष्ट्रीय धारा से पृथक् कर अपनी ओर मिलाना चाहती है और उन्हें यह दिखाना चाहती है कि उन्हीं के हित के लिए बंग-विच्छेद किया जा रहा है।

बंग-भंग करने के एक महीने के बाद ही लार्ड कर्जन तो भारत से बिदा हो गये पर जाते-जाते इस देश में वह असंतोष उत्पन्न कर

गये जो तब से लेकर आज तक सुलग रहा है और निश्चित रूप से तब तक धधकता रहेगा जब तक भारत से अंगरेजी सत्ता का लोप नहीं हो जाता। उनके इस कार्य ने इस देश में वह धारा बहा दी जो आज तक भारत के राष्ट्रीय जीवन को आलोड़ित कर रही है। वे ब्रिटेन और भारत के बीच में वह खाई खोद गये जो कभी पट न सकी और न कदाचित् पट सकेगी। वह प्रवृत्ति जिसका उद्भव सन् १८५७ के विद्रोह के बाद हुआ था, जिसका प्रतिनिधित्व रामकृष्ण और दयानन्द ने किया, जिसने बंकिम और विवेकानन्द को उत्पन्न किया इस घटना के द्वारा असाधारण रूप से परिपुष्ट तथा उत्तेजित हुई। उसने अब तिलक और श्यामजी कृष्ण वर्मा, अरविन्द और विपिनचन्द्र पाल, वारीन्द्र तथा लाजपत राय को जन्म प्रदान किया। ये नेता प्रतीक थे भारत की उस क्रान्तिकारिणी प्रवृत्ति के जो अपने हीन वर्तमान को विनष्ट करके भारतीयता के पुनीत आधार पर स्वाधीन और राष्ट्रीय भविष्य की स्थापना करना चाहते थे। बन्धन की शृंखला को उद्ध्वस्त करके भारत के व्यापक पुनर्जागरण की महाचेष्टा के वे सजीव संकेत थे। वे राष्ट्र की सूत्रात्मा का चतुर्दिक् उत्थान चाहते थे और चाहते थे कि बलिदान, जीवनोत्सर्ग, आत्मनिर्भरता तथा तप के द्वारा यह राष्ट्र अपने कलुष को भस्म करके विशुद्ध तथा परिपूर्ण होकर अवतीर्ण हो। जिस चरित्र के क्षय और आत्मविस्मृति के फलस्वरूप यह राष्ट्र मोहित हुआ था, जो सांस्कृतिक पतन तथा नैतिक अध:पात राष्ट्रीय जीवन को विनष्ट कर रहा था उसका विलोप किये बिना भारतोत्थान की महती क्रिया का संपादन असंभव था। दृढ़ संकल्प, आत्मत्याग तथा सामूहिक संघटन और चेतना तथा सक्रियता के द्वारा ही भारत की राष्ट्रीय देह के विष का परिहार हो सकता था। ये नेता उसी प्रवृत्ति और प्रयास के प्रतिनिधि थे।

भारत की इस पावन प्रवृत्ति को न केवल इस देश की घटनाओं ने प्रत्युत विश्व की तत्कालीन परिस्थिति ने भी प्रोत्साहित किया। सन् १९०४ ईसवी में रूस-जापान-युद्ध में जापान द्वारा रूसी शक्ति पराभूत हुई। यह घटना क्या थी एशियाई देशों की ऐतिहासिक धारा को मोड़ देनेवाली महती प्रेरणा थी। सन् १८७० ईसवी तक जापान एशिया के दूसरे राष्ट्रों की भाँति ही अनुन्नत और निश्चेष्ट था पर उसके बाद ही उसने शक्ति-संचय करने का कार्य प्रारम्भ किया। कुछ वर्षों में वह महा बलशील राष्ट्र के रूप में उद्भूत हुआ और एक पाश्चात्य शक्ति को पराजित करके अपनी शक्तिशीलता का प्रमाण उपस्थित किया। इस घटना ने एशिया की पीड़ित तथा त्रस्त जातियों में स्फूर्ति तथा जीवन फूँक दिया। जो• अब तक बार-बार पश्चिम की श्वेत जातियों से विताड़ित हुई थीं, जो अपना आत्मविश्वास खो चुकी थीं और जो यह समझने लगी थीं कि उनके हित और कल्याण की साधना पश्चिमी जातियों की इच्छा-अनिच्छा अथवा प्रसन्नता-अप्रसन्नता पर ही अवलंबित है वे जापान की सफलता देखकर खिल उठीं। उन्होंने देखा कि अपने प्रयत्न से एशिया की जाति भी पाश्चात्य श्वेत जाति का मान-मर्दन कर सकती है। एशिया की दुर्बल और उत्पीड़ित जातियों में आत्मविश्वास और स्वाभिमान की लहरी लहरा उठी। आप तत्कालीन इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह पावेंगे कि समस्त एशिया-भूखंड में उस समय नव-चेतना का प्रादुर्भाव हुआ है। चीन में उसी समय नयी चेतना के लक्षण प्रकट हुए। रूस में भी क्रान्ति हुई। फारस में भी नयी जागर्ति उत्पन्न हुई। तुर्की में तुर्क युवकों ने विद्रोह का सूत्रपात किया। सर्वत्र राष्ट्रीयता का उदय, जन-स्वतंत्रता का आदर्श, विदेशियों से अपने देश को मुक्त करने का भाव प्रबल हो उठा। भारत इस व्यापक भाव-धारा से वंचित नहीं रह सकता था। फलतः यहाँ

की परिस्थिति के साथ ही विश्व में अन्यत्र घटी घटनाओं ने उसे आन्दोलित कर दिया।

भारत में क्षेत्र प्रस्तुत था, विश्व की घटनाएँ स्फूर्ति प्रदान कर रही थीं फिर अब चाहिए क्या था। देश में प्रचंड आन्दोलन का सर्जन हो गया। यह आन्दोलन आत्मावलम्बन और आत्म-त्याग के आदर्श को लेकर उत्पन्न हुआ। देश की राजनीति ने एक मार्ग पकड़ लिया। जागर्ति के लक्षण सर्वप्रथम बंगाल में दृष्टिगोचर हुए। अन्याय के परिहार के लिए प्रतिरोध का भाव जागरित हो गया। स्वदेशी और बहिष्कार की तेजस्विनी धारा बह चली। 'के बोले माँ तुमी अबले, बहुबलधारिणी, नमामि तारिणी, रिपुदलवारिणी' की ओजस्विनी कल्पना सजीव प्रतिमा बनाकर राष्ट्र के मन-मंदिर में प्रतिष्ठित हो गयी। 'वन्देमातरम्' की पावन गूँज से भारतीय अंतरिक्ष प्रतिध्वनित हो उठा। धीरे-धीरे स्वदेशी और बहिष्कार का आंदोलन बंगाल से महाराष्ट्र और फिर पंजाब, युक्तप्रांत, आंध्र तथा तामिल प्रांतों में भी पहुँचा। बंगाल में 'अनुशीलन समिति' तथा महाराष्ट्र में 'अभिनव भारत-समिति' ने जन्म ग्रहण किया। इस आंदोलन के पीछे जो मनोधारा प्रवाहित थी उसमें विद्रोह का निनाद था, भारतीयता का प्रतिबिंब था, नये ऐतिहासिक युग की गति थी। पर इन सबके साथ-साथ नव-भारत के निर्माण के लिए रचनात्मक प्रतिभा की हिलोर थी। राष्ट्र इसी में वेगपूर्वक बह चला। पूर्ण स्वतंत्रता की कल्पना उदीयमान हुई, अपने प्रयत्न और प्रयास से दासता की शृंखला को विशृंखल करने का भाव जागरित हुआ और यह विश्वास प्रबल हुआ कि इस देश का उत्थान अनिवार्य है। इस महती और व्यापिनी धारा में राष्ट्र की आत्मा ने अवगाहन किया, उसे सुर-तरंगिणी की भाँति मंगल-मयी समझा। इस आंदोलन के नेताओं के

लिए तो उसमें आध्यात्मिक साधना का पथ दिखाई दिया। शताब्दियों की परंपरा ने भारतीय जीवन के अंग-प्रत्यंग पर धार्मिक दृष्टि की छाप डाली है। फिर जो चेतना भारतीयता से ओतप्रोत मूर्त हुई हो उससे उद्‌भूत नेताओं और कार्यकर्ताओं में धार्मिक प्रवृत्ति और दृष्टि तथा भारतीय कल्पना और भावना की अभिव्यक्ति नितान्त अनिवार्य थी।

स्वदेशी आंदोलन केवल बाह्यतः नहीं किन्तु अंतरतः भी स्वदेशी था। उसकी आत्मा, उसकी भावना और उसकी दृष्टि भारतीय राष्ट्र की राष्ट्रीय मनःप्रवृत्ति के, उसकी परंपरा और प्रतिभा के अनुकूल थी। उसका सब कुछ भारतीय था और उसकी दृष्टि में एक मात्र भारत ही छाया हुआ था। यही कारण था कि उसने राष्ट्र को अकल्पित रूप से प्रभावित किया। यही कारण था कि उसमें रचना करने की शक्ति आयी। स्वदेशी और बहिष्कार ये दो प्रवृत्तियाँ साथ-साथ उद्‌भूत हुईं। बहिष्कार केवल विदेशी वस्त्रों का नहीं था प्रत्युत उन समस्त विदेशी-तत्त्वों का जो भारतीय पराधीनता के चिह्न थे। विदेशी सरकार, विदेशी सरकार की नौकरी, विदेशी शिक्षा, विदेशी हाव-भाव, दृष्टिकोण तथा विदेशी भेष, भाषा और संस्कृति सबका बहिष्कार था। स्वदेशी से तात्पर्य न केवल स्वदेशी वस्त्र से था, अपितु स्वदेशी शिक्षा, स्वदेशी संस्कृति, स्वदेशाभिमान, स्वदेशी शासन, स्वदेशी संघटन और स्वदेशी ही भेष, भाव तथा आदर्श से था। क्या इसमें दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट नहीं हैं? विदेशी को मिटाना और स्वदेशी की रचना तथा स्थापना। आहत भारतीय राष्ट्र इन दोनों प्रवृत्तियों को लेकर अग्रसर हुआ और उसकी यह गति स्वदेशी आंदोलन में व्यक्त हुई। यही युग था जब विशेष रूप से जगह-जगह स्वदेशी कारखाने खुलने लगे। राष्ट्रीय शिक्षा का सूत्रपात भी इसी समय से हुआ। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द का गुरुकुल तो स्थापित हो ही चुका था

बंगाल में भी जातीय शिक्षा-परिषद् स्थापित हुई। इसके द्वारा प्रवर्तित कलकत्ते का शिल्प-विद्यालय अब तक प्रसिद्ध है।

राष्ट्रीयतावादी पत्रों की संख्या में भी अति वृद्धि हुई। अनेक स्थानों में राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हुए। बंगाल के अनेक स्थानों में सरकारी अदालतों का बहिष्कार हुआ और स्थानीय पंचायतें स्थापित कर दी गयीं। स्वदेशी आंदोलन ने अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों के उस वर्ग का, जो अंगरेजी भेष और दृष्टि का समर्थक था, जो अंगरेजी सरकार की नौकरी से प्रतिष्ठित होता था, आदर-संमान अच्छी तरह डिगा दिया। अपने को भारतीय कहने में भी जिन्हें लज्जा आती थी उन्होंने देखा कि भारतीयता उनकी पराधीन जघन्य मनोवृत्ति से कहीं अधिक संमानित और आदरणीय है। साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान का क्षेत्र भी इससे अछूता न रहा। रवि बाबू के गीतों में इसी की स्वर-लहरी थी। अवनीन्द्र की विचार-शैली में भारतीय भाव और कल्पना ही मूलतः व्यक्त हुई। तिलक के 'गीतारहस्य' उनके 'ओरायन' और 'आर्टिक होम इन दि वेदज' में वही भारतीय गौरव व्यक्त हुआ। आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय न केवल अपने विज्ञान के कारण प्रसिद्ध हुए प्रत्युत उनके 'बंगाल केमिकल वर्क्स' ने देश और विदेश में ख्याति प्राप्त की। अरविन्द उसी की महती देन हैं। राजनीतिक क्षेत्र में स्वयं कांग्रेस भी इससे प्रभावित हुई। अंगरेजी के उपासक भी स्वदेशी के प्रचंड प्रवाह में बहने को बाध्य हुए। सन् १६०६ ईसवी में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। दादाभाई नौरोजी उसके अध्यक्ष थे। इस कांग्रेस में उन्होंने ही पहले-पहल 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण किया। आज यह शब्द भारतीय राष्ट्रीय संघर्ष का लक्ष्य-बिन्दु है। कोटि-कोटि नर-नारियों के लिए यह जीता-जागता मंत्र है। उक्त प्रवृत्ति ने ही दादाभाई के मुख से इस शब्द का उद्भव कराया। भारत की राजनीति में इसी

प्रवृत्ति ने उस वर्ग को उत्पन्न किया जिसके लिए 'स्वराज्य जन्मसिद्ध अधिकार था' और जिसे प्राप्त करने के लिए उसने दृढ़ संकल्प कर लिया था। 'गरम दल' के नाम से विख्यात, भारत की पूर्ण स्वाधीनता का अभिलाषी, राजनीतिक समूह इसी युग की उत्पत्ति था।

सारांश यह है कि स्वदेशी आंदोलन विशुद्ध भारतीयता की वह उत्ताल तरंग थी जिसने सारे राष्ट्र को आपादमस्तक आलोड़ित कर दिया। देश की इस अपूर्व तथा चतुर्मुखी जागर्ति को देखकर ब्रिटिश सत्ता हिल उठी। जनता के हृदय से दूर केवल शक्ति के सहारे टिकने वाली शासन सत्ताएँ जिस मार्ग का अवलंबन करती हैं उसी मार्ग का अवलंबन अंगरेजी सरकार ने भी किया। सारे देश में व्यापक दमन प्रारंभ हो गया। 'वन्देमातरम्' का शब्दघोष भी अपराध हो गया। नये-नये कानूनों की रचना करके आंदोलन को दबाने की चेष्टा की गयी। सन् १९०७ ईसवी में राजनीतिक सभाओं को रोकने के लिए भी कानून बना डाला गया। लाला लाजपत राय और सरदार अजीत-सिंह १८१८ रेगुलेशन ३ के अनुसार देश से निर्वासित कर दिये गये। कलकत्ते में अनेक युवक बेतों से पीटे गये। खुले राजनीतिक आंदोलनों को दबाने की चेष्टा सदा भयावनी हुआ करती है। दमन की निरर्थकता तो इतिहास-प्रसिद्ध है पर कभी शासकों ने उससे शिक्षा ग्रहण न की। असंतोष के कारणों का निराकरण किये बिना शक्ति के द्वारा उसे कुचल देने का प्रयत्न भले ही उसकी प्रदीप्त शिखा को बुझाता दिखाई दे पर अन्तर्गर्भ में वह आग दहकती ही रहती है। जब असंतोष की अभिव्यक्ति को बलपूर्वक रोकने की चेष्टा की गई तो सारा आंदोलन अंतर्मुखी हो गया। कांग्रेस के 'नरम दल' के नेता तो राष्ट्रीय आंदोलन की उग्रता और सरकारी क्रोध की वृद्धि देखकर पीछे हटने लगे।

फलस्वरूप १६०७ के कांग्रेस अधिवेशन में दोनों दलों का स्पष्ट विच्छेद हो गया। कांग्रेस पर 'नरम दल' वादियों का अधिकार बना रहा और 'गरम दल' वालों पर सरकारी आघात का वेग बढ़ता गया। दमन की उग्रता, असंतोष की अभिवृद्धि तथा खुले राजनीतिक कार्यों के लिए मार्ग के बंद हो जाने के कारण देश के युवक-वर्ग ने गुप्त समितियों, और विप्लवात्मक कार्यों की शरण ली। देश में कतिपय राजनीतिक हत्याएँ हुईं। सरकारी निरंकुशता को अब खुल-खेलने का अवसर मिल गया। दमन की धारा और भी तीव्र हो उठी। लोकमान्य तिलक को ६ वर्ष के कठिन कारावास का दंड मिला। वारीन्द्र घोष आदि कतिपय व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। बंगाल के नौ नेता निर्वासित किये गये, ढाका की अनुशीलन समिति तथा तत्सम अन्य कतिपय सभा-समितियाँ गैरकानूनी घोषित की गयीं, प्रेस की जब्ती का कानून बनाकर उसकी स्वतंत्रता का गला घोंट दिया गया। 'क्रिमिनल ला एमेंडमेंट एक्ट' की रचना कर सभा समितियों की बंदी तथा षड्यंत्र के मामलों में सरसरी फैसला करने का अधिकार प्राप्त कर लिया गया। बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, तामिलनाड आदि में घोर दमन हुआ। सन् १६०६ में पंजाब में आरंभ हुई गिरफ्तारियों से बचकर सरदार अजीतसिंह, सूफी अंबाप्रसाद, लाला हरदयाल भारत छोड़ निकल भागे। बंगाल के सिवा नासिक, सितारा, ग्वालियर और तिनेवली आदि स्थानों में षड्यंत्र के कतिपय मुकदमे चले। न जाने कितने नवयुवकों को प्राणदंड मिला। आजीवन कारावास, देश-निर्वासन, लंबी अवधि की सजाओं तथा तरह-तरह की यातना प्रदान करके देश की उमड़ती हुई शक्ति और स्वतंत्रता की अभिलाषा को कुचलने की चेष्टा की गयी।

पर अंगरेजी सरकार ने केवल दमन से ही काम नहीं लिया।

राजनीति के चतुरंग का प्रयोग भारतीय जागर्ति के मिटाने के लिए किया गया। यदि दंड के द्वारा दमन की नीति बरती गयी तो मुसलमानों में सांप्रदायिकता का बीज बोकर भेदनीति का प्रवर्तन भी किया गया। उधर थोड़े से शासन-सुधार की योजना उपस्थित करके 'साम' नीति का आश्रय लिया गया तो उक्त सुधार के द्वारा बड़े-बड़े व्यापारियों, जमींदारों और पूँजीपतियों को व्यवस्थापक सभा में अधिक और विशेष प्रतिनिधित्व देकर उन्हें मिलाने की चेष्टा भी की गयी। लार्ड कर्जन के बाद भारत का शासन-सूत्र लार्ड मिंटो के हाथों में आया। उन्हें तत्काल ही भारतीय राष्ट्रीय जागर्ति से निबटना पड़ा। आज यह बात इतिहास से सिद्ध हो चुकी है कि लार्ड मिंटो के इशारे पर और उनके उभाड़ने पर सर आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों का एक डेपुटेशन उनसे मिला और यह प्रार्थना की कि यदि देश में शासन-सुधार होनेवाला हो तथा जनता को कुछ अधिकार मिलनेवाले हों तो मुसलमानों को अपने प्रतिनिधियों का चुनाव पृथक् रूप से करने का अधिकार मिले। यह सारा कुचक्र मिंटो का ही रचा हुआ था फलतः इस डेपुटेशन की प्रार्थना उन्होंने स्वीकार कर ली। इसी समय भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति राज-भक्ति बढ़ाने के लिए 'मुसलिम लीग' की स्थापना की गयी। सन् १९०९ ईसवी में 'मार्ले-मिंटो सुधार' के नाम से जो योजना भारत के सिर पर लादी गयी उसमें मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दे दिया गया।

यह कहा जा चुका है कि मुसलमानों को भारत के राष्ट्रीय आंदोलन से अलग रखने के लिए तथा उन्हें अँगरेजी सरकार की ओर मिला लेने के लिए तो पहले से ही चेष्टा आरंभ हो गयी थी। सर सैयद अहमद खाँ इसमें अँगरेजी सरकार के सहायक भी हुए। फलतः

जैसे-जैसे राष्ट्रीयता और भारतीय जागर्त्ति बलवती होती गयी वैसे-वैसे मुसलमानों को अलग करने के लिए नयी-नयी नीति भी जन्म-ग्रहण करती गयी। स्वदेशी आंदोलन के समय भी मुसलमानों में यही प्रचार किया गया कि 'सरकार ने मुसलमानों के हित के लिए ही बंग-विच्छेद किया है। बंगाल के पूर्वी जिले और आसाम को मिलाकर ऐसे प्रांत की रचना करने की चेष्टा की गयी है जिसमें मुसलमान बहुसंख्यक हैं। हिन्दू इसका विरोध कर रहे हैं क्योंकि वे मुसलमानों के हित के विरोधी हैं।' इस प्रचार का मुसलमानों पर बड़ा प्रभाव हुआ जिसके फलस्वरूप वे स्वदेशी आंदोलन से अलग ही रहे। सांप्रदायिकता के आधार पर आज से चालीस-पचास वर्ष पूर्व अंगरेजी सरकार ने हिन्दू-मुसलिम समस्या का जो बीज-वपन किया वही क्रमशः अंकुरित और पल्लवित हुआ और आज विशाल विष-वृक्ष होकर भारत के राष्ट्रीय जीवन को विनष्ट कर रहा है। पाकिस्तान की माँग और दो राष्ट्रों का सिद्धान्त वास्तव में उसी मनोवृत्ति का विकसित रूप है जिसका सर्जन अंगरेजी सरकार ने पृथक् निर्वाचन देकर मुसलिम लीग की स्थापना कराकर तथा मुसलमानों को राष्ट्रीयता की पावनी धारा से अलग रख कर किया था। सांप्रदायिकता की अभिवृद्धि की प्रतिक्रिया अनिवार्यतः दूसरे क्षेत्रों में भी हुई। मुसलिम लीग की देखादेखी सन् १९०९ ईसवी में हिन्दू महासभा की स्थापना भी हुई। मुसलमानों को उभाड़ कर उनसे यह माँग करायी गयी कि आगामी जन-गणना में अछूतों को हिन्दू न लिखा जाय। यद्यपि हिन्दुओं के विरोध के कारण ऐसा हो न सका तथापि अछूतों के एक वर्ग में तब से पार्थक्य और सांप्रदायिकता का बीज डाल दिया गया।

अंगरेजी सरकार की इस भेद-नीति ने भारत की अंकुरित होती हुई राष्ट्रीयता की कोमल लतिका पर भयावना तुषारपात कर दिया! अंग-

रेजी सरकार ने इस नीति के द्वारा दो लक्ष्य सिद्ध करना चाहा। पहला उद्देश्य तो यह था कि मुसलमानों को अंगरेजी सरकार का भक्त बना लिया जाय और दूसरा लक्ष्य यह था कि भारतीय राष्ट्र की शक्ति और विकास को कुंठित कर दिया जाय। जहाँ तक प्रथम लक्ष्य का संबंध है अंगरेजी सरकार सफल न हो सकी। वह क्षण शीघ्र ही आ पहुँचा जब घटनाओं ने भारत के मुसलमानों की आँखें भी खोल दीं और अंगरेजी सरकार के प्रति उनके भाव में गहरा परिवर्तन कर दिया। परिस्थितियों ने उन्हें राजभक्त बने रहने नहीं दिया। लार्ड मिंटो के जाने के बाद लार्ड हार्डिंज सन् १९१० ईसवी में भारत के वायसराय हुए। इसके एक वर्ष बाद सम्राट् पंचम जार्ज के राज्याभिषेक के अवसर पर बंग-भंग के रद्द होने की घोषणा की गयी। अब तक मुसलमानों से यही कहा गया था कि बंगविच्छेद तुम्हारे हित के लिए किया गया है। पूर्वी बंगाल और आसाम में मुसलमानों की जनसंख्या अधिक थी, ढाका उनका प्रसिद्ध नगर था, नवाबों के समय मुर्शिदाबाद राजधानी थी। बंग-भंग से मुसलमानों की पुरानी स्मृति जागरित हुई थी और उन्होंने यह समझा था कि उनका अतीत गौरव पुनः वापस आनेवाला है। पर बंग-भंग के रद्द होने से उनकी सारी आशा धूल में मिल गयी। उन्होंने देखा कि इस नीति का अवलंबन न मुसलमानों के हित के लिए किया गया था और न उनके प्रेम के वशीभूत होकर। अंगरेजी सरकार के सामने अपना स्वार्थ था, अपनी सुविधा थी और अपना हित था। सुविधा की दृष्टि से उसने बंग-भंग किया और उसी दृष्टि से जब चाहा उसे रद्द कर दिया। फलतः मुसलमानों का विश्वास अंगरेजों की नीयत पर से डिगने लगा। इसी समय भूमंडल में अन्यत्र घटी घटनाओं ने भी भारतीय मुसलमानों को प्रभावित किया। सन् १९११ ईसवी में इटली ने उत्तर अफ्रिका में तुर्क साम्राज्य के अधीनस्थ

प्रदेश लिबिया पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी त्रिपोली पर अधिकार स्थापित कर लिया। तुर्कों ने इटालियन सेना का अवरोधन करने की चेष्टा की पर ब्रिटिश सरकार इसमें बाधक हुई। मिश्र इस समय तक यद्यपि विधानतः ओन्टोमन साम्राज्य के अधीन था पर व्यवहारतः उस पर ब्रिटिश अधिकार स्थापित था। जब तुर्कों की सेना मिश्र के रास्ते लिबिया में इटालियनों का सामना करने के लिए बढ़ी तो अंगरेजों ने उसे उक्त मार्ग से जाने नहीं दिया। तुर्कों को इसी कारण लिबिया से हाथ धोना पड़ा। यह हो ही रहा था कि बालकन्स के समस्त ईसाई राष्ट्रों ने मिलकर सन् १९१२ ईसवी में तुर्की पर आक्रमण कर दिया। बालकन्स के राष्ट्रों के इतिहास में यह पहला अवसर था जब वे सब एकता के सूत्र में आबद्ध होकर तुर्की को हड़प लेने के लिए अग्रसर हुए। उन्हें यह सह्य न था कि उनके मध्य में तुर्कों का अ-ईसाई प्रदेश रहे। फलतः सबने एक साथ ही आघात करने की चेष्टा की। यह युद्ध जगत् के ईसाई और मुसलमान जातियों के युद्ध के रूप में जगत् के सामने प्रस्तुत हुआ। इस युद्ध में ब्रिटिश सरकार ने बालकन्स के ईसाई राष्ट्रों का साथ दिया।

भारत के मुसलमानों की सहानुभूति स्वभावतः तुर्कों के साथ थी। जगत् के मुसलमान तुर्की के खलीफा में इसलाम की जीवित प्रतिमा के दर्शन करते थे। युरोप के ईसाई राष्ट्रों के भाव तथा तुर्की के प्रति ब्रिटिश सरकार के व्यवहार से भारत के मुसलमान अत्यन्त असंतुष्ट हुए। यह युग था जब मुसलिम जगत् में नयी चेतना उद्भूत हुई थी। मिश्र, फ़ारस और तुर्की में इसी समय नयी जागर्त्ति हुई थी। फलतः युरोपियन ईसाई राष्ट्रों के व्यवहार से सारे मुसलिम जगत् में गहरा क्षोभ उत्पन्न होता दृष्टिगोचर हुआ। 'पानइसलामिज्म' के रूप में व्यक्त हुई प्रवृत्ति उसी की प्रतिक्रिया थी। जगत् के समस्त मुसलिम राष्ट्रों को एक सूत्र

में आबद्ध करके और उन्हें तुर्की के खलीफा के झंडे के नीचे, तुर्क नेतृत्व में खड़ा करके प्रबल मुसलिम शक्ति के उदय का स्वप्न तत्कालीन मुसलिम नेता देखने लगे थे। सैयद जमालुद्दीन अफगानी का नाम इतिहास-प्रसिद्ध है। वे अपने युग के आदरणीय मुसलिम संत, उत्कट विद्वान् और गंभीर दार्शनिक समझे जाते थे। कहते हैं कि मिश्र, तुर्की और फारस की तत्कालीन नवजागर्त्ति के वे ही नेता थे और 'पान इसलाम' के आंदोलन के वे ही जन्मदाता भी थे। सैयद जमालुद्दीन कुछ समय तक भारत में भी रहे थे। फलतः भारत के मुसलमान भी मुसलिम जगत् में नवोद्भूत इस धारा से प्रभावित हुए थे। 'पानइसलाम' का आंदोलन स्वरूपतः और स्वभावतः युरोप के ईसाई राष्ट्रों का विरोधी था। अंगरेजों से तो मुसलमानों को विशेष चिढ़ हो ही गयी थी, क्योंकि भूमध्य-सागर पर अपनी प्रभुता बनाये रखने के लिए अंगरेज तुर्क साम्राज्य के भूमध्यतटवर्ती प्रदेशों की और मध्य-पूर्व के मुसलिम राष्ट्रों की नकेल अपने हाथ में रखना चाहते थे। इन सब कारणों से भारतीय मुसलमान धीरे-धीरे अंगरेजी सरकार के विरोधी होने लगे थे। भारतीय मुसलमानों का यही भाव गत महायुद्ध के बाद उस समय खिलाफत आंदोलन के रूप में व्यक्त हुआ जब पराजित तुर्की की छाती पर अंगरेज चढ़ बैठे और कुस्तुन्तुनिया को अपनी मुट्ठी में कर लिया। इन सबके फलस्वरूप अंगरेजी सरकार भारत के मुसलमानों को राजभक्त बनाने में सफलता न प्राप्त कर सकी। इस देश की मुसलिम जनता आज भी ब्रिटिश विरोधिनी है इसमें संदेह नहीं।

पर जहाँ यह लक्ष्य अंगरेज पूरा न कर सके वहाँ दूसरे उद्देश्य की सिद्धि करने में भली भाँति समर्थ हुए। सांप्रदायिकता को उत्तेजित करके भारत की राष्ट्रीयता की स्थापना के मार्ग का अवरोधन तथा राष्ट्रीय शक्ति के विघटन में उनकी नीति निस्संदेह सफल हुई। भेद और

पृथक्ता के भावों का सर्जन करके भारत के हिन्दू-मुसलमानों को भिड़ाने और दोनों के पारस्परिक कलह से लाभ उठाकर स्वयं अपने को जमाने में वे ऐसे सफल हुए कि भारतीय स्वतंत्रता की नौका इस भयावनी चट्टान से बार-बार टकराकर बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गयी। कुछ तो भारत की गुलामी, कुछ अंगरेजों के आगमन के पूर्व का शताब्दियों का इतिहास, कुछ भारत के हिन्दू मुसलमानों के चरित्र तथा संस्कृति का अधःपात इसमें अंगरेजों का सहायक हुआ। पूर्व के पृष्ठ में कह चुका हूँ कि भारत के हिन्दुओं की अन्तःशक्ति और उनकी कल्पना-शक्ति तथा संस्कृति का इतना क्षय हो चुका था कि मुसलमानों के आगमन को वे पचा न सके। भय से त्रस्त पलायन-मुखी हिन्दू जनता ने मुसलिम-शक्ति को सामने पाकर अपने को ऐसे प्रचंड प्रकोष्ठ में घेर लेने की चेष्टा की हिन्दू और मुसलमान का भेद-भाव सजीव बना रह गया। फलतः दोनों संस्कृतियाँ बहुत दिनों तक परस्पर टकराती रहीं। धीरे-धीरे वह समय आया जब संतों की चेष्टा के फलस्वरूप दोनों का सम्मिश्रण आरंभ हुआ पर इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह प्रक्रिया प्रौढ़ स्थिति में पहुँच भी नहीं पाई थी कि कुछ मुसलिम शासकों की अदूरदर्शिता तथा उसके बाद ही अंगरेजों के आगमन से उसकी गति रुक गयी। फिर तो अंगरेजी सरकार ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिए इन दोनों के बीच की खाई को अधिकाधिक गहरी करते जाने में ही सारी शक्ति लगा दी। वह ऐतिहासिक पार्थक्य, वह परंपरागत संदेह और पारस्परिक अविश्वास, कदाचित् मिट गया होता यदि अंगरेज इस देश में न आये होते। पर घटनाओं ने जो गति पकड़ी और अंगरेजों ने जो नीति ग्रहण की उसके फलस्वरूप सांप्रदायिकता बढ़ती ही गयी। सांप्रदायिकता के इस भाव, हिन्दू-मुसलमानों के परस्पर के अविश्वास, आशंका और

संदेह का निराकरण मुसलमानों का ब्रिटिश विरोधी भाव भी न कर सका। यदि वे अंगरेजों के विरोधी हैं तो हिन्दुओं को भी अपना न मान सके और भारत को अपनी मातृभूमि भी न समझ सके। हिन्दू भी यदि अपने देश की स्वतंत्रता का इच्छुक है तो मुसलमान को अपना न सका और न ऐसी भारतीय संस्कृति की कल्पना कर सका जो बाहर से आनेवाली सभी धारा का पान कर जाती और उसे अपना अंग बनाकर, समन्वय और सामंजस्य के द्वारा उन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव कर सकती जो भारतीयता की विस्तृत छत्रछाया में नव-राष्ट्र का आविर्भाव संभव बना सकती।

मुसलिम समाज में उत्पन्न हुई यह मनोवृत्ति तब से लेकर आज तक बनी हुई है! अंगरेजों के विरुद्ध जो भाव मुसलमानों में जागरित हुआ उसके फलस्वरूप सन् १९१३ में मुसलिम लीग का स्वरूप-परिवर्तन भी हुआ। जहाँ मुसलिम लीग की स्थापना के समय उसका लक्ष्य मुसलमानों में राज-भक्ति की भावना भरना था वहीं सन् १९१३ में मुसलिम लीग का लक्ष्य भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना हो गया। पर ब्रिटिश विरोधी भाव के होते हुए भी मुसलिम समाज साधारणतः सांप्रदायिकता के दलदल में फँसा रह गया। औपनिवेशिक स्वराज्य को लक्ष्य स्वीकार करके उसने ब्रिटिश विरोधी भाव का जहाँ परिचय दिया वहाँ पृथक्-निर्वाचन और अतिरिक्त प्रतिनिधित्व, संरक्षण और नौकरियों में जनसंख्या से अधिक अनुपात की माँग उसके संकीर्ण सांप्रदायिक मनोभाव को प्रकट करती रही। समय-समय पर प्रगतिशील मुसलमान नेता यह अनुभव भी करते रहे कि हिन्दू मुसलिम ऐक्य के बिना न उनका कल्याण है और न भारत का, ब्रिटिश-विरोधी भाव तथा 'पानइसलाम' आदि के आंदोलन से प्रभावित मुसलमान समय-समय पर राष्ट्रीयता तथा हिन्दू-मुसलिम समस्या के

सुलझाव की आवश्यकता भी समझते रहे फिर भी साधारणतः मुसलिम समाज का दृष्टिकोण सांप्रदायिक बना रहा। यही कारण है कि हिन्दू-मुसलमानों के प्रश्न को हल करने की चेष्टा जब कभी हुई तो सांप्रदायिक आधार पर ही हुई। सन् १९१९ ईसवी में लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन के समय हिन्दू-मुसलमानों का जो प्रसिद्ध 'पैक्ट' हुआ वह सांप्रदायिक आधार और दृष्टिकोण को लेकर ही हुआ। तात्पर्य यह कि अंगरेजों ने हिन्दू-मुसलमानों को पृथक् करने तथा सांप्रदायिकता की अभिवृद्धि की जो नीति ग्रहण की उससे उनका एक उद्देश्य तो पूरा न हुआ पर दूसरे में उन्हें अकल्पित सफलता मिली। भारतीय मुसलिम समुदाय को यद्यपि वे अपना भक्त न बना सके पर सांप्रदायिकता को जागरित करके भारत की राष्ट्रीयता के निर्माण और भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति में हिन्दू-मुसलमानों के सम्मिलित प्रयास में अलंघ्य बाधा अवश्य उपस्थित कर दी। उनकी इस सफलता ने राष्ट्रीय संघर्ष और देश की स्वतंत्रता की प्राप्ति के प्रश्न को बुरी तरह शिथिल तथा जटिल अवश्य बना दिया।

इस प्रकार बंग-भंग से संभूत राष्ट्रीय चेतना, प्रवृत्ति तथा प्रयास की जो धारा प्रवाहित हुई उसका अवरोधन करन और उसे शैथिल्य प्रदान करने के लिए भारत की विदेशी सरकार ने हर संभव उपाय से काम लिया। साम, दान, दंड, भेद चारो नीति बरती गयी। दमन किया गया तो सांप्रदायिकता भी उभाड़ी गयी। सुधार के नाम से कुछ टुकड़े फेंके गये तो उन वर्गों को जिनका स्वार्थ ब्रिटिश सत्ता के बने रहने में स्थिर था और जो किसी प्रकार के भी परिवर्तन के विरोधी थे—अपनी ओर मिला लेने की चेष्टा भी की गयी। फलतः सन् १९११-१९१२ ईसवी के भारत में एक प्रकार की शान्ति सी दिखायी देने लगी। नरम दल के हाथ में पड़ी कांग्रेस निर्जीव हो गयी थी, गरम दल

के नेता जेलों में बंद हो गये थे या निर्वासित कर दिये गये थे, प्रेस की स्वतंत्रता छिन गयी थी, दमन के कारण राष्ट्रीय आंदोलन की गति मंद पड़ गयी थी और सांप्रदायिकता की अभिवृद्धि तथा नये सुधारों के द्वारा स्थिरस्वार्थी वर्गों को मिला लेने की नीति के द्वारा अंगरेजी सरकार ने एक अच्छे खासे वर्ग को राष्ट्रीय संग्राम के मार्ग का कंटक बना दिया था। पर प्रगति की धारा यदि संकीर्ण स्वार्थ से अंधी हुई शासन-सत्ताओं के इशारे पर चलती होती अथवा इतिहास प्रभुवर्गों के संकेत पर अपना मार्ग निर्धारित करता होता तो मानव-समाज विकास की सीढ़ियों पर आरोहण करने में समर्थ न हुआ होता। भारत की राष्ट्रीय चेतना लुप्त होने के लिए प्रादुर्भूत नहीं हुई थी। वह ऐतिहासिक महा-समुद्र की उत्ताल तरंग थी जो प्रगति की अनन्त गति के साथ किसी निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती चली जाने के लिए बाध्य थी। फलतः ब्रिटिश सरकार द्वारा हर प्रकार की चेष्टा होने पर भी उसका दमन न हो सका। प्रचंड आघात के कारण ऊपर-ऊपर बुझती दिखायी देती हुई भी असंतोष की अग्नि भीतर-भीतर सुलगती रही। समय पर इस अदृश्य अग्नि की सूचना भी मिल जाती थी। सन् १९१२ ईसवी में दिल्ली में लार्ड हार्डिंज के जलूस पर फेंका गया बम उसी आग की लपट था। उसी समय यह प्रकट हुआ कि पूरबी बंगाल और उत्तर भारत में विप्लववादी देशभक्तों का व्यापक संघटन है जो मातृभूमि की स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए जीवन को आहुत कर देने के लिये तत्पर है।

(५)

युद्धकाल और विप्लव की चेष्टा

सरकार के कठोर दमन और उसकी अपरिमित पशुशक्ति से दलित भारतीय राष्ट्र की आत्मा विक्षुब्ध होते हुए भी अपने असंतोष

को सक्रिय रूप में व्यक्त करने का मार्ग नहीं पाती थी। यही कारण था कि बाह्य शान्ति विराजती दिखायी देती थी पर घटनाचक्र ने वह अवसर शीघ्र ही उपस्थित कर दिया जब एक बार पुनः उस दबी हुई आग को दहका कर चतुर्दिक् व्याप्त ज्वाला बना देने की चेष्टा करना संभव दिखायी दिया। सन् १९१४ ईसवी में युरोप में महायुद्ध का विस्फोट हुआ। ब्रिटेन युद्धलिप्त राष्ट्र था फलतः युद्धारंभ के तत्काल ही बाद ब्रिटिश पार्लमेंट ने यह निश्चय किया कि भारत भी लड़ाई में सम्मिलत कर लिया जाय और भारतीय सेना तथा भारतीय धन और साधन का उपयोग किया जाय। महती क्रान्ति के प्रज्वलन के लिए इससे उपयुक्त दूसरा अवसर कौन मिल सकता? ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध देश में असंतोष पहले से ही वर्तमान था। उसकी युद्धकालीन नीति ने उस आग में घी डालने का ही काम किया। भारत से तेरह लाख आदमी इस युद्ध के जगद्व्यापी विभिन्न मोरचों पर भेजे गये। भारत के साधनों का उपयोग जिस प्रकार किया गया उसकी कोई सीमा न थी। भारत की विदेशी सरकार प्रायः तीन करोड़ पाउंड वार्षिक युद्धकार्यों में व्यय करती रही। दस करोड़ पाउंड के लगभग इस देश से वसूल करके ब्रिटेन को युद्ध-व्यय के निमित्त 'दान' दे दिया गया। करोड़ों पाउंड का ऋण लेकर भारत के भूखे और दरिद्र करदाताओं पर तीस वर्षों के लिए दस करोड़ वार्षिक सूद का भारी बोझ लाद दिया गया। भारत ने यह कर्ज स्वेच्छा से नहीं प्रत्युत ब्रिटिश शासकों की संगीन के भय से अदा किया था। इन परिस्थितियों ने सारे देश में असंतोष की वृद्धि ही की थी। क्रान्तिकारियों ने देखा कि इसका उपयोग ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विप्लव का सूत्रपात करके किया जा सकता है। इसके सिवा एक बात और थी। युद्ध के कारण संसार में ब्रिटिश सरकार के शत्रु भी अनेक हो गये थे। सरकार की सारी शक्ति

भी युद्ध की ओर लगी हुई थी और वह युद्ध-संकट में बुरी तरह फँस गयी थी। भारत की अधिकतर गोरी तथा बहुत सी भारतीय सेना भी देश से बाहर भेज दी गयी थी। स्वाभाविक था कि भारतीय स्वतंत्रता के आकांक्षी, भारत के विप्लववादी इस अवसर से लाभ उठाने की चेष्टा करते। फलतः उत्तर भारत में फैला हुआ विप्लव-वादियों का गुप्त संघटन सक्रिय हो उठा। बंग-भंग के कारण जो क्रान्ति-आंदोलन सन् १९०९-१९१० में हुआ था और जिसका दमन करने में सरकार ने कुछ उठा नहीं रखा था एक बार फिर भड़क उठा। उस समय भारत के जो क्रान्तिकारी नवयुवक इस देश से निकल भागे थे और जो युरोप, अमेरिका तथा मध्यपूर्व में पहुँचकर ब्रिटिश राज के विरुद्ध षड्यंत्र कर रहे थे युद्धकालीन परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए अग्रसर हुए। ऐसे ही भारतीयों ने अमेरिका में गदर-पार्टी की स्थापना की थी। अब उन्होंने अपने दल के सदस्यों को गुप्त रूप से भारत भेजना आरंभ किया और यह चेष्टा की कि यहाँ के विप्लव-वादी संघटन से संबंध जोड़ा जाय। लाला हरदयाल तथा तारकनाथ-दास प्रभृति क्रान्तिकारी जर्मनी भी पहुँचे और जर्मन सरकार की सहायता से ब्रिटिश शासन को नष्ट करने की चेष्टा करने लगे। जर्मन युद्धविभाग की देख-रेख में वहाँ 'भारतीय राष्ट्रीय दल' की स्थापना की गयी। धीरे-धीरे विप्लवकारियों का क्रान्तिकारी संघटन तथा कार्य व्यापक तथा प्रबल हो चला। सन् १९१४ ईसवी के अंतिम महीनों में अमेरिका के गदर-दल के डेढ़ दो हजार भारतीय भारत के लिए रवाना हुए और मार्ग में चीन तथा मलाया की भारतीय सेना में क्रान्तिकारी विचार फैलाते हुए, भारत पहुँचे। यहाँ भारतीय क्रान्ति-कारियों से उन्होंने संबंध स्थापित किया और जगह-जगह क्रान्ति के केन्द्र स्थापित किये।

अमेरिका के गदर-दल ने यह प्रबंध भी किया था कि तीस सहस्र राइफलों और जर्मन सेनाधिकारियों के साथ एक जहाज जावा भेजा जाय जो गुप्त रूप से बंगाल पहुँचे जहाँ भारतीय क्रान्तिकारियों से मिलकर विप्लववादी बंगाल पर अधिकार स्थापित कर लें। क्रान्तिकारियों ने विप्लव की व्यापक योजना बना ली थी और अपना सारा कार्यक्रम भी स्थिर कर लिया था। उनका विचार था कि भारतीय सेना में व्यापक रूप से क्रान्तिकारी विचार फैलाये जायँ, उनका संघटन कर लिया जाय और एक निश्चित तिथि पर देश के विभिन्न स्थानों में विद्रोह की पताका फहरा दी जाय और सरकारी शस्त्रागारों पर अधिकार स्थापित करके देश के कतिपय स्थानों में क्रान्तिकारी सरकार प्रतिष्ठित कर दी जाय। अपनी इस योजना को उन्होंने बहुत दूर तक कार्यान्वित भी कर लिया। पेशावर से लेकर सिंगापुर तक भारतीय सेना में विद्रोही विचारों का प्रसार करने के लिए क्रान्तिकारी दल के कार्यकर्त्ता पहुँच गये। २१ फरवरी सन् १९१५ की तिथि व्यापक विद्रोह करने के लिये स्थिर कर दी गयी। निश्चय कर दिया गया कि फिरोजपुर, रावलपिंडी और लाहौर के सरकारी शस्त्रागारों पर भारतीय सेना आक्रमण करके अपना अधिकार स्थापित कर ले और साथ ही देश में यत्र तत्र वर्तमान भारतीय सैनिक प्रचंड विप्लव की आग लगा दें। सारा आयोजन, सारा प्रबंध और सारी चेष्टा इस प्रकार की गयी कि एक बार पुनः १८५७ का दृश्य उपस्थित कर दिया जाय और वह कार्य जो तब पूरा नहीं किया जा सका था अब कर लिया जाय। विप्लववादियों ने यद्यपि आयोजन किया पर जितना तब हुआ था उतना भी अब न किया जा सका। सरकार को विप्लव की सूचना पहले से ही मिल गयी। फिर तो उसके दमन के वेग की कोई सीमा न रही। अमेरिका की गदर-पार्टी ने जो

अस्त्र-शस्त्र भेजे थे उनका पता भी अमेरिकन सरकार को मिल गया। जिसके फलस्वरूप वे रास्ते में ही पकड़ लिये गये। इधर सारे देश में व्यापक धर-पकड़ आरंभ हो गयी। पंजाब में क्रान्तिकारियों के केन्द्र-स्थलों पर पुलिस ने धावे किये और जोरदार गिरफ्तारियाँ आरंभ कर दीं। इतने पर भी सिंगापुर की भारतीय सेना ने २१ फरवरी को बगावत की और टापू को अपनी मुट्ठी में कर लिया। सात दिनों तक सिंगापुर विद्रोहियों के हाथ में रहा पर देश में और कहीं कुछ न हो सका। फलतः यह स्थिति कहाँ तक चल सकती थी, सात दिन बीतते न बीतते गोरी सेना ने पुनः सिंगापुर को कब्जे में कर लिया।

विद्रोह का महायोजन तो विफल हुआ ही साथ ही सरकार का ध्यान भी आकृष्ट हुआ। उसने देखा कि युद्ध में पड़े रहते हुए भी भारत की उपेक्षा करना तथा यहाँ की स्थिति को साधारण समझना भूल है। विद्रोहियों की योजना के रहस्य प्रकट हुए तो उनकी आँखें खुल गयीं। अब यह आवश्यक समझा गया कि भयावना दमन करके देश की कमर तोड़ दी जाय। यह भी आवश्यक समझा गया कि भारत की गोरी सेना की संख्या बढ़ा दी जाय और उसे देश से बाहर भी न भेजा जाय। इस समय कुल पंद्रह हजार गोरे सैनिक भारत में रह गये थे। सरकार ने बहुत सी गोरी सेना इंगलैंड से भारत मँगा ली। दूसरी ओर क्रान्तिकारियों का गहरा दमन करने का कार्य आरंभ हुआ। भारत-सरकार ने 'भारत-रक्षा कानून' के नाम से नया कानून बनाकर दमन-क्रिया को गति प्रदान की। फिर तो विप्लववाद के दमन के बहाने भारतीय नवयुवकों को और देश की आकांक्षा को पीसकर धूल में मिला देने की भरपूर चेष्टा की गयी। सहस्रों नवयुवक नजरबंद कर लिये गये और पंजाब तथा बंगाल में सैकड़ों को फाँसी तथा आजीवन कारावास तथा निर्वासन का दंड दिया गया। सन् १९१५ ईसवी से

लेकर सन् १९१७ तक दमन और निरंकुशता का ऐसा नग्न प्रदर्शन किया गया कि भारतीय राष्ट्र काँप उठा। क्रान्तिकारियों के संघटन को तो इस प्रकार चूर कर दिया गया कि तब से लेकर आज तक फिर उस प्रकार की व्यापक चेष्टा नहीं की जा सकी। सरकार ने क्रान्तिकारियों के दमन के बहाने राष्ट्र की वैधानिक तथा शान्तिमय कार्रवाइयों पर भी प्रहार करने में कुछ संकोच न किया। लोकमान्य तिलक उस समय तक छ वर्ष की अपनी सजा भोगकर आ चुके थे। श्रीमती एनी बेसेंट का भी जमाना था। इन दोनों ने 'होमरूल' के नाम से अपनी-अपनी 'होमरूल' लीग की स्थापना की थी। 'होमरूल' का आंदोलन देश में स्वशासन की स्थापना के लिए प्रारंभ किया गया वैधानिक आंदोलन था। सरकार उसके प्रसार और प्रभाव को भी सहन न कर सकी। स्वयं श्रीमती एनी बेसेंट भी 'भारत-रक्षा कानून' का शिकार हुईं। इस प्रकार भारतीय चेतना और राष्ट्रीय आकांक्षा को पशु बल के द्वारा एकबारगी कुचल देने का अथक प्रयास किया गया।

क्रान्तिकारियों का आयोजन क्यों विफल हुआ इसकी विस्तृत आलोचना की जा सकती है पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि गुप्त संघटनों तथा त्रासकारी कार्यों की नीति के द्वारा सफलता प्राप्त करने का समय अब बीत चुका था। जगत् के इतिहास में एक युग ऐसा था जब स्थापित शासन-व्यवस्था की जड़ खोद फेंकने में छोटे-छोटे गुप्त संघटन तथा आतंक-पूर्ण कार्य सफल होते थे पर अब वह समय आ गया था जब इस प्रकार की नीति सार्थक सिद्ध नहीं हो सकती थी। आधुनिक शासन-सत्ताओं का रूप विस्तृत हो चुका था। वे धीरे-धीरे सामाजिक जीवन के समस्त अंग-प्रत्यंगों का सूत्र स्वयं धारण करने में समर्थ हो चुकी थीं। विज्ञान द्वारा प्रदत्त अनेक साधनों ने उनकी शक्ति अपरिमित मात्रा में बढ़ा दी थी। यह संभव हो गया था

कि शासकमंडल शक्ति का अकल्पित और अभूतपूर्व केंद्रीकरण अपनी मुट्ठी में कर ले। शासन-व्यवस्था की लंबी भुजा आज प्रत्येक व्यक्ति और उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तक पहुँच सकती है। अति दृढ़ता और उग्रता के साथ केन्द्रीभूत और शक्तिसंपन्न आधुनिक शासन-व्यवस्था को उलटने में कोई ऐसी नीति सफल हो ही नहीं सकती जो विशाल और व्यापक जनवर्ग को अछूता छोड़े रखकर केवल थोड़े से लोगों की चेष्टा, त्याग तथा तप तक परिमित हो। यह सच है कि क्रान्ति का नेतृत्व करनेवालों और उसी को एकमात्र लक्ष्य-बिंदु बनाकर जीवन की आहुति कर देनेवालों की संख्या सदा, सब काल में और सब देशों में थोड़ी रही है और थोड़ी रहेगी, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वे व्यापक जन-समाज-रूपी धरातल से अपने को पृथक् रखकर अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकते हैं। आज का क्रान्ति-विज्ञान यह मान चुका है कि आदर्शानुप्राणित नेतृत्व उसी दशा में सफल हो सकता है जब वह विशाल जनवर्ग के जीवन का स्पर्श करे और उसकी अपरिसीम किन्तु प्रसुप्त शक्ति को जागरित करके उस अगाध विक्षोभ की लहर लहरा सके जो सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को समूल विकंपित कर देने में समर्थ हो सकती है। प्रचंड बलशीला शक्ति-सत्ता का मान-मर्दन जनक्रान्ति ही कर सकती है। फिर किसी ऐसे देश में जहाँ विदेशी सत्ता आसीन हो, जहाँ सारा देश असहाय, निरुपाय और निरस्त्र बना दिया गया हो, एकमात्र जन-जागरण ही उपाय है। राष्ट्र की आत्मा उज्जीवित हो और स्वतंत्रता के प्रयास में व्यापक जन-समूह सम्मिलित हो। कोई भी नीति जो जन-संपर्क के आधार पर आश्रित नहीं है वह कभी सफल हो ही नहीं सकती। हिंसात्मक क्रान्तिकारी गुप्त संघटन की पद्धति सर्वथा इसके विपरीत है अतः उसकी विफलता और निरर्थकता भी असंदिग्ध है।

फलतः ब्रिटिश सरकार तत्कालीन भारतीय विप्लववादियों का दमन करने में सफल हुई।

पर ब्रिटिश सरकार की नीति एक ओर जहाँ इस दिशा की ओर अभिमुख हुई वहीं दूसरी ओर उसने एक और धारा भी पकड़ी। साम्राज्यवादियों की सदा यह चाल हुआ करती है कि वे एक ओर जहाँ दमन का आश्रय लेते हैं वहीं दूसरी ओर आहत और विक्षत-जन हृदय पर थोड़ा शीतलालेपन करने की चेष्टा भी करते हैं। दमन और आप्यायन ये दो प्रक्रियाएँ होती हैं जिनके द्वारा जनक्षोभ को शान्त करने की चेष्टा की जाती है। ब्रिटिश शासन के इतिहास पर आप दृष्टिपात करें तो सदा उसकी नीति को इन दो रूपों में अभिव्यक्त पायेंगे। यही कारण है कि उग्र दमन के साथ-साथ छोटे-मोटे शासन-सुधार की चेष्टा की जाती रही है। उन्नीसवीं शती के अंत में जब देश में असंतोष प्रकट होने लगा तो उसे दबाने की चेष्टा की गयी, पर साथ ही साथ सन् १८९२ ईसवी में कुछ सुधार भी शासन-विधान में किये गये। बंग-भंग के बाद स्वदेशी आंदोलन के रूप में जब पुनः जनक्षोभ व्यक्त हुआ तो उसे कुचलने का प्रयास करते हुए मार्ले-मिंटो सुधार की योजना उपस्थित की गयी। इसी प्रकार इस समय भी एक ओर भयानक दमन किया गया तो दूसरी ओर आप्यायन की नीति का आश्रय ग्रहण करके यह घोषणा की गयी कि ब्रिटिश सरकार भारत के शासन में सुधार करना चाहती है क्योंकि उसका यह लक्ष्य है कि समय आने पर इस देश को उत्तरदायित्वपूर्ण शासनाधिकार प्रदान कर दिया जाय। इसी नीति के अनुसार तत्कालीन भारत-मंत्री श्रीमाँटेग्यू ने सन् १९१७ ईसवी के २० अगस्त को ब्रिटिश पार्लमेंट की साधारण सभा में एक वक्तव्य दिया जिसमें ब्रिटिश सरकार की उपर्युक्त इच्छा की घोषणा की। भारत-मंत्री को ऐसी घोषणा करने के

लिए अन्य कारणों ने भी बाध्य किया। युद्ध से उत्पन्न जगत् की परिस्थिति तज्जन्य ब्रिटेन की आवश्यकता, भारत में उद्भूत अवस्था भी इस बात की अपेक्षा कर रही थी। ब्रिटिश सरकार बाध्य थी इस देश के सम्बन्ध में अपनी शासन तथा औद्योगिक नीति में परिवर्तन करने के लिए।

युद्ध में वह क्षण उपस्थित हो गया था जब अमेरिका को सम्मिलित करना मित्रराष्ट्रों की विजय के लिए आवश्यक था। मित्रराष्ट्रों के लिए समस्त संसार का नैतिक समर्थन और उसकी सहानुभूति भी अपेक्षित थी। स्वयं भारत की भी हार्दिक सहायता और सहयोग आवश्यक था। यह सब उसी दशा में संभव था जब ब्रिटेन अपनी न्याय-बुद्धि और प्रगतिशीलता, अपनी निःस्वार्थता तथा सत्यप्रियता का परिचय देता। जगत् के साधारणतः तथा विशेषतः अमेरिका तथा भारत के लोकमत को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए यह जरूरी हो गया कि ब्रिटेन उदारता, ईमानदारी तथा मित्रराष्ट्रों के पक्ष का न्यायसंमत होना प्रकट कर देता। फलतः महान् और पुनीत आदर्शों का डंका पीटा गया, लोकतंत्र की पूजा का ढोंग रचा गया, विश्वशान्ति और स्वतंत्रता की दुहाई दी गयी, सभ्यता और प्रगतिशीलता का दंभ रचा गया, दलित तथा पराधीन और दुर्बल जातियों की रक्षा की दुहाई दी गयी। भारत स्वयं ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन शोषित राष्ट्र था। फलतः यह बात उक्त नीति के अनुकूल ही थी कि उसे स्वतंत्रता का आश्वासन दिया जाता और जगत् को यह बताया जाता कि भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन प्रदान कर देने के लिए ब्रिटेन स्वयं न केवल उत्सुक है प्रत्युत दृढ़प्रतिज्ञ है। इसी को सिद्ध करने के लिए भारत-सचिव ने उक्त घोषणा की और यह दिखाने के लिए कि ब्रिटेन अपनी मौखिक घोषणा को व्यावहारिक रूप देने पर तुला हुआ है, सन् १९१८ ईसवी

में भारतमंत्री स्वयं भारत आये, देश के विभिन्न दलों तथा वर्गों के प्रतिनिधियों से मिले और शासन-सुधार की योजना के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट प्रकाशित कर दी। इसी रिपोर्ट के आधार पर एक वर्ष बाद ब्रिटिश पार्लमेंट ने भारतीय शासन के सम्बन्ध में एक विधान बनाया। यही विधान मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड-सुधार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भारतीय शासन की परिपाटी में उक्त विधान के द्वारा जो सुधार किये गये उनकी विस्तृत विवेचना करना यहाँ संभव नहीं है पर इतना कह देना उचित होगा कि ब्रिटिश सरकार ने बड़ी सावधानी से यह व्यवस्था अवश्य कर दी कि शासन के आधार-भूत अधिकार को ब्रिटिश सरकार के हाथों में ही रखा जाय। उनकी नीति यह रही कि केन्द्रीय सरकार की शक्ति और सत्ता में तो न. कोई कमी की जाय और न रत्ती भर तद्विषयक अधिकार भारतीयों को प्रदान किया जाय। पर जहाँ तक प्रांतों के शासन का सम्बन्ध है भारतीयों को नाम मात्र का साझेदार बना लिया जाय। फलतः प्रांतों में द्विचक्र शासन-प्रणाली (डायर्की) की व्यवस्था की गयी जिसके अनुसार प्रांतीय शासन को दो भागों में विभक्त कर दिया गया। अधिकतर विभाग तो संरक्षित कर दिये गये और थोड़े विभागों के संचालन का भार भारतीय मंत्रियों को प्रदान कर दिया गया। मंत्रियों का निर्वाचन यद्यपि स्वयं अनुत्तरदायी गवर्नर करता था पर लिये जाते वे उन गैर-सरकारी सदस्यों में से ही जो निर्वाचित होकर व्यवस्थापक सभा में आते। संरक्षित विषय वे रखे गये जो शासन के प्राण कहे जा सकते हैं। पुलिस, शान्ति-व्यवस्था, जेल, माल, प्रांतीय और सिविल सर्विस आदि संरक्षित विषय थे। जो विभाग मंत्रियों को हस्तान्तरित किये गये उनमें स्थानीय स्वशासन, सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि ही थे।

यह शासन-सुधार कितना निर्जीव, कितना अधिकारहीन और कितना उत्तरदायित्वशून्य था यह आज बताने की आवश्यकता नहीं है। देश ने वर्षों तक उसका स्वाद चखने के बाद यह समझ लिया था कि शर्करा-मिश्रित यह कड़ुआ घूँट था जिसे भारतीयों के गले के नीचे उतार देने का भयावना कुचक्र रचा गया। वह भयावनी भूल-भूलैया थी जिसमें फँसाकर इस देश का प्रचंड प्रवंचन किया गया। उस समय उपर्युक्त नीति का आश्रय लेकर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपनी धूर्तता में सफल हुए। अमेरिका को अपनी प्रगतिशीलता का विश्वास दिला दिया गया और युद्धकाल में भारत को जो प्रलोभन और आश्वासन दिये गये थे उनकी पूर्ति करने की अपनी नीयत का प्रमाण भी दे दिया गया। ब्रिटेन की यह नीति अधिकांश सफल हुई इसमें सन्देह नहीं। अमेरिका युद्धसंलग्न हुआ जिसके फलस्वरूप जर्मनी की पराजय हुई और भारत का उच्च मध्यम वर्ग, जिसका राष्ट्रीय जीवन में विशिष्ट स्थान था, जो प्रभावशील तथा सक्रिय और उद्बुद्ध था, थोड़ा सा अधिकार प्राप्त करके तुष्ट होता दिखाई पड़ा। शासन-प्रबंध में नाम मात्र का भी साझेदार हो जाने के कारण उसका स्वार्थ ब्रिटिश सरकार के स्वार्थ से एकात्म हो गया। अब उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह देश की उस क्रान्तिकारिणी मनोवृत्ति का पथावरोधन करे जो भारत की वर्तमान स्थिति को आमूल उलट-पलट देना चाहती थी। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इतने से ही आश्वस्त नहीं हुए। जो नीति राजनीतिज्ञ-क्षेत्र में बरती गयी वही औद्योगिक क्षेत्र में भी गतिशील हुई। भारत का उच्च मध्यम वर्ग, जिस प्रकार शासन-सुधार का आकांक्षी था उसी प्रकार वह इस बात की माँग भी कर रहा था कि भारत के उद्योग-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय। युद्धकाल में उसकी यह माँग बढ़ती गयी। भारतीय पूँजीपतियों,

व्यवसायियों तथा उद्योगपतियों ने यह अनुभव कर लिया था कि इस देश में यदि कल-कारखाने रहे होते तो वे युद्धकाल में अपरिमित लाभ उठाने में समर्थ हुए होते। इसके साथ ही उन्हें अपनी पूँजी लगाने का नया-नया मार्ग भी मिला होता। वह काल ऐसा था जब भारत के धनी-मानी व्यापारियों ने खासा मुनाफा कमाया था और उनकी रकम बेकार पड़ी हुई सड़ रही थी।

स्वभावतः उनकी यह माँग हो रही थी कि इस देश का औद्योगिकीकरण होना चाहिए और नये-नये कल-कारखानों को पनपने का अवसर मिलना चाहिए। ब्रिटिश पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों की नीति अब तक भिन्न थी क्योंकि उनका स्वार्थ दूसरी दिशा की ओर था। भारत ब्रिटेन के व्यवसाय का बाजार था। यदि इस देश में कल-कारखाने उठ खड़े होते तो वे ब्रिटिश व्यवसाय के ही प्रतिस्पर्धी होते। फलतः अब तक सरकार ने भारतीय व्यवसाय को रोकने की, कल-कारखानों की स्थापना को कठिन बना देने की तथा इस देश के उद्योगीकरण के मार्ग का अवरोधन करने की ही चेष्टा की थी। उसकी इस नीति के कारण देश की उच्च मध्यम-श्रेणी भी असंतुष्ट थी। अब वह समय आ गया था जब ब्रिटिश सरकार इस नीति में कुछ रद्दोबदल करने के लिए बाध्य थी। भारत में चतुर्दिक् व्याप्त विक्षोभ का परिशमन करने के लिए यह आवश्यक था कि देश का कम से कम एक वर्ग तो ब्रिटिश शासन का भक्त बनाया जाय। बड़े-बड़े राजे और जमींदार अवश्य उसके साथी थे पर सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर उनका कोई प्रभाव नहीं था। उच्च मध्यम वर्ग उत्पन्न हो गया था जो प्रभावशाली भी था और जिसे मिलाना संभव भी था। शासन-प्रबंध में उसे कुछ अधिकार देकर तथा कुछ सरकारी नौकरियों और उच्च पदों के लिए मार्ग खोलकर राजनीतिक क्षेत्र में उसका और ब्रिटेन

का स्वार्थ एक किया जा सकता था तो औद्योगिक क्षेत्र में भी उसे साझेदार बनाकर यदि दोनों के स्वार्थ को एकीभूत किया जा सके तो क्यों न किया जाय ? यही थी दृष्टि जिसे ग्रहण करके ब्रिटिश सरकार ने अपना मार्ग निर्धारित किया। इसके साथ-साथ युद्धकाल में हुई अनुभूतियों ने भी ब्रिटेन की नीति को प्रभावित किया। ब्रिटिश सरकार ने यह देखा कि युद्धकाल में भारत ब्रिटेन की सहायता में अधिक समर्थ हुआ होता यदि इस देश में उद्योग और व्यवसाय की उन्नति की गयी होती। दूसरी बात यह भी थी कि भारत के बाजार पर ब्रिटेन का एक मात्र प्रभुत्व नहीं रह गया था। युद्धारंभ होने पर ब्रिटिश कल-कारखानों ने समर-सामग्रियों का निर्माण आरंभ किया। इस स्थिति से लाभ उठाकर अमेरिका और जापान ने भारतीय बाजार में अपना माल खपाना आरंभ कर दिया। युद्ध के वक्त ब्रिटेन को स्वयं भारत में प्रतिस्पर्धियों का सामना करना आवश्यक हुआ। प्रतिद्वन्द्विता में टिकने के लिए उन्हें सर्वोत्तम मार्ग यह दिखायी पड़ा कि ब्रिटिश पूँजी लगाकर भारत में कल-कारखाने खड़े किये जायँ। इस आयोजन से अंगरेजों का दुहरा लाभ था। एक ओर तो ब्रिटिश पूंजी इस देश में खपती थी और दूसरी ओर इंगलैंड में निर्मित लोहे के औजार और कल-कारखानों की खपत होती थी। उधर प्रति-स्पर्धियों का सामना करना सरल होता था और दूसरी ओर भारत के पूँजीपतियों को छोटा-मोटा हिस्सेदार बनाकर मिलाया जा सकता था। इन सब विचारों से प्रेरित होकर ब्रिटिश सरकार ने औद्योगिक नीति में भी परिवर्तन किया।

सन् १९१६ ईसवी में 'इंडियन इंडस्ट्रियल कमिशन' की स्थापना तथा कुछ वर्षों बाद 'फिस्कल कमिशन' की स्थापना उक्त परिवर्तित नीति का ही परिणाम थी। फलस्वरूप धीरे-धीरे भारत में अनेक

अंगरेजी कंपनियाँ खुल गयीं। विदेशी पूँजी खुलकर भारत में लगी। भारत-सरकार ने अब भारतीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की नीति भी अपनायी। भारत में निर्मित वस्त्र पर जो चुंगी लगा करती थी वह भी हटा दी गयी। इस प्रकार सिद्धान्ततः भारतीय उद्योग को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान करने की नीति बरत कर भारतीय पूँजीपतियों को तुष्ट किया गया तो व्यवहारतः उसके द्वारा ब्रिटिश पूँजी और भारत-स्थित ब्रिटिश व्यवसाय को संरक्षित करके इस देश के एक वर्ग का स्वार्थ ब्रिटिश सरकार की स्थायी प्रतिष्ठा पर निर्भर कर दिया गया। औद्योगिक और राजनीतिक क्षेत्र में यह नीति व्यवहृत करके ब्रिटिश सरकार ने वस्तुतः विद्रोह की उस धारा को कुंठित करने की चेष्टा की जो उस समय सारे राष्ट्र को बहाये लिये जा रही थी। दमन और आप्यायन की यह क्रिया साथ-साथ चल रही थी और देश को व्यापक रूप से प्रभावित कर रही थी। वास्तव में सरकार की यह सारी कुचेष्टा भारतीय पराधीनता के बंधन को सुदृढ़ करने के लिए ही हो रही थी। इस देश का वह वर्ग जो ब्रिटेन की न्याय-बुद्धि में विश्वास रखता था और जो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की युद्धकालीन घोषणाओं और आश्वासनों से ही तृप्त तथा आश्वस्त हो गया था सरकार की इस नीति से प्रसन्न हो उठा। उसे उसमें ब्रिटेन की उदारता, सत्यप्रियता और नेकनीयती की गंध मिली। एक सीमा तक अपनी माँगों को पूर्ण होते तथा अपने स्वार्थ की पूर्ति होते देखकर वह वेगपूर्वक उस ओर आकृष्ट हुआ। स्वभावतः वह भारतीय जन-वर्ग की उस मनोवृत्ति और मनोधारा का विरोधी हो गया जो जड़सहित वर्तमान सत्ता का उन्मूलन करना चाहती थी।

(६)

राउलट-बिल और गांधी का उदय

भारत की उद्बुद्ध तथा प्रतिरोधात्मक शक्ति को विचूर्ण करने के लिए ग्रहण की गयीं दमन और आप्यायन की दो नीतियाँ उपर्युक्त दो प्रकार से व्यक्त हुईं। पर सरकार इतने ही से शान्त न हुई। उसने भविष्य के लिए भी अपना मार्ग सुरक्षित करने का निश्चय कर लिया था। इस समय तक यद्यपि देश का विद्रोही तथा सक्रिय वर्ग कुचला जा चुका था तथापि श्रीराउलट नामक सज्जन की अध्यक्षता में एक समिति संघटित कर दी गयी जिसके ऊपर यह भार छोड़ दिया गया कि वह क्रान्तिकारियों के सर्वथा उन्मूलन के उपाय सरकार को सुझावे। सन् १९१८ ईसवी में एक ओर जहाँ मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड-सुधार की योजना प्रकाशित हो रही थी वहीं दूसरी ओर राउलट-समिति की रिपोर्ट भी प्रकाशित हुई। इस समिति ने सरकार को यह परामर्श प्रदान किया कि साधारण कानूनों से काम चलनेवाला नहीं है अतः युद्धकाल में 'भारतरक्षा' के नाम से सरकार ने जो विशेष अधिकार ग्रहण किये हैं उन्हें स्थायी बना देना चाहिए। विशेषाधिकार-संपन्न सरकार सफलतापूर्वक भारत के आंदोलनकारियों और विप्लववादियों का दमन करने में समर्थ होगी। पाठक ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के घृणित षड्यंत्र पर दृष्टिपात करें। सन् १९१९ ईसवी में उधर ब्रिटिश पार्लमेंट की साधारण सभा में 'भारतीय शासन' में परिवर्तन करने के लिए प्रस्तावित सुधार-योजना के आधार पर नया 'शासन-विधान' स्वीकृति के लिए पेश किया जा रहा था और इधर भारत की केंद्रीय व्यवस्थापक सभा में भारत सरकार ने राउलट-समिति की सिफारिशों के आधार पर दो कानूनों के मसविदे स्वीकृति के लिए उपस्थित कर दिये। ये

कानून क्या थे भारतीय जागरण का गला घोंट कर उसे यमलोक भेज देने की काली योजना के साकार रूप थे। उनका विकराल रूप देखकर भारत-भूमि सिहर उठी। सारा देश स्तब्ध हो गया। केंद्रीय व्यवस्थापक सभा के समस्त गैरसरकारी सदस्यों ने एक स्वर से उनका विरोध किया पर राउलट-बिल कानून बनकर ही रहा। अब तो राष्ट्र के कलेजे से पीड़ा की दर्दभरी कराह निकल पड़ी। उसने अपनी पराधीनता का सजीव अनुभव पुनः किया। आखिर यह किस अपराध का दंड था? भारत ने युद्ध की विपत्ति से त्रस्त अंगरेजों की सहायता करके कोई पाप किया था? क्या अपनी संतानों को समराग्नि में स्वाहा करके और पेट काटकर अपना धन पानी की तरह बहाकर भारत ने कोई अपराध किया? यदि नहीं तो उसे यह दंड क्यों दिया जा रहा है? निस्संदेह यह दंड था उस पराधीनता के अपावन और जघन्य पाप का जिसे भारत ने अपने सिर लाद लिया था। शृंखलाबद्ध भारत के मस्तक पर ब्रिटिश सत्ता यदि सबूट चरणों से आघात करने का साहस करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

'राउलट-बिल' कानून बन गया और भारत ने अपने को असहाय पाया। उसने देखा कि प्रार्थना करने, गिड़गिड़ाने, दया की भिक्षा माँगने और घुटनों के बल झुककर नाक रगड़ने से भी कोई काम नहीं निकला। विजय से उन्मत्त ब्रिटिश निरंकुशता निस्संकोच दलित भारत को दो ठोकर जमाकर तिरस्कारपूर्ण हँसी हँस रही है। देश को अपने संमान की रक्षा का मार्ग भी सुझाई नहीं देता था। लोकसमुदाय क्षुब्ध था, पराधीनता से उत्पीड़ित था पर सामूहिक चेतना अपने को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो रही थी। ठीक ऐसे ही समय जब राष्ट्र अपनी वेदना और असंतोष को व्यक्त करना चाहता था भारतीय अंतरिक्ष सहसा किसी एक व्यक्ति के स्वर से गूँज उठा।

यह स्वर यद्यपि मधुर था किन्तु उसमें गंभीरता और दृढ़ता थी। उस ध्वनि में विक्षोभ का भैरव गर्जन भले ही न रहा हो पर उन्मादिनी पशुशक्ति को ललकारनेवाला राग अवश्य था। महान् ऐतिहासिक प्रवाह में युग आते हैं जिनकी एक पुकार होती है, जिससे कालात्मा आंदोलित हो उठती है और जन-जीवन अप्रत्यक्ष भाव से उसकी अनुभूति करने लगता है। युग की आवश्यकता का आभास उसे मिलने लगता है और समाज उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सहज ही उत्कंठित हो जाता है। ऐसे अवसरों पर यदि किसी महाप्राण मानव के मुख से आवश्यकता की पूर्ति करनेवाली ध्वनि निकल कर प्रतिध्वनित हो उठती है तो व्यापक जनसमाज उस स्वर-धारा में अपने ही भावों को बहता देखने लगता है। फिर तो वह व्यक्ति जनभाव का प्रतीक हो जाता है और स्वयं कालात्मा उसके मुख से बोलती दिखाई देने लगती है। उस समय उसके एक-एक इंगित और पदविक्षेप में, इतिहास गतिशील दिखाई देने लगता है। भारत के राष्ट्रीय जीवन में वह क्षण आ पहुँचा था जब उसे अपनी ऐतिहासिक यात्रा जारी रखने के लिए नया मार्ग अनिवार्यतः अपेक्षित हो गया था। युग ने गांधी के रूप में उस नई दिशा की ओर एक सजीव संकेत उपस्थित कर दिया। 'राउलट-बिल' का कानून बनना तो उस विशद ऐतिहासिक अध्याय की भूमिका के रूप में प्रस्तुत हुआ जिसका निर्माण आगामी दशकों में होनेवाला था।

'राउलट-बिल' इधर स्वीकृत हुआ और उधर गांधीजी ने आवाज लगायी कि सरकार इन कानूनों को तत्काल रद्द कर दे नहीं तो वे उनका प्रत्यक्ष उल्लंघन करने के लिए तैयार होंगे। सारे देश में गांधीजी की यह आवाज गूँज उठी। राष्ट्र को नया मार्ग सुझाई दे गया। उसने देखा था कि प्रार्थना और दया की भिक्षा का मार्ग किसी

लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ नहीं होता। उसने यह भी देखा था कि आपादमस्तक पशुबल से सुसज्ज ब्रिटिश सत्ता को डिगाने में विप्लववादी कार्य-पद्धति सफल नहीं हो सकती। पर क्या दोनों पथों की इस असफलता का यह अर्थ है कि भारतीय राष्ट्र अब अपने आत्मसंमान की रक्षा भी न कर सकेगा? क्या कोई तीसरी गति नहीं है जिसका अवलंबन करके विक्षुब्ध राष्ट्रीयता ब्रिटिश दंभ को विचूर्ण करने में समर्थ हो सके? तत्काल गांधी के मुख से उसका उत्तर मिल गया। गांधी जी की घोषणा ने आसमुद्र-हिमाचल भारत-भूमि को स्पंदित कर दिया। सत्याग्रह करने के लिए प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षरों की भरमार हो उठी। महात्माजी ने यह अपील की कि ३० मार्च को सारे देश में कार-बार बंद करके हड़ताल मनायी जाय और जनता व्रत, उपवास तथा प्रतिवाद करके आत्मशुद्धि करे और अपना असंतोष व्यक्त करे। इस हड़ताल के द्वारा गांधीजी देश की तत्परता तथा असंतोष को मापना भी चाहते थे। हड़ताल हुई और ऐसी व्यापक, सर्वांगीण तथा परिपूर्ण हुई कि देश की जनता और सरकार दोनों चकित हो गयीं। हड़ताल की यह सफलता भारत की अपूर्व लोक-जागर्ति और सामूहिक चेतन-शीलता तथा सक्रियता की सूचक थी।

गांधीजी की पद्धति का प्रयोग इसके पूर्व भी एकाधिक बार अन्य स्थलों पर हो चुका था। वे वर्षों पूर्व से एक अभिनव रण-शैली का विकास कर रहे थे और उसका व्यावहारिक प्रयोग करके जगत् के संमुख नये अस्त्र की सार्थकता सिद्ध करने में लगे हुए थे। दक्षिण अफ्रिका में सन् १९१३ ईसवी में गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह-संग्राम सफलता पूर्वक छेड़ा और लड़ा जा चुका था। निहत्थे और प्रवासी भारत संतानों ने जेनरल स्मट्स को बाध्य किया कि वे उनकी बातों को सुनें और उन वर्णभेदमूलक तथा अपमानजनक कानूनों में सुधार करें

जो भारतीयों के विरुद्ध बनाये गये थे। युद्ध आरंभ होने के बाद गांधी जी सन् १९१५ में अपने देश वापस आ गये थे। भारत आने के बाद वे यहाँ की राजनीति में सक्रिय योग नहीं दे रहे थे। उस समय भारत का राजनीतिक आकाश स्वर्गीय गोखले और सर फिरोज शाह तथा लोकमान्य और श्रीमती एनीबेसेंट ऐसे उज्ज्वल नक्षत्रों से देदीप्यमान था। गांधीजी अफ्रिका के सत्याग्रह-युद्ध के विजयी नेता के नाते यद्यपि विख्यात हो चुके थे पर भारत के राजनीतिक रंगमंच पर उनका मुख्य स्थान नहीं था। यह सब होते हुए भी दो एक अवसरों पर उन्होंने इस देश में अपनी पद्धति का प्रयोग किया था। चंपारन में निलहे गोरों का अत्याचार अपनी सीमा पार कर रहा था। गांधीजी ने वहाँ की दशा की जांच करने का कार्य अपने हाथों में लिया। नील की खेती करनेवाले किसानों का रक्त चूस लेनेवाले ये गोरे जमींदार कब यह बर्दाश्त कर सकते थे कि उनकी स्वच्छंद निरंकुशता में हस्तक्षेप करने का साहस किसानों सा वेश-भूषाधारी साधारण भारतीय कर सके? फलतः चंपारन पहुँचने पर जिले में प्रवेश न करने की आज्ञा गांधीजी को मिल गयी। गांधीजी ने इस आज्ञा का उल्लंघन किया और व्यापक सत्याग्रह की तैयारी आरंभ की। इस पर सरकार ने आज्ञा वापस ले ली। गांधीजी ने जाँच आरंभ की और अंततः निलहे गोरों ने स्थिति पूर्ववत् सुरक्षित न देखकर धीरे-धीरे विलायत की ओर पलायन करना ही उचित समझा। प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा की समाप्ति के लिए भी उन्होंने आवाज उठायी और घोषणा की कि यदि वह खतम नहीं की जायगी तो वे सत्याग्रह करेंगे। भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को अंत में बाध्य होकर उक्त प्रथा की समाप्ति कर देनी पड़ी।

सन् १९१८ ईसवी में अहमदाबाद और खेड़ा के मजदूरों तथा

किसानों की दुर्दशा और पीड़ा का अंत करने के लिए गांधीजी ने पुनः सत्याग्रह का आश्रय ग्रहण किया और उसमें उन्हें सफलता मिली। तात्पर्य यह है कि सत्याग्रह की युद्ध-योजना का विश्वास धीरे-धीरे हो रहा था जिसका व्यापक तथा सर्वभारतीय प्रयोग करने का अवसर 'राउलट-बिल' ने प्रदान कर दिया। सत्याग्रह की शैली, उसके स्वरूप और उसकी विशेषताओं की विस्तृत विवेचना करने के लिए स्वतंत्र ग्रंथ की आवश्यकता है फिर भी यह कह सकते हैं कि वह अहिंसात्मक, और अ-शस्त्रात्मक तथा रक्तहीन महा विद्रोह की कल्पना लेकर अग्रसर होता है जो सशस्त्र क्रान्ति का स्थान ग्रहण करने का दावा करता है। वह दावा करता है जगत् की समस्त पशुशक्ति, अत्याचार तथा निरंकुशता के प्रबल और सफल प्रतिरोध करने की शक्ति का तथा विश्वास करता है कि मानवी और नैतिक आधार ग्रहण करके मनुष्य की अमानवता तथा बर्बरता को पराभूत करने की क्षमता उसमें विद्यमान है। उसकी धारणा है कि अन्याय के संमुख अदम्य अवज्ञा, दृढ़ शक्तिपरायणता तथा जीवनोत्सर्ग और कष्ट-सहन का मार्गावलंबन करके वह न केवल सत्याग्रही के चरित्र और आत्मा की शुद्धि और विकास करता है प्रत्युत् आततायी के उत्तमांश को उज्जीवित करके उसका भी परिवर्तन तथा संशोधन करने में सफल हो सकता है। सत्य की विजय की अनिवार्यता में उसकी अविचल आस्था है। जीवन और जगत् की प्रगति का पथ उसे प्रकृति के उस अटल नैतिक विधान में दिखाई देता है जिसकी अनुभूति मानव की अंतरात्मा स्वभावतः करती रहती है। फलतः सत्याग्रह का सारा आधार नैतिक है, उसकी दृष्टि नैतिक है, उसकी गति और पद्धति नैतिक है, उसका लक्ष्य नैतिक है। जहाँ कहीं अनीति और अत्याचार, पशुता तथा अहम्मन्यता निरंकुश और उन्मत्त होकर

अग्रसर होती दिखाई देगी वहीं सत्याग्रह स्वभावतः उसका प्रतिरोध करने के लिए सामने खड़ा दिखाई देगा।

'राउलट-बिल' ब्रिटेन की अनीति-मूलक भावना, उद्दंडता और स्वार्थ-बुद्धि तथा दर्प का ही प्रतीक था। स्वभावतः गांधी सा व्यक्ति जो सत्याग्रह की पद्धति का निर्माता और सत्याग्रह मंत्र का द्रष्टा था, अग्रसर हुआ। भारत में परिस्थिति भी उसके अनुकूल उत्पन्न हो गयी थी। इस देश को यदि जीवित रहना था तो उसे किसी नये मार्ग की उपलब्धि भी होनी ही थी। भारत ने अपनी रक्षा और मुक्ति के लिए उन समस्त मार्गों का अवलंबन कर लिया था जो जगत् में अब तक साधारण रूप से प्रयुक्त हो चुके थे। उसने अंगरेजों की चाटुकारिता की, उनकी न्याय-बुद्धि में विश्वास किया, उनके प्रति भक्ति प्रदर्शित की, पर परिणाम कुछ न निकला। उसने दया की भिक्षा माँगी, प्रार्थना की, संकट में पड़े ब्रिटेन की सहायता अपना रक्त-दान करके की। सोचा था कि उपासना, उपस्थान और विनय करके वह अंगरेजों से सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त करेगा। पर इसमें भी उसे सफलता न मिली। दूसरी ओर उसने आंदोलन किया, शस्त्र उठाया, विद्रोहानल सुलगा देने की चेष्टा की, पर केन्द्रीभूत और सावधान पशु-शक्ति पर आश्रित ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकना संभव न हुआ। भारत निहत्था बना ही दिया गया था, अब विद्रोह दबाने के बहाने उसकी पुनीत आकांक्षा तथा सजीव क्रियाशील चेष्टा का समूल उच्छेदन कर डालने का प्रयास किया गया। ऐसा भीषण दलन हुआ कि न केवल विद्रोह की योजना मटियामेट हो गई प्रत्युत भविष्य के लिए भी बहुत दिनों तक सिर उठाने की शक्ति नहीं रह गयी। इस प्रकार प्रार्थना करने और शस्त्र उठाने के दोनों मार्ग दुर्भाग्य से असफल सिद्ध हो चुके थे। इसके बाद 'राउलट-बिल' के रूप में भारतीय

राष्ट्र का अपमान और लोकमत की उद्दंड उपेक्षा करने की चेष्टा की गयी। देश के सामने जीवन-मरण का प्रश्न था। यदि ब्रिटिश दंभ के संमुख वह आत्मसमर्पण कर देता है तो सदा के लिए मर मिटता है। स्वाभिमान खोकर जो राष्ट्र एक बार अनीति की ठोकर चुपचाप सहन कर लेता है वह नैतिक अधःपात के अंध गर्त में जा पड़ता है। फिर तो उसकी प्रतिरोध की शक्ति और अवज्ञा तथा विद्रोह का आंतरिक प्रकाश सदा के लिए मिटकर घोर जड़-तमिस्रा की सृष्टि कर जाता है। ठीक ऐसे ही समय गांधी नयी पद्धति और नये पथ के सजीव प्रतीक के रूप में उपस्थित हुए। यदि और मार्ग अवरुद्ध हो चुके हैं तो भी राष्ट्र को आत्मसमर्पण करके मिटना नहीं है। प्रतिरोध और विद्रोह की ज्वाला जलाकर उसके निश्चेष्ट शरीर में वह उष्णता लानी है जो एक बार पुनः धमनियों में रक्त की गति तीव्र कर दे। राष्ट्र का जीवन एकमात्र उसी स्थिति में संभव है। गांधी भारतीय राष्ट्र के राजनीतिक क्षितिज में उसी प्राण-वाहक प्रकाश के रूप में उदीयमान हुए जिसने जीवन में उष्णता, गति और स्फूर्ति भर दी।

उनके मुख से देश का भविष्य बोल उठा। भारत ने देखा कि उसकी अंधकाराच्छन्न परिस्थिति में भी उसका पथ उक्त प्रकाश के द्वारा क्रमशः आलोकित होता जा रहा है। वह प्रकाश जागरित होने, उत्थित होने और पथ पर गतिशील होकर लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए आवाहन कर रहा था। देश की शिथिलता एक बार पुनः लुप्त होती नजर आयी और जीवन के लक्षण प्रकट हुए। भारत की विदेशी सत्ता जो इस देश को महाश्मशान बनाकर अबाध और अकेले तथा एकछत्र राज्य करना चाहती थी, इस जीवन-लहरी को देखकर क्षुब्ध हो उठी। उसने आरंभ में ही उसका कुंठन कर डालने का निश्चय कर लिया। गांधीजी ने छः अप्रैल को सत्याग्रह का सूत्रपात

करने की घोषणा की थी। उन्होंने देश भर में प्रदर्शन, हड़ताल तथा प्रतिवाद करने की आज्ञा भी प्रदान की थी। वे स्वयं बंबई से दिल्ली के लिए रवाना हुए। अंगरेजी सरकार ने आघात करने का निश्चय कर लिया था। फलतः दिल्ली पहुँचने के पूर्व पलवल में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। गांधीजी की गिरफ्तारी का समाचार सारे देश में बिजली की भाँति फैल गया। परिस्थितियों ने आज गांधीजी को भारतीय महा राष्ट्र का अनन्य सेनापति बना दिया था। उन्होंने न कोई प्रचार किया था, न कनवेसिंग की थी, न निर्वाचन जीता था और न पद-प्राप्ति के लिए कोई पार्टी बनायी थी। उनका न कोई आयोजन था, न कोई षड्यंत्र। देश में अनेक आदरणीय, ख्याति-प्राप्त तथा लोकानुमोदित नेता वर्त्तमान थे। गांधी के नाम से भी देश व्यापक रूप से परिचित न था। राजनीतिक नेतृवर्ग में उनका कोई स्थान न था। कांग्रेस में वे न कोई पद रखते थे न प्रमुखता। यह सब न होते हुए भी आज वे राजनीतिक अट्टालिका के उत्तुंग शिखर पर विराजमान थे। देश के भविष्य का सूत्र उनके हाथों में पहुँच रहा था, राष्ट्र के अंतर-प्रदेश पर उनका अविभाज्य साम्राज्य स्थापित हो चला था और भारत की राजनीति उनके पदचिह्नों की अनुगामिनी बनने लगी थी। परिस्थिति की एक हिलोर ने उन्हें वहाँ पहुँचा दिया जहाँ अब तक कोई भी पहुँचा न था, क्योंकि उन्हे परिस्थिति के प्रवाह का आभास मिल चुका था। देश की नाड़ी पर उनकी उँगलियाँ पहुँच चुकी थीं और अज्ञात भाव से वे उसकी गति का संकेत पा चुके थे। राष्ट्र की आत्मा विकल थी, अपमान की ज्वाला से और चाहती थी उसके प्रतिकार, प्रतिवाद और प्रतिरोध का कोई मार्ग। आज वह मार्ग सामने पाकर वह सवेग बढ़ चली।

इस स्थिति में अपने सेनानी पर ब्रिटिश सरकार का वार होते

देखकर वह उत्तेजित हो उठी। फलतः गांधीजी के सत्याग्रह की अहिंसक सीमा न रह सकी। अमृतसर और अहमदाबाद में उपद्रव हो गये, कुछ सरकारी इमारतें जला दी गयीं, कुछ अंगरेज मारे गये और थोड़ा बहुत रक्तपात हो गया। ब्रिटिश संगीनों और गोलियों की बौछार भी हुई जो भारतीयों के कलेजे को छेद कर पार निकल गयीं। गांधी जी को पलवल में पकड़ कर सरकार ने अहमदाबाद ले जाकर छोड़ दिया पर तब तक तो देश में उत्तेजना फैल चुकी थी। गांधीजी ने जन-विक्षोभ के विस्फोट का संकेत पाकर सत्याग्रह स्थगित कर दिया और उपद्रव शान्त करने में अपनी शक्ति लगा दी। अहिंसात्मक रण-पद्धति के व्यापक प्रयोग का यह पहला अवसर था। जनता ने स्वयं अब तक उसके स्वरूप को समझा न था और न यह जाना था कि विशेष स्थिति उत्पन्न होने पर उसे किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। उधर सरकार ने गांधीजी को गिरफ्तार करके यह अवसर ही प्रदान न किया कि वे अपने ढंग पर जन-शक्ति को ढाल सकते। ऐसी दशा में जो हुआ वह स्वाभाविक था पर सरकार ने भूल समझने की अपेक्षा सदा की भाँति दमन से ही काम लेना उचित समझा। पंजाब में दमन ने विशेष रूप से विकरालता ग्रहण की। १३ अप्रैल को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में निहत्थी और शान्त भारतीय जनता की एक सभा हो रही थी। सहसा जेनरल डायर नामक अंगरेज सैनिक-कर्मचारी ने डेढ़ सौ सैनिकों को लेकर सभास्थल का एकमात्र मार्ग घेर लिया और भीतर एकत्र जन-समूह पर आँखें मूँद कर गोलियों की वर्षा आरंभ कर दी। जलियाँवाला बाग का मैदान निरपराध भारतीयों के रक्त से सन उठा। प्रायः चार सौ भारत संतान ब्रिटिश पशुता के शिकार हुए और डेढ़ दो हजार के करीब बुरी तरह आहत हुए। निरपराध भारतीयों को आग के गोले

बरसाकर भून दिया गया और निर्लज्जतापूर्वक निहत्थों के सामने ब्रिटिश बाहुओं की वीरता का प्रदर्शन किया गया। इसके बाद पंजाब में जो हुआ वह समान रूप से भारत और ब्रिटेन के इतिहास की जघन्य घटना है जिसके विशद वर्णन की आवश्यकता नहीं। दोनों ने समान रूप से कायरता का जो प्रदर्शन किया उस पर मानवता युग युग तक लज्जित होती रहेगी। निशस्त्र और निर्बल निस्सहाय को शक्ति के मद में अंधे होकर पीसने की प्रवृत्ति इस प्रकार के लोगों में ही होती है जो सबलों के संमुख नाक रगड़ते हैं और दुर्बलों के सामने शेर बनने का दावा करते हैं। जलियाँवाला बाग श्मशान बना देने के बाद पंजाब की सरकार ने सारे प्रांत में सैनिक शासन घोषित कर दिया। जनवर्ग का ऐसा अभूतपूर्व निर्दलन किया गया जो कभी सुनने में भी नहीं आया था। संपत्ति की जब्ती, नेताओं का निर्वासन, दो से अधिक व्यक्तियों के मिलने-जुलने की भी मनाही, फाँसी और काले पानी की सजाएँ, तो प्रतिदिन की घटना में हो गयीं। पर जो हुआ वह इतना ही नहीं था। सम्मानित और आदरणीय नागरिकों को सार्वजनिक रूप से अपमानित किया गया, चौराहों पर खिकटियों में बाँधकर उन पर कोड़े बरसाये गये, सड़कों पर झाड़ू दिलायी गयी और अमृतसर की एक गली में लोगों को तुच्छ कीड़े-मकोड़ों की भाँति पेट के बल रेंगने के लिए बाध्य किया गया। भारतीयता को अभागी भारत-भूमि के वक्षस्थल पर ही इस प्रकार निर्दलित करने का दुस्साहस किया उस ब्रिटिश शक्ति ने जो कभी कभी जर्मन रण-वाहिनी के सामने विकंपित हो चुकी थी।' जगत् ने देखा था कि 'कैसर के प्रचंड-बल-प्रवाह' के संमुख ब्रिटिश दर्प न टिक पाता यदि भारतीय सेना और अमेरिकन शक्ति ने फ्रांस की युद्धभूमि में उसकी सहायता न की होती। संकट में पड़ने पर हाय हाय, करनेवाले और लोकतंत्र तथा स्वतंत्रता

का दंभ रखनेवाले अंगरेजों ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। उन भारतीयों की छाती पर जिन्हें निशस्त्र और शृङ्खला-बद्ध करके वे निकम्मा बना चुके थे। क्या ऐसी कायरता और धृष्टता का प्रमाण कहीं और मिलेगा?

पर उससे भी बढ़कर कायरता प्रदर्शित की पुंसत्व-हीन भारतीय राष्ट्र ने जिसने न जाने किस जीवन के मोह में पड़कर पेट के बल रेंगना भी स्वीकार कर लिया। भारत का इतिहास सदा के लिये लज्जित हो चुका है यह देखकर कि एक भी मुख से ऐसी आवाज न निकली जो छिन्नमस्तक हो जाना स्वीकार कर लेता पर कुत्ते-बिल्ली की भाँति पेट के बल पड़कर धरती में नाक रगड़ना स्वीकार न करता! पर जलियाँवाला बाग की घटना जहाँ भारत के लिये लज्जा-जनक थी वहीं उसने इस देश का महाकल्याण भी किया। भारत के सामने वास्तविकता का नग्न स्वरूप प्रकट कर देने का श्रेय क्या उसे ही प्राप्त नहीं है? जिसने यह सिद्ध कर दिया कि न्याय, प्रगतिशीलता और स्वतंत्रता की सारी घोषणाएँ खोखली थीं? किसने यह प्रमाणित कर दिया कि ब्रिटेन से भारत के हित और उसकी स्वतंत्रता की आशा करना प्रचंड आत्मप्रवंचन के सिवा और कुछ नहीं है? क्या जलियाँवाला बाग के पुनीत प्राचीरों पर पड़े रक्त के छींटे ही उसके ज्वलंत प्रमाण नहीं थे? परंतु यह न समझिये कि जलियाँवाला बाग ने केवल इसी एक तथ्य को प्रकाशित किया! उसी ने यह भी बता दिया कि भारतीयता अधःपतन, चारित्रिक क्षय तथा नैतिक-शक्ति के ह्रास की उस सीमा पर पहुँच गयी है जहाँ से यदि प्रत्यावर्तन नहीं होता तो भारतीय राष्ट्र धरती से मिट जायगा! उसने भारत की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डाल दिया और उन आवश्यकताओं का ज्ञान करा दिया जिनकी पूर्ति किये बिना वह जीवन के अस्तित्व की रक्षा करने में भी

समर्थ न होता। जलियाँवाला की घटना साधारण घटना न थी। वह तो वह उत्प्रेरणात्मिका स्फूर्ति सिद्ध हुई जिसने भारतीय इतिहास की धारा को एक विशेष दिशा प्रदान कर दी। परिस्थिति और आवश्यकता का ज्ञान करानेवाली, स्फूर्ति, प्रेरणा और गति प्रदान करनेवाली इस घटना ने वास्तव में आज के गांधी और गांधी-युग की रचना कर डाली। इसके पूर्व का गांधी यद्यपि सत्याग्रह की पद्धति का जनक था पर कहाँ पायी थी उसने वह निश्चित दृष्टि और कहाँ पाया था वह स्पष्ट पथ जो आज उस विचार-धारा का उद्गम हो रहा है जो विकास की यात्रा में मानवता को महती देन है। गांधी जलियाँवाला बाग की घटना के पूर्व सहयोगी था। उसे ब्रिटेन की नेकनीयती में विश्वास था। विश्वास था इसलिये कि वह मनुष्य-जीवन के सदंश में विश्वास करता है। उसका तो यही दर्शन है कि शुभाशुभमय जीवन में शुभ की विजय अनिवार्य है और शुभोत्प्रेरित होना ही जीवन का सहज धर्म है। इसी दृष्टि और विश्वास के फलस्वरूप वह अंगरेजों की न्याय-बुद्धि में आस्था रखता था। उसने बोअर-युद्ध और जुलू-विद्रोह के समय अंगरेजों की सहायता की थी। महायुद्ध के समय भी उसने ब्रिटिश सरकार की सहायता की थी और अहिंसक होते हुए भी गुजरात से अंगरेजी सेना के लिये सैनिक देने की अपील की थी। वह समझता था और कहता था कि भारत के लिये स्वराज्य पाने का सीधा और सरल उपाय युद्ध में अंगरेज़ी सरकार की सहायता करना है। यह सच है कि उसने सत्याग्रह का अवलंबन किया था और अंगरेजी सरकार के विरुद्ध किया था पर वह सत्याग्रह भी इस आशा और विश्वास को ग्रहण करके किया गया था कि अहिंसा और कष्ट-सहन के मार्ग का अवलंबन करके सत्याग्रही ब्रिटेन के उस उत्तमांश और नैतिकांश को

उज्जीवित कर देता जो मानव-स्वभाव की दुर्बलता के कारण धूमिल हो गया है।

पर जलियाँवाला बाग की घटना ने गांधी को सहयोगी से असहयोगी बना डाला। उसी ने उनके मुख से यह कहलाया कि "अंगरेजी शासन आसुरी है, जिससे सहयोग करना पाप है"। गांधी की इसी परिवर्तित दृष्टि से उस असहयोग और सत्याग्रह का जन्म हुआ जिसका लक्ष्य जगत् की छाती पर असुरत्व के सजीव प्रतीक के रूप में उदीयमान भारत के अंगरेजी शासन को सर्वथा 'बदल देना या मिटा देना' हो गया। उसे स्पष्ट हो गया कि भारत की विदेशी सत्ता के रूप में स्वयं अनैतिकता और मानव-पशुता सदेह आविर्भूत हुई है जिनके विलोप में ही सत्य की रक्षा और जगत् की प्रगति है। गांधी उन सबका विरोधी है जो अनीति और असत्य पर, हिंसा और दंभ पर, स्वार्थ और अहम् पर आश्रित है। जलियाँवाला बाग की घटना ने गांधी के लिये सिद्ध कर दिया कि भारत की अंगरेजी सरकार ऐसी ही विभीषिका है। उसे इसका प्रमाण मिल गया उस समय जब सर माइकेल ओडायर और जेनरल डायर को उनकी पशुता के लिये दंड देने की अपेक्षा बहुत से अंगरेजों ने उनकी प्रशंसा की। अमृतसर में हुए हत्याकांड के बाद कांग्रेस ने पंजाब की घटनाओं की जाँच करने के लिये एक समिति संघटित कर दी। सरकार ने भी हंटर कमेटी के नाम से इसी कार्य के लिये एक कमेटी खड़ी की। कांग्रेस की जाँच समिति के पास सरकारी अत्याचार, अनावश्यक बल-प्रयोग, अकल्पित पशुता तथा कर्मचारियों की घृणित निरंकुशता के अनेक प्रमाण वर्तमान थे। उन्हीं के आधार पर कांग्रेस ने यह माँग की कि तत्कालीन वायसराय वापस बुला लिया जाय और सर माइकेल ओडायर तथा जेनरल डायर अपने पद से अलग कर

दिये जायँ और उनकी पेंशन बंद कर दी जाय। पंजाब में जो हुआ था उसकी तुलना में कांग्रेस की यह माँग अति तुच्छ थी। देश में जो क्षोभ था, भारतीय राष्ट्र का जो अपमान किया गया था, दमन और उत्पीड़न ने जिस प्रकार खुलकर क्रीड़ा की वह भारतीय हृदय को प्रतिहिंसा की अग्नि में दग्ध करने के लिये पर्याप्त था। पर कांग्रेस ने जो माँग उपस्थित की वह इतनी छोटी और तुच्छ थी कि उसे देखकर आज भी आश्चर्य होता है। और उससे भी बढ़कर आश्चर्य होता है इस बात से कि ब्रिटिश सरकार ने उक्त माँग की उद्दंड उपेक्षा की। उपेक्षा ही नहीं प्रत्युत भारत के विक्षत हृदय पर नमक छिड़का गया, निर्दलित भारतीयों का मखौल उड़ाया गया। उस समय जब हंटर कमीशन ने यह सिफारिश कर दी कि जो हुआ वह दुःखद होते हुए भी परिस्थिति को काबू में करने के लिये आवश्यक था। अंगरेजों को इतने से भी संतोष न हुआ और बहुतों ने मिलकर जेनरल डायर को पुरस्कृत करने के लिये धन एकत्र किया।

यह घटना न केवल भारत के भयावने अधःपतन की द्योतिका थी बल्कि वह यह भी स्पष्ट कर रही थी कि ब्रिटिश शासकवर्ग विनिपात के किस निम्न स्तर पर पहुँच गया है। पंजाब में अंगरेजी सरकार द्वारा किये गये पाप को चुपचाप पी लिया आज उस ब्रिटिश जनता ने जिसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ जमानेवाले क्लाइव की मिट्टी पलीद कर दी थी। आज वही ब्रिटिश पार्लमेंट मूक थी जिसने वारेन हेस्टिंग्स की धज्जियाँ उड़ा देने में संकोच नहीं किया था। स्मरण रखना चाहिए कि कांग्रेस और देश इस छोटी सी माँग से संतुष्ट न था फिर भी उसे उपस्थित किया गया इसलिए कि उतना ही माँगने का आग्रह गांधीजी कर रहे थे। आज भी जब कोई उक्त माँग के विनम्र स्वरूप पर दृष्टिपात करता है तब आश्चर्य में पड़ जाता है यद्यपि गत दो दशकों

के इतिहास ने यह दिखा दिया है कि बापू छोटी से छोटी माँग उपस्थित करने का न केवल अभ्यस्त है प्रत्युत उस कला में सिद्धहस्त भी है। तुच्छ माँग प्रस्तुत करना तो उसके स्वभाव, उसकी दृष्टि, उसकी शैली के अनुकूल है और साथ ही दूसरी रण-पद्धति का अति आवश्यक अंग भी है। गांधीजी प्रकृत्या मनुष्य की शुभ प्रवृत्तियों में विश्वास करते हैं। वे तब तक किसी को धूर्त, प्रवंचक, अत्याचारी, अन्यायी अथवा अनैतिक नहीं स्वीकार करते जब तक स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध न हो जाय कि व्यक्ति अथवा वर्गविशेष स्वार्थान्ध है और जान बूझ कर पाप करने पर तुला हुआ है। गांधीजी द्वारा उपस्थित की गयी उनकी छोटी माँग ही वह नैतिक कसौटी होती है जिस पर वे किसी की नीति और नीयत के खरे अथवा खोटेपन को सिद्ध कर देने में समर्थ होते हैं। सत्याग्रह में अनीति के विरोध और उसके प्रति विद्रोह की कल्पना निहित है। विरोधात्मक तथा विद्रोहात्मक सत्याग्रह पर आरूढ़ होने के पूर्व आवश्यक है कि यह सिद्ध हो जाय कि प्रतिपक्ष हठ और दुराग्रह पर, अनीति और दंभ पर जान-बूझकर स्थित है और अपने उक्त स्थान से तिल मात्र भी विलग होने के लिए तैयार नहीं है।

यही कारण है कि गांधीजी की सत्याग्रह-शैली उन्हें आरंभ में प्रतिपक्षी के संमुख झुकने के लिए, नम्रतापूर्वक छोटी-से-छोटी माँग उपस्थित करने के लिए, मैत्री के लिए हाथ बढ़ाने के लिए, समझौते के प्रयत्न के लिए, उत्प्रेरित करती है और इस प्रकार वे अपने विरोधी को अपना सुधार करने के लिए, अपनी नेकनीयती का प्रमाण उपस्थित करने के लिए अवसर प्रदान कर देते हैं। यदि विरोधी अपने दर्प में उन माँगों को ठुकरा देता और तिरस्कार कर देता है तो उससे सत्याग्रही का दुहरा लाभ होता है। विरोधी की अनीति को सिद्ध

करके सत्याग्रही यदि उसके नैतिक बल का आधार लुप्त कर देता है तो दूसरी ओर अपने नैतिक पक्ष को उपस्थित करके जगत् की सहानुभूति, समर्थन और सद्भाव स्वयं प्राप्त करता है। सत्याग्रही का बल तो जगत् की नैतिक सहानुभूति में सन्निहित है। फलतः इस आधार को प्राप्त करके वह स्वयं सबल हो जाता है और ठीक ऐसे समय जब प्रतिवादी अपना नैतिक आधार खोकर निर्बल हुआ रहता है उस पर वार करता है। गांधीजी ने बार बार अपनी इस नीति का परिचय दिया है। जब कभी वे युद्ध-रत होने के लिए आगे बढ़े हैं, अथवा जब कभी किसी महान-जनान्दोलन का सूत्र-पात करना हुआ है तब उन्होंने पहले ब्रिटिश सरकार के सामने ऐसी ही छोटी माँग उपस्थित की है और उसके संमुख झुकते तथा घुटने टेकते दिखायी दिये हैं। उनकी इस नीति से बहुधा उनके साथी भी विचलित हो गये हैं। एक ओर तो भीषण विद्रोह और संघर्ष करने की बात और दूसरी ओर विरोधी के सामने आरंभ में ही झुकना यदि साधारण रूप से लोगों की समझ में न आये और उन्हें चकित तथा विचलित कर दे तो इसमें आश्चर्य क्या है? पर गांधीजी की इस नीति ने बार बार अपनी सार्थकता और सबलता सिद्ध की है। वर्षों के इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि गांधीजी की नैतिकता-मूलक दृष्टि उन्हें इसी पथ का आश्रय ग्रहण करने के लिए बाध्य करती है। उसने यह भी सिद्ध कर दिया है कि झुकता हुआ गांधी गर्जन और तर्जन करनेवाले गांधी से कहीं अधिक भयावह होता है क्योंकि उसका झुकना पूर्वसूचना होती है उस प्रचंड संघर्ष की जिसकी भूमिका इस रूप में उपस्थित होती है। भारत ने एकाधिक बार यह देखा है कि इसीके बल पर निरस्त्र गांधी जगत् की सर्वोत्कृष्ट तथा प्रभुता और शक्ति से संपन्न सरकार से मोरचा लेता रहा है। हम देखते हैं कि समय आने पर वह विरोधी

के सामने झुकता है, झुकता चला जाता है और अपने घुटनों के बल बैठता दिखाई देता है। उसकी इस नीति को देखकर तथोक्त चरम पंथी चिल्लाने लगते हैं और कहने लगते हैं कि गांधी की सारी नीति समझौते की ओर ही उन्मुख है। कुछ उसमें निर्बलता और कर्तृत्व-हीनता के दर्शन भी करने लगते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि जगत् की कोई शक्ति गांधी को अनीति और असद् से समझौता करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। वे नहीं जानते कि वह झुकता है इस लिए कि वैसा करना उसकी रण-योजना का एक अंग है। और इतिहास इस व्यूह की सफलता और दुर्भेद्यता का साक्षी है क्योंकि हमने बार बार देखा है कि गांधीजी झुकते हैं उठने के लिए और जब उठते हैं तो उनके साथ साथ धरती पर पड़ा हुआ किन्तु महान् राष्ट्र उठता नजर आता है। उस समय उन्मत्त पशुशक्ति चकित, सुदृढ़ सिंहासन भी विकंपित, प्रभुता संपन्न दंभीवर्ग सशंक और स्थिर स्वार्थी समुदाय त्रस्त तथा विचलित दिखाई देने लगता है।

फलतः 'राउलट बिल' तथा उसके बाद पंजाब में घटित घटना के रूप में ब्रिटिश नृशंसता का जो नग्न तांडव हुआ उसके परिमार्जन के लिए गांधीजी ने उपर्युक्त छोटी सी माँग उपस्थित की। पर ब्रिटिश सरकार ने न केवल उस माँग को ठुकरा दिया वरन् उसका उपहास भी किया। इस प्रकार जलियाँवाला बाग की रक्त-सिक्त भूमि ने ब्रिटिश सरकार का वास्तविक स्वरूप प्रकट कर दिया। जिस प्रकार बंग-भंग ने भारत के इतिहास में नये पृष्ठों की रचना की थी उसी प्रकार आज जलियाँवाला बाग ने एक नये अध्याय का निर्माण कर दिया। राष्ट्र के हृदय का वह दाह जिसका संभव जलियाँवाला बाग़ में डायर की गोलियों द्वारा हुआ था उस महान् अहिंसात्मक असह-योग और सामूहिक सत्याग्रह के रूप में अभिव्यक्त हुआ जो तब से

लेकर अब तक भारतीय राष्ट्रीय संघर्ष का मेरु-दंड बना हुआ है। असहयोग आंदोलन कोई साधारण राजनीतिक प्रयास मात्र नहीं था। वह विशाल भारतीय जनवर्ग के आंतरिक क्षोभ की विराट् लहर थी जिसने राष्ट्रीय जीवन के अंग-प्रत्यंग को आमूल प्लावित कर दिया। वह एक विशेष दिशा थी जिसकी ओर भारतीय जीवन की मुख्य धारा सवेग प्रवाहित हो चली। परिस्थितियों ने, भारतीय राष्ट्र की तत्कालीन आवश्यकताओं ने, विश्व की स्थिति ने, भारत के इतिहास की गति-विधि ने, भारतीय परंपरा और उसकी प्रतिभा ने समय पाकर एक विशेष दृष्टि, विशेष प्रवृत्ति, विशेष धारणा और विशेष भावना की सृष्टि कर दी थी। सामूहिक रूप से उपर्युक्त सभी बातें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उसके जीवन को प्रभावित कर रही थीं। कालात्मा के प्रभाव से उक्त विशेष दृष्टि और प्रवृत्ति का मूर्त होना अनिवार्य था। असहयोग और सत्याग्रह तथा उसके जनक गांधी के रूप में वही विशेष दृष्टि और प्रवृत्ति व्यक्त हुई। क्षण भर के लिये रुककर तत्कालीन परिस्थिति पर दृष्टिपात कीजिये और विचार कीजिये कि असहयोग आंदोलन और गांधी किन धाराओं और प्रति-धाराओं का परिणाम है।

(७)

युद्धोत्तर भारत की स्थिति

कुछ वर्ष पूर्व वसुधा के वक्षःस्थल पर महाकाल का जो बीभत्स नर्तन हुआ था वह समाप्त हो चुका था। मेदिनी शोणिताभिषिक्त थी और युद्ध द्वारा हुए व्यापक संहार ने धरती को श्मशान बना डाला था। मित्रराष्ट्रों की विजयदुन्दुभी बज रही थी और विश्व के नव-निर्माण का अभिनय युरोप के एक कोने में हो रहा था। जगत्

का कोई भाग नहीं था जो युद्ध की प्रतिक्रिया से प्रभावित न हुआ रहा हो। युद्ध की उत्तेजना जब तक व्याप्त थी तब तक किसी को अपनी ओर देखने का अवसर नहीं मिला था। पर अब उसकी समाप्ति के बाद जगत् का जो स्वरूप सामने प्रस्तुत था उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। अनिवार्यतः सबके संमुख यह प्रश्न था कि आखिरकार यह महाविनाश और जन-संहार क्यों हुआ और किसलिए हुआ? स्वयं पाश्चात्य जगत् अपनी संस्कृति, अपनी विभूति और अपनी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में सशंक होने लगा था! मानव-समाज की व्यवस्था में कोई न कोई भीषण विकार था जिसका परिणाम युद्ध के रूप में प्रकट हुआ था। पुरानी धारणाओं और परंपराओं में जो विश्वास था वह हिलने लगा था और मानव-जगत् का विचारशील वर्ग यह सोचने लगा था कि जो है वह सब ठीक ही प्रतीत नहीं होता और न यही निश्चित माना जा सकता है कि विज्ञान द्वारा प्रकृति को वशीभूत करके मानव-जगत् सदा के लिए सुखी और निरापद बना दिया जा सकता है। फलतः यह आवश्यक समझा जा रहा था कि इस विनास के बाद जिस जगत् का निर्माण किया जाय वह ऐसे सुदृढ़ आधार पर स्थापित हो जो प्रस्तुत विकारों से मुक्त हो और जिसमें धरित्री के भविष्य का भविष्य सुरक्षित हो। पर परिस्थिति जहाँ यह माँग कर रही थी वहाँ वे लोग जिनके हाथों में जगत् के निर्माण का सूत्र था खेदजनक अयोग्यता, अदूरदर्शिता और संकीर्णता का परिचय दे रहे थे! स्वार्थ, साम्राज्य-लोलुपता, दर्प, जातिगत श्रेष्ठता और वर्गमूलक अधिकार तथा भोग और प्रभुता को ही एकमात्र सत्य मानने की जिस प्रवृत्ति का विकास पूँजीवाद और साम्राज्यवाद में व्यक्त हुआ था और जो गत महायुद्ध का मूल कारण था वही आज भी जगत् के विधायकों की प्रेरणात्मिका और बुद्धि-संचालिका शक्ति बनी हुई थी। इतिहास प्रमाण है

इस बात का कि युद्धोपरान्त जगत् के नेता बने वे लोग जो फ्रांस में बैठकर संसार के भाग्य का निपटारा करने का ढोंग रच रहे थे वास्तव में उसके भविष्य में आग लगा देने का पाप कर रहे थे। उनकी नीति जगत् में अंधकार और निराशा, क्षोभ और प्रतिहिंसा का साम्राज्य स्थापित कर रही थी। जिन्होंने युद्ध में अपना सर्वस्व निछावर कर दिया था, अपने प्रिय परिजनों और बंधु-बांधवों की बलि चढ़ा दी थी, अपने राष्ट्र को भूखा और नंगा तक बनाकर बरबादी उठायी थी और जो यह आशा कर रहे थे कि युद्धोपरान्त वे ऐसे जगत् को संमुख पावेंगे जो उनके बलिदान से पावन हुआ रहेगा जिसमें शोषण, निर्दलन और दरिद्रता से मुक्त होकर वे मानवीय जीवन निर्वाह करते रहेंगे आज हताश हो गये थे। उन्होंने देखा कि उनकी तबाही व्यर्थ गयी, बलिदान निरर्थक हुआ और वे जैसे पहले प्रवंचित और पददलित थे वैसे ही आज भी हैं।

वे अधीन और दलित राष्ट्र, जिन्होंने युद्ध में तथोक्त 'मित्र-पक्ष' का समर्थन किया था, उसकी विजय के लिए अपने को तबाह किया था और जिन्हें बड़े बड़े आदर्शों और सिद्धान्तों की घोषणा करके भावी सुख, स्वतंत्रता तथा शान्ति का विश्वास प्रदान किया गया था आज की स्थिति देखकर स्तब्ध थे। उन्होंने देखा कि उनका सब कुछ लुटा पर परिणाम-स्वरूप उनकी परतंत्रता की बेड़ियाँ सुदृढ़ तथा शोषण का कुचक्र गंभीर होता जा रहा है। इस अवस्था ने युद्ध के बाद प्रायः समस्त युरोप और एशिया तथा अफ्रिका में विद्रोह की भयावनी आग धधका दी थी। तत्कालीन विश्व पर आप दृष्टिपात करें तो यह पावेंगे कि चतुर्दिक् विद्रोह, विक्षोभ और अविश्वास का विष व्याप्त था। जर्मनी में, आस्ट्रिया और हंगरी में, इटली और स्पेन में, पोलैंड और बालकन्स में आन्तरिक विद्रोह और गृह-युद्ध

फूट पड़ा था। रूस में तो युद्ध की समाप्ति के पूर्व ही पूँजीवादी और साम्राज्यवादी विभीषिका की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह महती बोलशेवी क्रान्ति हो चुकी थी जो जनवर्ग की प्रभुता और वर्गमूलक शोषण का समूल उच्छेदन करने के पवित्र आदर्श को लेकर बढ़ चुकी थी। ब्रिटिश और फराँसीसी साम्राज्य के अधीनस्थ भूखंडों और प्रदेशों में तथा उन देशों में जिनका दलन और शोषण करने के लिए नये नये कुचक्र संधि-संमेलन में रचे जा रहे थे अभूतपूर्व जागर्ति, उत्तेजना, प्रतिरोध और संघर्ष उठ खड़ा हुआ था। आयरलैंड में प्रचंड राष्ट्रीय संघर्ष फूट पड़ा तो मिश्र भी ब्रिटिश प्रभुता और हस्तक्षेप से मुक्त होने के लिए उबलने लगा था। एशिया का तो सारा महाप्रदेश श्वेतजातियों की गीध-प्रवृत्ति और चंचु-प्रवेश से मुक्ति पाने के लिए जीवन-मरण के संघर्ष में लिप्त था। भूमध्यसागर तथा दर्रे दानियाल से लेकर प्रशान्त तक आप व्यापक दृष्टि डालें और देखें कि सन् १९२०—२१ तथा उसके बाद के वर्षों में उक्त समस्त विस्तृत प्रदेश में श्वेत सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध का प्रचंड और उत्तुंग प्राचीर खड़ा दिखाई देता है।

सेव्र की संधि के द्वारा उन तुर्कों का गला घोंट देने की चेष्टा की गयी थी जो इतिहास के किसी युग में अपने खड्ग के द्वारा महान् ऐश्वर्य और गौरव के अधिकारी हो चुके थे। पराजित तुर्की को बाध्य किया गया कि वह मिश्र, अरब, मेसोपोटेमिया, फिलस्तीन और शाम के संबंध में अपने रहे सहे दावे को पूर्णतः विसर्जित कर दे। ब्रिटिश और फराँसीसी साम्राज्यवादी अपने एशियाई और अफ्रिकन साम्राज्य को सदा के लिए सुरक्षित बनाए रखने तथा उनकी नकेल को अपने हाथ में स्थायी रूप से रख लेने के लिए एशिया तथा युरोप की सीमा-संधि के देशों को अपनी मुट्ठी में रखना चाहते थे। अंगरेज

तो इन देशों की प्रभुता के लिए विशेष उत्सुक थे क्योंकि उन्हें मोसल का तैल प्रदेश चाहिए था, दक्षिणी फारस को अधिकार में करके स्वेज के मार्ग को सुरक्षित रखना अभीष्ट था और अफ्रिका तथा एशिया के साम्राज्य की रक्षा के लिए इस नाके पर जमकर बैठे रहना वांछनीय था। उन्हें भय था रूस की प्रचंड विद्रोहिणी जनशक्ति का और आशंका थी उसके भारत की ओर बढ़ने की। फलतः वे अरब से लेकर अफगानिस्तान तक अपनी शक्ति की ऐसी सुदृढ़ दीवार खड़ी कर देना चाहते थे जिससे भारत की पश्चिमोत्तर सीमा सुरक्षित रहे। इन देशों के कंठ पर अपना पंजा जमा देने का ब्रिटिश कुचक्र 'शासनादेश' और 'संरक्षण' की योजना के रूप में व्यक्त हुआ। दर्रे दानियाल में ब्रिटिश जल-वाहिनी का जबर्दस्त बेड़ा ला घुसेड़ा गया, कुस्तुन्तुनिया की छाती पर ब्रिटिश सेना जमकर बैठ गयी, तुर्की के सुलतान खलीफा नाममात्र की स्वतंत्रता रखते हुए भी वास्तव में बन्दी बना दिये गये, मिश्र का भाग्यसूत्र अपने हाथों में रख लिया गया, अरब का विभाजन कर डाला गया, सीरिया और फिलस्तीन, ईराक और ट्रांसजार्डन 'संरक्षित' तथा 'शासनादिष्ट' प्रदेश घोषित कर दिये गये, फारस के दक्षिणी भाग पर अधिकार स्थापित कर लिया गया और अफगानियों की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने की पूरी चेष्टा की गयी। युद्ध साम्राज्यवाद का प्रसूत था पर युद्ध के बाद उसी साम्राज्यवाद ने विकरालतम रूप धारण किया। वे प्रदेश भी, जो स्वतंत्र अथवा अर्द्धस्वतंत्र थे पराधीन बनाये जाने लगे और जो पराधीन थे उनकी यह श्रृंखला और कसकर जकड़ी जाने लगी।

इसी नीति का परिणाम था कि तुर्की में कमाल पाशा की तलवार चमक उठी। अरब में इब्न सऊद, फारस में रजाशाह, अफगानिस्तान में अमानुल्ला ने जन्म ग्रहण किया। मिश्र और सीरिया तथा

फिलस्तीन में प्रचंड राष्ट्रीय प्रतिरोध प्रादुर्भूत हुआ। चीन में भी श्वेत जातियों के हस्तक्षेप तथा उनके अवसरवादी एजेंटों के विरुद्ध इसी काल में दूसरा विद्रोह हुआ। यह सारी उथल-पुथल युद्धोत्तर विश्व की विशेषता थी जिसका उदय विजयी राष्ट्रों की कुनीति की प्रतिक्रिया और प्रतिवाद के रूप में हुआ था। प्रवंचिता और प्रताड़िता मानवता के प्रक्षोभ की इस जगद्-व्यापिनी प्रचंड लहरी से भारत अछूता नहीं रह सकता था। आखिर साम्राज्यवादी विभीषिका का उससे बड़ा शिकार भी तो कोई नहीं था। उससे बढ़कर धोखा भी किसने खाया था? उसके चतुर्दिक् गुलामों की सृष्टि करके न केवल उसकी गुलामी को स्थायी बना देने का पातक किया जा रहा था प्रत्युत राउलट कानून और जलियाँवाला बाग में व्यवहृत नीति के द्वारा सदा के लिये उसकी प्रति-रोधात्मक शक्ति और जागरूक चेतना का कंठोच्छेद कर देने की चेष्टा की जा रही थी। भारत ने आशा की थी वरदान की पर मिला उसे भयावना अभिशाप. फिर भला दक्षिणोदधि से हिमाचल-गिरि-शृंग तक, पश्चिमार्णव से पूर्वी पारावार तक भारत-भूमि क्यों न कंपित हो उठती? पर यह कंपन जहाँ प्रकृति के प्रगतिमूलक नैसर्गिक प्रवाह का अटल परिणाम था वहीं भारत की तत्कालीन आंतरिक परिस्थिति भी थी जिसके द्वारा उसका प्रभावित होना अनिवार्य था। जो परिस्थिति थी उसकी अपनी आवश्यकता थी और उसकी अपनी माँग थी। जीवन की सजीवता यद्यपि स्पंदन में ही व्यक्त होती है तथापि वह स्पंदन जब तक परिस्थिति की आवश्यकता के अनुकूल न हो और उसकी माँग की पूर्ति न करता हो तथा उसकी प्रतिच्छाया लिये हुए मूर्त न हो तब तक उसमें वह प्रेरणा और स्फूर्ति नहीं हो सकती जो जीवन को गतिशील बनाकर इतिहास के निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर करती है। फलतः चेतना की नयी लहर को परिस्थिति का प्रतिनिधित्व करना ही चाहिए।

भारत की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अवस्था पर दृष्टिपात कीजिए और विवेचना कीजिए कि परिस्थिति की क्या आवश्यकता थी और क्या थी उसकी माँग ! जब हम राजनीतिक अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं तो यह पाते हैं कि विदेशी सत्ता भारत के कलेजे पर बैठी हुई अपने को अधिकाधिक सुदृढ़ करते जाने की भयजनक चेष्टा कर रही थी। दमन और आप्यायन की द्विमुखी नीति का परिचालन करके वह एक ओर जहाँ देश की प्रतिवादात्मिका शक्ति और सचेष्टता को विचूर्ण कर देने में संलग्न थी वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज के एक वर्ग को आश्वस्त करके और एक सीमा तक उसके स्वार्थों की संसिद्धि करके अपनी ओर मिला लेने के प्रयत्न पर आरूढ़ थी। अपने इस प्रयास में अंगरेजी सरकार बहुत दूर तक सफल हो चुकी थी। अब तक भारत के राजनीतिक क्षेत्र पर उस उच्च मध्यम वर्ग की ही प्रभुता स्थापित थी जिसका प्रजनन स्वयं भारत में ब्रिटिश सत्ता की प्रतिष्ठा के परिणाम स्वरूप हो गया था। वह अंगरेजी पढ़ा-लिखा वर्ग, पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित और प्रकृष्ट समुदाय, पूँजीपति समूह जो भारत और ब्रिटेन के बीच होनेवाले व्यापार की कड़ी तथा एजेंट बनकर धन संपन्न हुआ था तथा सरकारी नौकरियों और पदों तथा तदुपलब्ध प्रतिष्ठा और प्रभाव का आकांक्षी वह समाज देश में प्रस्तुत था जो शासनाधिकार में भागी बनकर ही अपनी कामना और अपने हित की पूर्ति कर सकता था। भारतीय राजनीति का प्रमुख वक्ता, नेता और प्रतिनिधि यही समूह था जो विदेशी शासन की टीका-टिप्पणी करता, उसकी आलोचना और मौखिक विरोध करता, और अंत में प्रस्तावों द्वारा अपने वर्गमूलक हितों की पूर्ति करनेवाली माँगों को नम्रतापूर्वक उपस्थित करके शान्त हो

जाता। अवश्य ही इसी वर्ग की एक और शाखा थी जो यद्यपि थी इसी वर्ग की तथापि प्रकृत्या उग्र थी। वह बाह्याभ्यन्तर भारतीय थी जिस पर भारतीयता, भारतीय आदर्श तथा भारतीय दृष्टि का प्रभाव अब तक बना हुआ था। विदेशी शिक्षा और सभ्यता के संपर्क में वह भी आया था पर अब तक वह सभ्यता उसके जीवन से भारतीयता को धो बहाने में समर्थ नहीं हुई थी। अंगरेजी शासन उसकी दृष्टि में भारतीय सभ्यता, परंपरा और आदर्श पर ही प्रचंड आघात था जिसका प्रतिवाद उसे उसके सर्वथा उन्मूलन में ही संभव दिखाई दे रहा था। फलतः भारत की पूर्ण स्वतंत्रता की कल्पना से ओतप्रोत यह समूह उग्र होकर विदेशी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह की पताका फहराने में संलग्न था। इन दोनों की दृष्टि, नीति और कार्य-पद्धति में जो विरोध था वह स्पष्ट है।

अंगरेजी सरकार ने दमन और शासन में सुधार करने की द्विधारात्मिका नीति ग्रहण करके दोनों प्रवृत्तियों की दवा कर डाली। एक पर आघात करके उसका गला धर दबोचा तो दूसरे को शासन में अपना छोटा हिस्सेदार बनाकर उसके स्वार्थ को ब्रिटेन के स्वार्थ में लय कर दिया और इस प्रकार ब्रिटिश शासन को निष्कंटक बना डालने की आशा कर ली। सन् १९१८ और १९१९ ईसवी में भारत की जो अवस्था थी वह यह सिद्ध करती है कि अंगरेजों की आशा निराधार भी नहीं थी। 'माण्टेगू-चेम्सफोर्ड-सुधार' के नाम से जो शासन-योजना आविर्भूत हुई उससे देश का वह राजनीतिक वर्ग जो 'नरमदल' के नाम से प्रसिद्ध था और जिसकी राजनीति सुंदर व्याख्यानों, सभा मंचों पर होनेवाले विवादों तथा वर्ष में तीन दिन कांग्रेस के अधि-वेशन में सम्मिलित होकर मनोरंजन करने तक ही परिमित थी, आश्वस्त होता दिखाई देता है। दूसरी ओर देश का वह समूह जो ब्रिटिश

राजसत्ता का संपूर्ण विघटन करना चाहता था बुरी तरह और निष्ठुरतापूर्वक चूर कर दिया गया था। जलियाँवाला बाग में अपनी शस्त्र-शक्ति का प्रदर्शन करके अंगरेजी सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह किसी प्रकार की चूँ-चपड़ भी बर्दाश्त नहीं कर सकती और जो आँख उसकी ओर उठने का भी साहस करेगी वह तत्काल फोड़ दी जायगी। कौन कह सकता है कि अंगरेजी सरकार ने भारत को अपने चरणों के नीचे धर दबाए रखने का जो महदायोजन किया था वह सुविचारित तथा फलदायक नहीं था? जो स्थिति थी वह यही सिद्ध कर रही थी कि भारतीय परतंत्रता का मार्ग प्रशस्त और निष्कंटक हो गया है। देश के राजे-महाराजे और सामन्त वर्ग, जो पहले राष्ट्र की राजनीति के सूत्रधार तथा नेता थे, सन् १८५७ के विद्रोह के बाद ही ब्रिटिश सत्ता के उपासक बन गये थे। उच्च मध्यम वर्ग जो अब तक सचेष्ट था और राजनीतिक धारा का प्रतिनिधित्व कर रहा था आज ब्रिटिश स्वार्थ से एकात्म बनाया जा रहा था। अब भारतीय स्वतंत्रता के महायज्ञ का संचालन करने की शक्ति कहाँ थी? अवश्य ही देश का तीसरा वर्ग बचा था जिस पर राष्ट्र का भविष्य निर्भर करता था। बची थी केवल वह निम्न मध्यम श्रेणी और वह विशाल जन-वर्ग जो देश के भाग्यसूत्र को सँभाल सकता था। पर इस समाज की अवस्था दयनीय थी। कहाँ थी उसमें राजनीतिक चेतना, कर्तृत्वशक्ति और जीवन का स्पन्दन तथा भविष्य की उज्ज्वल कल्पना? उसका इतिहास शताब्दियों की परतंत्रता और दलन का इतिहास था। उसकी जीवन-धारा न जाने कब की सूख चुकी थी। निश्चेष्टता और अज्ञान, शोषण और अपमान तथा भाग्य के सहारे बैठे-बैठे जीवन-प्रदीप को टिमटिमा कर बुझ जाने देना ही तो उसका कार्यक्रम था। हम मनुष्य हैं हमारा कुछ अधिकार है और जीवन के प्रति हमारा कुछ कर्तव्य भी है, इस

भावना ने कदाचित् शताब्दियों से उसका स्पर्श भी नहीं किया था। वह तो पतन और अन्धकार के उस गर्त में गिर चुका था जहाँ पड़े-पड़े मस्तक पर लगनेवाली ठोकरों और जकड़कर बाँध रखनेवाली गुलामी की बेड़ियों से ही प्रेम हो जाता है। भारतीय जनता की दुनिया छोटी, दृष्टि संकीर्ण, चेतना शून्य, भावना लुप्त और जीवन पत्थर हो चुका था। उसे तो मानो इसकी कल्पना भी न थी कि उसकी झोपड़ी के बाहर भी संसार है, जहाँ कुछ गतिशीलता भी हो सकती है। हाड़-माँस के इन निष्प्राण लोथड़ों से देश का भविष्य भला किस प्रकार प्रभावित हो सकता था? कभी किसी ने यह चेष्टा न की कि उनकी धमनियों में पुनः रक्त की गति उत्पन्न कर दी जाय। देश की अब तक की राजनीति भारतीय राष्ट्र के जीवनोदधि की ऊपरी लघु लहरियों के सिवा कुछ न थी। विशाल समुद्र का अतल-तल तो ज्यों-का-त्यों महान्धकार से परिपूर्ण था जहाँ जड़-शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ था। सारी राजनीति छोटे से वर्ग के स्वार्थ, उसकी कामना और कल्पना तक ही परिमित थी। जन-समाज उपेक्षित था जिसका न तो कभी स्पर्श किया गया और न स्पर्श करने की आवश्यकता समझी गयी। कांग्रेस के तत्कालीन कुछ नेताओं के द्वारा जो थोड़ा-बहुत लोक-शिक्षण हुआ भी तो वह नगरों के एक छोटे-मोटे समूह तक ही परिमित रह गया। जो लोग प्रचण्ड भारतीय विद्रोह की कल्पना करते थे वे भी मूर्च्छित और उपेक्षित पड़ी जन-महाशक्ति के उद्बोधन और जागरण की बात न सोच सके। पढ़े-लिखे युवकों के छोटे-छोटे समूहों तथा गुप्त संघटनों और समितियों तक ही उनकी क्रान्ति-योजना रह गयी।

भारत का वास्तविक निवास तो सुदूर स्थित उन अन्धकाराच्छन्न गाँवों की झोपड़ियों में था जहाँ के जीवन को आन्दोलित किये बिना विराट् भारतीय राष्ट्र का महा-जागरण हो ही नहीं सकता था और

इस जागरण के अभाव में यह आशा की ही नहीं जा सकती थी कि भारत का निम्न मध्यम वर्ग और जनवर्ग भारत के राजनीतिक प्रांगण में प्रवेश करेगा। ब्रिटिश साम्राज्यवादी, अधिकारी और राजनीतिज्ञ इस सत्य से भली भाँति परिचित थे। फलतः वे समझते थे कि उच्च मध्यम श्रेणी यदि मिला ली जाय और उसकी उग्र-पंथी छोटी-सी शाखा का उच्छेद कर दिया जाय तो फिर न केवल उनकी सत्ता निरापद हो जायगी प्रत्युत सदा के लिए भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता की आशा-लतिका भी मुरझा जाएगी। संप्रति भारत के भाग्य को उदय कर देने के लिए यही नीति व्यवहृत की गयी। हम देखते हैं कि उस समय भारत की राजनीति पंकिल हो उठी थी जिसके सामने न कोई स्पष्ट लक्ष्य था और न निर्धारित पथ। जो अब तक उसका नयन कर रहे थे वे भी उसे एक सीमा तक ले जाकर छोड़ते दिखाई दे रहे थे। फल स्वरूप वह नेतृ-विहीन होती भी नजर आ रही थी। जो मध्यम वर्ग हमारी राजनीति का आधार था वह संतुष्ट होकर उसे निराधार बना रहा था पर कोई दूसरा वर्ग दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था जिससे उस स्थान को ग्रहण करने की आशा की जा सकती। स्वयं कांग्रेस का सूत्र-धारण अब तक वही वर्ग कर रहा था जो प्रकृत्या एक ही राजनीतिक पथ—से प्रार्थना, दया की भिक्षा, और परावलम्बन से परिचित था। जो मिले वह चाहे कितना भी अकिंचन क्यों न हो—उसे सधन्यवाद स्वीकार करना तथा उससे अधिक के लिए पुनः प्रार्थी होने के सिवा उसे और कोई सार्थक नीति दिखायी देती ही न थी।

अब यदि देश की आर्थिक स्थिति के दर्शन के लिए बढ़िए तो उसकी दशा भी उसी प्रकार दयनीय दिखाई देती है जिस प्रकार राजनीति की। भारत का आर्थिक सूत्र तो भारतीय राष्ट्र के हाथ से इसी समय निकल गया जब ब्रिटिश सत्ता के पैर यहाँ जमे। स्मरण

रखना चाहिए कि अंगरेजों का आगमन इस देश में ठीक उसी समय हुआ था जब भारत इतिहास के ऐसे युग से जा रहा था कि जिसे हम परिवर्तन काल कह सकते हैं। मुगल-साम्राज्य का विघटन यद्यपि अनेक मूर्त और अमूर्त कारणों का परिणाम था तथापि उसका एक कारण यह भी था कि वह सामन्तवादी आर्थिक व्यवस्था जो अब तक के समाज के आर्थिक जीवन का आधार थी तत्कालीन परिवर्तित परिस्थिति के लिए अनुकूल, उपयोगी तथा सार्थक नहीं रह गयी थी। फलत: उसका विश्रृंखल होना अनिवार्य था और मुगल-साम्राज्य का पतन उक्त उद्ध्वस्तोन्मुख सामाजिक तथा आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का ही सूचक था! भारत के ऐतिहासिक प्रवाह को यदि अपनी स्वाभाविक गति से स्वाभाविक-पथ पर जाने का अवसर मिला होता तो कदाचित् इस देशने अपनी आवश्यकता, प्रवृत्ति, परंपरा और परिस्थिति के अनुकूल नये सामाजिक तथा आर्थिक जीवन और संघटन को जन्म प्रदान किया होता। परन्तु ठीक ऐसे ही समय अंगरेजी शक्ति आई और राष्ट्रीय जीवन को सांगोपांग बलात् एक दूसरी दिशा की ओर ले बढ़ी। जो इमारत ढह रही थी उसे ढहाने में अंगरेजों के आगमन ने अवश्य सहायता प्रदान की पर विनाश के बाद निर्माण की जो सहज क्रिया अनिवार्यत: होती उसका कुंठन भी उन्होंने कर डाला। फलत: अभागा भारत त्रिशंकु की भाँति अधर में लटकता रह गया। उसका जो था वह तो मिटा किन्तु उसके स्थान पर वह जो रचना कर सकता उसे न कर सका। जो हुआ वह इतना ही हुआ कि अंगरेज आए तो उन्होंने पतन-प्राय और विघटनोन्मुखी भारतीय परिस्थिति से लाभ उठाया और उसके स्थान पर रचना की ऐसी व्यवस्था की जो उनके हित और स्वार्थ का साधक हो सके। किस प्रकार भारत का उद्योग, यहाँ का व्यवसाय, यहाँ की

कला और कारीगरी का सत्यानाश किया गया और कैसी अंधाधुंध तथा उच्छृङ्खल लूट मचायी गयी इस पर पूर्व के पृष्ठों में संक्षिप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अठारहवीं शती से लेकर इस क्षण तक भारत की अर्थनीति का संचालन केवल एक ही लक्ष्य को सामने रख कर किया गया था, और वह लक्ष्य था ब्रिटेन के आर्थिक स्वार्थ का साधन ! ब्रिटेन की आर्थिक नीति का ही यह परिणाम था कि भारत न केवल दोहित हुआ प्रत्युत अपने सारे शिल्प और उद्योग को खोकर उत्तरोत्तर ग्रामीण होते जाने के लिए बाध्य हुआ।

यह ठीक है कि हमारा देश सदा से ही मुख्यत: ग्रामीण रहा है और कृषि ही जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन रही है। यह भी ठीक है कि इस देश की संस्कृति, स्वरूप और स्वभाव में ग्रामीण संस्कृति रही है। पर जहाँ यह सच है वहाँ इस बात को कौन अस्वीकार करेगा कि भारत शताब्दियों तक अपने शिल्प, अपनी कारीगरी, अपनी कला और अपने व्यवसाय के लिए जगत्प्रसिद्ध रहा है। इस कारीगरी और शिल्प के विकास के साथ-साथ इस देश में नगरों का निर्माण और उत्थान होता रहा है। ऊनी, रेशमी, सूती आदि वस्त्रों के निर्माण के जो केन्द्रस्थल रहे हैं, जहाँ लकड़ी और हाथीदाँत के काम होते रहे हैं, जहाँ धातुओं के बर्तन बनते रहे हैं तथा विविध प्रकार के कारबार तथा शिल्प जिन-जिन स्थानों में होते रहे वहाँ धीरे-धीरे मंडियाँ बन गयी थीं, ग्रामों से आ आकर कारीगर, शिल्पी, व्यवसायी और व्यापारी बसने लगे थे, जनागम के साथ-साथ धनागम होने लगा था, पृथ्वी के सुदूर कोनों से व्यापार होने लगा था, देश विभूति और श्री से संपन्न हो गया था। कृषि, शिल्प और वाणिज्य तीनों पथ न केवल खुले थे वरन् तीनों का अवलंबन करने में देश स्वतंत्र था। फलस्वरूप भारत स्वावलंबी, संतुष्ट और ऐश्वर्यशाली था।

ग्रामीण जीवन के साथ-साथ उन्नत नागरिक जीवन था और ग्रामीण तथा नागरिक जनता की स्थानीय स्वायत्त-शासनाधिकारिणी सहयोग-मूलक संस्थाएँ उसके हित, उसके स्वार्थ, उसके अधिकार और उसकी स्वतंत्रता का सुदृढ़ दुर्ग थीं। कृषि में लगा किसान भूमि का स्वामी था, शिल्प में जुटा हुआ कारीगर उत्पादन के साधनों का और अपनी उन्नत कला का प्रभु था, फलतः उत्पन्न संपत्ति पर उत्पादन का अधिकार था। राज उससे कर भले ही वसूल करे पर उसके जीवन और उसकी संपत्ति में अनावश्यक तथा गलाघोंटू हस्तक्षेप करने का अधिकार किसी को नहीं था। पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रिटिश शक्ति के उदय के साथ-साथ यह सारी व्यवस्था चूर हो गयी।

व्यवसाय, व्यापार, उद्योग और कारोबार जब गया, जब भू-स्वामित्व खेतिहरों के हाथों से छिना और जब अर्थनीति का लक्ष्य हो गया लूट तथा दोहन तब भला उपर्युक्त व्यवस्था और स्थिति कहाँ तक रह सकती थी। मानता हूँ कि उत्पादन के जिन नये साधनों और पद्धतियों का उदय युरोप की औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा हुआ था उसके विकास के साथ-साथ उपर्युक्त परिपाटी और व्यवस्था का लोप समय पाकर अवश्य होता। पर यदि भारत के जीवन की धारा अपने सहज मार्ग से बही होती तो संभवतः उपर्युक्त व्यवस्था जब खतम होती तो उसके स्थान पर वह जगत् के अन्य देशों की भाँति उद्योग, व्यवसाय और उत्पादन की नयी परिपाटी की स्थापना करता और तदनुकूल आवश्यक नव-व्यवस्था को जन्म देता। पर यह हो ही नहीं सका क्योंकि बीच में अंगरेज आ टपके थे जो उसके पथ का कुंठन करने में संलग्न थे। भारतीय शिल्प और व्यापार चौपट अवश्य किया गया पर नव-परिपाटी के अनुसार देश का उद्योगीकरण बलपूर्वक रोका गया। क्योंकि भारत को ब्रिटेन के पूँजी पतियों की लूट के लिए, ब्रिटिश

व्यवसाय के कच्चे माल के लिए और ब्रिटिश-निर्मित पदार्थों की खपत के लिए मुक्त छोड़ रखना अभीष्ट था। फलतः लाखों-करोड़ों कारीगर जो बेकार हुए वे पुनः नगरों को छोड़-छोड़कर गाँवों में जाने के लिए बाध्य हुए। भारत न केवल बेकारी और दरिद्रता का शिकार हुआ प्रत्युत उसके व्यावसायिक केन्द्र उजड़ गये, भूमि पर बोझ बढ़ता गया और देश अधिकाधिक ग्रामीण बनता गया। रेल-पथों तथा मार्गों का निर्माण करके सुदूर गाँवों की अनाज की मंडियों का संबंध अन्तर्राष्ट्रीय जगत् से अवश्य जोड़ दिया गया पर बेचारे किसान की रक्षा का कोई प्रबंध नहीं किया गया। कनाडा और आस्ट्रेलिया, इटली और अमेरिका में यदि गेहूँ की फसल अच्छी या खराब हो जाय तो भारत के किसान के अनाज का भाव तदनुकूल डगमगा जाता। दुनिया की इस उथल-पुथल से अपरिचित भारत का किसान बेचारा यह समझ ही न पाता कि फसल अच्छी न होने पर भी मंदी कैसे आती है और कैसे फसल अच्छी होने पर भी महँगी हो जाती है। देश में अनाज के होते हुए भी भीषण अकाल होते जो लाखों का प्राण-संहार करते, गाँव के गाँव को उजाड़ कर तहस-नहस कर डालते।

यहाँ तो मुद्रा और विनिमय, व्यवसाय और वाणिज्य, कर-स्थापन और शासन की नीति ही ऐसी परिचालित हो रही थी जो ब्रिटेन के हित और भारत के स्वार्थ की निष्ठुर बलि पर आश्रित थी। परिणामतः सारा देश दोहित और परावलंबी बना डाला गया। अन्न और वस्त्र जिसका प्रभूत उत्पादन इस देश की विशेषता थी इस प्रकार लुप्त हुआ कि भारत की जनता को जीवन धारण के लिए आवश्यक इन पदार्थों की उपलब्धि को भी दूसरे की अंजलि पर निर्भर करना पड़ता। अंगरेजी शासन में भारत के आर्थिक जीवन का इतिहास इसी का इतिहास है। यह स्थिति बराबर युद्धकाल तक बनी रही। युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार

की आर्थिक नीति में एक मार्के का परिवर्तन अवश्य हुआ पर वह परिवर्तन भी उसी समय हुआ जब ब्रिटेन का हित वैसे ही रद्दोबदल की अपेक्षा करने लगा। युद्ध के बाद इस देश में नये-नये कल कारखानों की स्थापना के लिए द्वार अनावृत किया गया पर ऐसा क्यों किया गया, किस प्रकार किया गया और किस लक्ष्य को सामने रखकर किया गया इस पर गत पृष्ठों में संकेत किया जा चुका है। ब्रिटिश साम्राज्य के लिए यह आवश्यक था कि वह युद्ध के कारण घटी हुई ब्रिटिश पूँजी को अच्छे मुनाफे पर अन्यत्र खपाने का अवसर ढूँढ़ता। युद्धकालीन परिस्थिति ने अमेरिका और जापान के रूप में ब्रिटेन के प्रचंड प्रतिद्वन्द्वियों को उत्पन्न कर दिया था जो भारतीय बाजार में भी छापा मारने लगे थे। उधर ब्रिटिश पूँजी इतनी न थी और दुनियाँ में औद्योगिक उन्नति इतनी हो गयी थी कि अंगरेज अपने देश में उसे लाभपूर्वक लगा नहीं सकते थे। सोचा यह गया कि ब्रिटिश पूँजी लगाकर यदि भारत में नये कारबार खोले जायँ तो न केवल पूँजी के लिए नया अवसर प्राप्त होगा प्रत्युत भारतीय बाजार में अमेरिका और जापान की प्रतिद्वन्द्विता समाप्त की जा सकेगी। इस नीति का दूसरा लाभ यह था कि भारत के पूँजीपतियों को छोटा सा हिस्सेदार बनाकर उस वर्ग को संतुष्ट और आश्वस्त किया जा सकेगा जो भारत में अपनी पूँजी लगाने के लिए देश के उद्योगीकरण की माँग करता रहा है। फिर यह अनुभव भी हो चुका था कि युद्धकाल में यदि भारतीय कल-कारखाने होते तो कदाचित् भारत अधिक सहायक हुआ होता। इन सब दृष्टियों से यही वांछनीय प्रतीत हुआ कि ब्रिटिश पूँजी भारत की ओर बह चले, और यहाँ के कच्चे माल, सस्ती मजदूरी और खुले बाजार से परिपुष्ट होती चले। नये कल-कारखानों की खरीद करने में ब्रिटिश लौह-व्यवसाय और वहाँ निर्मित कल-पुर्जों की बिक्री का मार्ग भी वर्षों के लिए प्रशस्त हो जायगा।

युद्धोत्तर भारत में ब्रिटिश अर्थनीति की यदि आप विवेचना करें तो स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि परिवर्तित परिस्थिति और आवश्यकता ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को बाध्य किया कि वे भारत में नये कल-कारखानों की प्रतिष्ठा होने दें। उनकी इस नीति का लक्ष्यबिंदु ब्रिटिश पूँजीपतियों का स्वार्थ ही था जिसकी पूर्ति की आकांक्षा उक्त नीति का आधार थी। जिस मनोवृत्ति ने शासन के क्षेत्र में भारतीयों को साझेदार बनाकर 'द्विचक्र शासन-पद्धति' को जन्म दिया उसीने आर्थिक क्षेत्र में ब्रिटिश-भारतीय-पूँजीपतियों की हिस्सेदारी की कल्पना उत्पन्न कर दी। फलतः भारत में धीरे-धीरे सैकड़ों विदेशी कंपनियों की रजिस्ट्री हुई जिसमें कुछ भारतीय पूँजीपतियों को भी हिस्सेदारी करने का अवसर मिला। जब ब्रिटिश पूँजी इस देश में लगी तो ब्रिटेन के पूँजीपतियों की एजेन्सी के रूप में स्थित भारत-सरकार को यहाँ के उद्योग-व्यवसाय को संरक्षण देने की भी सूझी। सन् १९२१ में जिस 'फिस्कल कमीशन' की स्थापना की गयी थी उसने सिफारिश की कि भारत के कुछ विशेष व्यवसायों को संरक्षण प्रदान किया जाय और एक 'टैरिफ बोर्ड' स्थापित किया जाय जो समय-समय पर सरकार को यह सुझाया करे कि अब किन उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना चाहिए। भारत में लगी ब्रिटिश पूँजी को संरक्षण प्रदान करने के लिए पाखंड यह रचा गया कि भारत-सरकार भारतीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना चाहती है। भारतीय पूँजीपति इसमें भला क्यों न तुष्ट होते? वे अब तक भारत में कल-कारखानों की स्थापना की माँग कर रहे थे। वे भारतीय व्यवसाय को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए आवाज भी उठाया करते थे। सरकार की अब तक की उपेक्षापूर्ण नीति से वे उससे रुष्ट थे। आज उन्हें अपनी पूँजी लगाने का अवसर मिला। संरक्षण और

प्रोत्साहन भी प्राप्त हुआ। भले ही ब्रिटिश पूँजी को साझेदार बनाना पड़ा हो पर यह भी उनके लिए लाभप्रद ही था। उन्हें मतलब था अपने मुनाफे से जो ब्रिटेन के अभ्यस्त, अनुभवी और दक्ष व्यवसायियों की सहायता प्राप्त हो जाने के कारण अधिकाधिक निश्चित हो गया। यद्यपि भारतीय पूँजी इन व्यवसायों में लगी तथापि व्यवसायों पर नियंत्रण अंगरेज उद्योगपतियों का ही बना रहा। कारण यह था कि भारतीय अपने लाभ से संतुष्ट थे और प्रबन्ध की झंझट से मुक्त होकर सुख का अनुभव कर रहे थे। अंगरेज भारतीय पूँजीपतियों की इस मनोवृत्ति से भली भाँति परिचित थे और जानते थे कि भारत के उच्च-मध्यम-वर्गीय पूँजीपतियों को मिलाकर, ब्रिटेन के स्वार्थ के साथ उनके स्वार्थ को संबद्ध करके वे न केवल एक प्रभावशाली भारतीय वर्ग को अपना भक्त बना लेंगे प्रत्युत भारतीय व्यावसायिक नीति का सूत्र भी अपने हाथों में रख सकेंगे। सन् १६२४ ईसवी में 'इकोनोमिस्ट' नामक प्रसिद्ध ब्रिटिश पत्र ने यही उद्गार प्रकट किए थे जब उसने साफ-साफ लिखा कि "भारत में ब्रिटिश और भारतीय पूँजी की सम्मिलित सहायता से उद्योग-व्यवसायों की स्थापना निस्संदेह लाभदायक है। भारत के आर्थिक क्षेत्र में 'द्विचक्र व्यवस्था' (डायर्की) वैसे ही आवश्यक है जैसे राजनीतिक क्षेत्र में। भारत के व्यवसायों पर ब्रिटिश नियंत्रण उसी भाँति स्थापित है जैसे पहले था। भारतीय तो अपने लाभ से ही तुष्ट हैं और उन्हें व्यावसायिक प्रबंध में साझेदार बनने की रंच मात्र भी इच्छा नहीं है।"

स्पष्ट है कि युद्ध के बाद भी ब्रिटेन की अर्थनीति भारत के दोहन पर ही अवलंबित थी यद्यपि आवश्यकता के अनुकूल शोषण-क्रिया का व्यूहमात्र बदल दिया गया। जिस प्रकार आरंभ में भारत के राजे-

महाराजे और जमींदारों की रचना करके उनका स्वार्थ ब्रिटिश सत्ता के स्वार्थ में लीन कर दिया गया उसी भाँति अब दूसरे वर्ग का हित ब्रिटिश शासन के हित में स्थायी कर दिया गया। शोषण के लिए आर्थिक व्यवस्था का सूत्र पहले भी अपने हाथ में रखा गया और आज भी बड़ी सावधानी के साथ उसे ज्यों का त्यों बनाए रखने का कुचक्र रच दिया गया। जहाँ तक देश के विशाल और व्यापक जनवर्ग का सम्बन्ध था वह तब भी दोहित, दलित और उपेक्षित था और अब भी। भले ही इस नयी नीति से देश का एक छोटा सा वर्ग लाभान्वित हुआ, धन और ऐश्वर्य का स्वामी बना; पर व्यापक जनता का कौन सा हित हुआ? वह तो पहले भी शोषित थी और आज भी उसके शोषण को निरंतर जारी रखने का आयोजन हो गया। भेद केवल इतना था कि इस शोषण के पाप में स्वयं भारत का मुट्ठीभर पूँजीपति-वर्ग साथी और सहयोगी बना लिया गया। उत्पादिनी जनता अन्न और वस्त्र के लिए परावलंबिनी बनी रही, उसकी रीढ़ कर-भार से चूर होती रही और उसकी बेकारी तथा दरिद्रता आसन जमाये उसकी छाती पर बैठी रही। यह समझना भ्रम है कि भारत ऐसे विशाल देश में, जहाँ की पचीस करोड़ जनता ग्रामवासिनी है, सौ दो सौ कल-कारखानों की स्थापना से भूमि पर लदा बोझ कम हो सकेगा अथवा जनसमाज की बेकारी दूर हो सकेगी। देश की गरीबी और बेकारी से लाभ उठाकर पूँजीपतियों ने सस्ते मजदूर और सस्ता कच्चा माल पाकर भले ही अपना जेब भरा हो तथा देशव्यापिनी जनता का दुहरा शोषण भी भले ही किया हो पर इससे आर्थिक स्थिति की जटिलता और दुरवस्था दूर नहीं हो सकती थी। इस व्यवस्था ने तो इसके आर्थिक जीवन को दूर से भी स्पर्श नहीं किया। स्पर्श करती कैसे? जब सारी नीति के परिचालन का आधार ब्रिटेन के पूँजी-

पतियों का हित-साधन करना था, जब सारा आयोजन किया गया इस नीयत से कि भारत की जनता का अधिकाधिक शोषण करना संभव हो और जब सारे व्यूह के पीछे दृष्टि यह थी कि साम्राज्यवाद की नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके तब यह अनिवार्य ही था कि भारत की वह आर्थिक अवस्था अधिकाधिक विकट हो जाय जो ब्रिटिश शासन की स्थापना के कारण संभूत हुई थी।

अब भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर भी एक दृष्टि डाल लीजिए। इस बात की आवश्यकता नहीं है कि इस स्थान पर भारत के अतीत का गुणगान करूँ तथा उसके महान् सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का विशद वर्णन करूँ। पर एक वाक्य में इतना कह देना अनुचित न होगा कि आज का भारतीय सहस्राब्दियों के अपने अतीत के विशाल पट पर दृष्टिपात करता है तो उसकी उज्ज्वलता और महिमा के दर्शन करके उचित गर्व कर सकता है। आज की दुनिया में जब आयोजन की धूम है और जब अर्थनीति तथा राजनीति, सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक जीवन, सब के आयोजन की गुहार तथा चेष्टा हो रही है तब इतिहास का एक निष्पक्ष विद्यार्थी यह स्पष्ट देखता है कि भारत की प्रतिभा और चेतना ने सहस्रों वर्ष पूर्व सारे सामाजिक जीवन को उसके अंग-प्रत्यंग सहित सुदृढ़ आधार पर स्थापित करके सुन्दर और आयोजित सांस्कृतिक गति प्रदान करने की सफल चेष्टा की थी। भारतीय दृष्टि और विचार की विशेषता यह रही है कि ठोस होते हुए भी उसने जीवन की तरलता को विनष्ट होने नहीं दिया। जगत्, प्रकृति और जीवन के स्वरूप-दर्शन के फलस्वरूप प्राप्त अनुभूतियों के आधार पर उसने ऐसे निष्कर्ष अवश्य निकाले जो उसे सनातन सत्य प्रतीत हुए। उन्होंने उसकी दृष्टि, धारणा, भावना तथा विचार को एक प्रकार

की स्थिरता भी अवश्य प्रदान कर दी तथापि इस स्थिरता ने जीवन के लचीलेपन और उसके सहज धारा-वाहिक रूप को आहत नहीं किया। यही कारण है कि समय और परिस्थिति की गति के साथ-साथ ठोस भारतीय दृष्टि और तदुद्भूत संस्कृति अपेक्षित परिवर्तन को अपनाती गयी। स्थिरता और गतिशीलता प्रकृति का मौलिक धर्म है। इन द्वन्द्वों के आयोजित संतुलन और समन्वय का रूप ही इस अखिल ब्रह्मांड में व्यक्त है। भारतीयता ने इस अटल नैसर्गिक विधान की झलक पाई थी और उसके आलोक में जीवन, समाज तथा संस्कृति की रचना करने की चेष्टा की थी। अपने लम्बे जीवन में अनेक आघात और प्रत्याघात के बाद भी भारतीयता जीवित रही इसका कारण यही है कि उसका निर्माण स्थिरता और गतिशीलता के सामंजस्य को आधार बनाकर हुआ था। प्रकृति की प्राकृतिक धारा के अनुकूल प्रवाहित जीवन में चिरायुत्व और चिर-प्राणत्व अनिवार्य है।

पर समय आया जब कालधारा के निरंतर प्रवाह ने उसकी इस विशेषता को शिथिलता प्रदान कर दी। जिस क्षण यह हुआ उसी समय से उसका जीवन भी जर्जरता और हीनता के लक्षण प्रगट करने लगा। ह्रास और जड़ता का उदय होते ही उसका पतन आरंभ हुआ जो धीरे-धीरे उसे विनाश की ओर ले बढ़ा। पूर्व के पृष्ठों में प्रसंगानुसार पतन की इस प्रक्रिया और उसके प्रभाव की ओर संकेत करता आया हूँ। प्रस्तुत विवेच्य युग भी उसके प्रभाव से मुक्त न था। भारत की घोर तमिस्रा और प्राण-हारिणी मोहनिद्रा का अंत अभी नहीं हुआ था। भारत का यह सौभाग्य अवश्य रहा है कि उसके पतन-काल में भी ऐसी विभूतियाँ आविर्भूत हुई जिन्होंने उसकी क्षयोन्मुखी गति को देखा और उधर से उसे आवर्तित करने की चेष्टा की पर दुर्भाग्य से अब तक तमः पाशाबद्ध भारतीय

राष्ट्र पूर्णतः आकृष्ट नहीं किया जा सका था। फलतः संप्रति भी उसकी सामाजिक स्थिति जड़ताभिभूत और सांस्कृतिक जीवन छिन्न-भिन्न था। रूढ़िपूजा और अंधपरंपरा का साम्राज्य उद्ध्वस्त नहीं हुआ था। कुरीतियों और निष्प्राण कुप्रथाओं की सुदृढ़ जड़ जहाँ की तहाँ जमी हुई थी। जड़ताक्रान्त जीवन पतन से प्रेम करने लगता है और संतोष करता है यह सोच कर कि कभी किसी युग में वह भी महान् था। अतीत से प्रेम अवांछनीय नहीं होता पर वर्तमान की उपेक्षा और भविष्य में अनास्था लेकर अतीत के गुण-गान और उसी में संतोष करने की जघन्य मनोवृत्ति को उस विनाश की अकाट्य सूचना समझिए जो मुँह बाए चबा जाने के लिए सामने खड़ी रहती है। किसी मरणासन्न की ही ऐसी भावना होती होगी क्योंकि उसके लिए वर्तमान और भविष्य दोनों मरे रहते हैं और जीता रहता है उस अतीत का भूत जो न जाने कब का मुर्दा हुआ रहता है। विचार कीजिए कि भारतीय जीवन में क्या यही मनोवृत्ति नहीं थी? जातिगत श्रेष्ठता 'की झूठी भावना का आधार क्या है? ब्राह्मण किसी समय श्रेष्ठ था और आज आप ब्राह्मण कहलाते हैं अतः आपकी श्रेष्ठता चिर है, यही या और कुछ? आप नहीं जानते कि आप ब्राह्मणत्व से वंचित और हीन हैं, आप यह भी नहीं जानते कि समय, आवश्यकता और परिस्थिति स्वभावतः उन बातों का मूल्य परिवर्तित कर देती है जो उसी के कारण किसी समय मूल्यवान थी। पर आप इतना अवश्य जानते हैं कि अपनी श्रेष्ठता का दावा करने और दंभ रचने का अधिकार आपको है, क्यों कि अतीत में कोई ऐसा था जो ब्राह्मण कहलाता था और जो श्रेष्ठ था।

अतीत की यह उपासना उसकी तामसी पूजा है जिसका आधार जड़ता, अज्ञान और मोह होता है। वह न केवल वर्तमान और

भविष्य की हत्या कर देती है प्रत्युत उस अतीत को भी नष्ट कर देती है जिसकी विवेकपूर्ण सात्त्विक स्मृति जीवन के उज्जीवन का साधन होती है। अतीत विभूति है, सार्थक है उस समय जब वह वर्तमान के सुधार और भविष्य की रचना का पथ प्रशस्त करे। उसकी आराधना एकमात्र इसी दृष्टि से वांछनीय है। इसके विपरीत पथ पकड़ना तो कंकाल से चिपट कर प्रेतलीला करना है। भारत इसी प्रेतलीला में संलग्न था। जातपाँत के झगड़े, छूत-छात और खान-पान के भेद-भाव में उसे स्वर्ग का द्वार दिखाई देता था। लकीर के अंधानुगमन में धार्मिकता का आभास मिलता था। फिर भी निरर्थक, उपहास्य और पाखंडपूर्ण असंख्य क्रिया-कलापों में हिन्दुत्व और आर्य-संस्कृति की रक्षा दृष्टिगोचर होती थी। 'विवेक-हीन और दंभपूर्ण सामाजिक रीति-रिवाजों में जाति का गौरव और धर्म का परिपालन दिखाई देता था। समाज जीवित रहता है तब जब व्यक्ति उसे परिपुष्ट करता है और उसके प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान रखता है। उस कर्तव्य-पालन के फलस्वरूप व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और सामाजिक अधिकार का उपभोग करके स्वयं समाज द्वारा प्रतिपालित होता है। पर जब व्यक्ति सामाजिकता की भावना से शून्य हो जाय, अपने कर्तव्य को विस्मृत कर दे और अपने अधिकार से अपरिचित हो जाय तो न केवल समाज विशृङ्खल होगा प्रत्युत स्वयं व्यक्ति भी विनष्ट हो जायगा। भारतीय समाज की कुछ यही स्थिति थी। न सामाजिकता की भावना, न कर्तव्य का ज्ञान, न अधिकारों की अभिलाषा। अज्ञानान्धकार से विशाल भारतीय जनवर्ग आच्छन्न था। न उसे ज्ञान था अपने अतीत का, न वर्तमान का और न आगत का। रूढ़िपरंपरा का आलिंगन करके वह भले ही अपनी पुरातनता पर मिथ्या गर्व करता रहा हो पर कहाँ पता था उसे भारत की उस

विशेषता का जो कालान्तर में इस राष्ट्र के गौरव, बल तथा महत्ता का कारण हुई थी। अपनी संस्कृति, अपने इतिहास, अपने गुण, अपने दोष, अपनी विशेषता और अपनी दुर्बलता के वास्तविक स्वरूप के संबंध में उसे कोई कल्पना भी नहीं थी। जब यह स्थिति थी तो भला उसे जगत् में उठनेवाली नयी लहरियों और धाराओं का ज्ञान कहाँ से होता। जीवन में स्थित जड़ता ने उसे वर्तमान में ही संतोष कर लेने की प्रवृत्ति प्रदान कर दी थी। वह यदि ठोकर खाता तो यह समझता कि उसका जीवन इसी के लिए है। यदि अपमानित, शोषित और दलित होता तो यह सोचकर संतुष्ट हो जाता कि यह सब उसके भाग्य-चक्र का फेर है। फिर तो विधिना-लिखित-ललाट-लकीर को मेटने की सामर्थ्य भला किसमें हो सकती है?

देश का थोड़ा सा समूह यदि सुरक्षित था तो उसकी स्थिति भी विचित्र थी। व्यापक जन-समाज यद्यपि अपरिचित था अपने देश के ज्ञान, इतिहास और उन उत्तमताओं से जो किसी समय इस राष्ट्र की विभूति थीं तथापि उसमें इतनी भावना तो थी ही कि वह उस जाति की संतति है जो किसी समय उन्नत और महान् थी। भले ही उसका यह अभिमान मिथ्या, निरर्थक और निर्जीव रहा हो फिर भी इतना मानना पड़ेगा कि उसके हृदय में वही एक भाव-लतिका थी जिसे सींच करके और उचित पथ की ओर उन्मुख करके राष्ट्र के उज्जीवन का तथा उसे एक बार पुनः हराभरा करने का साधन बनाया जा सकता था। पर आज जो तथोक्त सुशिक्षित वर्ग उत्पन्न हो गया था उसमें तो अपनेपन की भावना भी नहीं रही। वह न केवल अपरिचित था अपने देश की महत्ता से प्रत्युत यह विश्वास करता था कि भारत और भारतीय तुच्छता और लघुता के पर्य्यायवाची शब्द हैं। विदेशी सम्मानित और स्वदेशी हेय तथा पददलित जब

दिखाई देने लगे तो पतन की सीमा की कल्पना करना भी कठिन है। वे तो समझते थे कि ज्ञान और विज्ञान, चरित्र और संस्कृति सब कुछ विदेश से लेना है। क्योंकि भारत के पास जो है वह बर्बर है और उसे मिटाना ही एक मात्र उत्थान का मार्ग है। इस स्थिति को देख कर ही तो महाकवि अकबर बोल उठे थे—

"हम उन किताबों को काबिले जब्ती समझते हैं—
जिन्हें पढ़ करके लड़के बाप को खब्ती समझते हैं।"

पश्चिम से आयी ज्ञान-धारा में अवगाहन आवश्यक था, इसे कौन अस्वीकार करेगा पर निकटवर्तिनी गंगा की उपेक्षा करके एक मात्र दूसरे की अंजलि से ही पानी पीने की मनोवृत्ति परम अंधमूढ़ता का ही परिचायक है। तात्पर्य यह कि देश का अत्यधिक निरक्षर और अशिक्षित वर्ग यदि गिरा हुआ था तो साक्षर और पठित भी विनिपात से मुक्त न था। एक यदि अपने सदोष वर्तमान और अपने रोग को ही अमृत समझे बैठा था और मरते हुए भी मिथ्याभिमान की मदिरा पीकर मूर्च्छित हो गया था तो दूसरा सारा स्वाभिमान खोकर, आत्म-विस्मृत होकर आत्म-लघुता के विघातक ज्वर से आक्रान्त अपने को मिटा देने में ही सफल जीवन समझने लगा था। दोनों परावलम्बी और परमुखापेक्षी थे। आत्म-निर्भरता का अभाव सर्वत्र व्याप्त था, निश्चेष्टता छायी हुई थी, और आत्मविश्वास खोकर सारा देश ठोकर और बंधन को ही अपनी नियति का विधान माने बैठा था।

इससे बढ़कर सांस्कृतिक और नैतिक अधःपतन और क्या हो सकता था? जो राष्ट्र अपने घृणित वर्तमान से विक्षुब्ध होने की सामर्थ्य न रखता हो, जिसके रक्त में भावी की रचना करने का आवेश न हो और जो अपने भाग्य का निर्माण स्वयं अपने हाथों से करने के लिए उतावला न हो वह यदि पतित नहीं है तो क्या है?

भारत सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पतित था, इसका प्रमाण अमृतसर की वह गली है जहाँ हमने पेट के बल रेंगना स्वीकार कर लिया था। भारत के चरित्र का गंभीर और गहरा क्षय हो गया था, इसके साक्षी वे चौराहे हैं जहाँ टिकटियों में बँधे हुए नागरिकों पर कोड़े बरसे और देश ने उसे सहन कर लिया। भारत की जो अवस्था थी उसके लिए मूलत: उत्तरदायी कौन था? क्या सारा दोष अंग्रेजी सरकार और अंगरेज जाति का था? क्या यह सच नहीं है कि अपने अपमान, अपने क्लेश और अपने निर्दलन के लिये हम स्वयं उत्तरदायी हैं! क्या श्रीकृष्ण का यह कहना नितान्त सत्य नहीं है कि हम स्वयं अपने शत्रु हैं और हमी अपने मित्र हैं? विचार करने, खोज करने और विवेचना करने की आवश्यकता है इस बात की कि अंततः इस देश की ऐसी दुर्दशा क्यों हुई? अंगरेज-जाति महान है इसका साक्षी उसका इतिहास है। अपने देश की स्वतन्त्रता और जनाधिकार के लिए ब्रिटिश जनता ने जो तप और त्याग किया है वह जगत की दलित जातियों के लिए उज्ज्वल प्रकाश और जीवनदा स्फूर्ति के रूप में प्रस्तुत है। फिर वही अंगरेजी सरकार इस देश में पशुता का नंगा नाच करने में कैसे समर्थ हुई? क्या पतित भारतीयों के संसर्ग में आकर ही तो वह पतित और पुष्ट नहीं हो गयी? क्या अत्याचारी के संमुख सिर झुका कर अत्याचार सहन कर लेने से बढ़ कर पातक और पातित्य दूसरा नहीं हो सकता। स्मरण रखने की बात है कि अत्याचार करनेवाले से अत्याचार के संमुख आत्मसमर्पण कर देनेवाला कहीं अधिक भ्रष्ट है क्योंकि वह न केवल अपने को गिराता है प्रत्युत आततायी को अत्याचार करने का अवसर और प्रोत्साहन प्रदान करके उसे और मनुष्यता को भी गिरा देता है। जिस राष्ट्र में चरित्रहीनता व्याप्त हो, जिसकी आत्मा के

ओज का क्षय हो गया हो, जो अपनी मनुष्यता खो चुका हो, जो जड़ता और मोह से आच्छन्न हो, जिसका नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक तथा सांस्कृतिक ह्रास हो चुका हो, जिसके जीवन में निश्चेष्टता और गतिहीनता का समावेश हो गया हो और जो भावना, कल्पना, श्रद्धा तथा विश्वास से हीन हो गया हो वह यदि पतित, पराधीन और पददलित हो तो क्या होगा ? उसमें वह बल कहाँ हो सकता है जो मनुष्य को अपने पैरों पर खड़ा होने की क्षमता प्रदान कर सकता है ? कहाँ हो सकती है उसमें वह निर्भयता और उत्सर्ग की भावना जो बड़े से बड़े अत्याचारी के संमुख भी सत्य और न्याय तथा आदर्श के लिए मस्तक ऊँचा कर के खड़े होने की शक्ति प्रदान करती है ? कादरों और नपुंसकों का राष्ट्र अपने ही पाप, अपनी ही दुर्बलता और अपने ही पतन की ज्वाला में जलने के लिए बाध्य होता है।

जब ऐसी थी देश की अवस्था उस समय परिस्थिति किस बात की अपेक्षा कर रही थी यह समझ लेना कठिन नहीं है। भारत के इतिहास में वह मुहूर्त आ गया था जब उसे आवश्यकता थी ऐसी संजीवनी धारा की जो मृतःप्राय राष्ट्र में जीवन का स्पन्दन कर देती। भारत की राजनीतिक पराधीनता और सांस्कृतिक पतन तो उपसर्ग मात्र था राष्ट्रीय आत्मा की उस विकृति का, जिसने समस्त भारतीय जीवन को परितप्त, प्रसुप्त और प्रमादित कर दिया था। आज आवश्यकता थी जीवन के चतुर्दिक उद्बोधन की। अपेक्षा थी इस बात की कि राष्ट्र की आशा और आकांक्षा जगे, उसकी भावना और संकल्प जगे, उसका स्वाभिमान और आत्मविश्वास जगे, उसका विचार और कर्तृत्व जगे, उसका हृदय और चरित्र जगे। आवश्यकता थी भारतीयता के सामूहिक और समूल उत्थान तथा जागरण की। भारत की राष्ट्रीय-प्रतिभा के चैतन्य हुए बिना यह संभव नहीं था कि

वह अपनी ओर देखता, आत्मसमीक्षण में संलग्न होता, अपनी दुर्बलता और विकृति का ज्ञान संपादन करता, अपनी त्रुटियों के परिहार में सचेष्ट होता और मोह तथा जड़ता के बंधनों को उद्ध्वस्त कर के वर्तमान के विघटन और भविष्य की रचना के महान-यज्ञ में प्रवृत्त होता। देश की इस आवश्यकता पर सर्वतोधिक प्रकाश डाला जलियाँवाला बाग की घटना ने जो भारत के पतन की साक्षिणी और पराधीनता का प्रतीक थी। उसने देश की वास्तविक अवस्था पर वह प्रकाश डाला था जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। उसने मानो पुकार कर कह दिया था कि यदि जीवित रहना है तो जागो, उठो और लक्ष्य तथा पथ का निर्माण करो। साथ साथ विश्व की परिस्थिति भी भारतीय राष्ट्र को युग के स्वरूप और उसकी आवश्यकता की अनुभूति करने के लिए बाध्य कर रही थी। युद्ध के बाद मनुष्यता का जो प्रवचन हुआ उसने विक्षोभ की वह लहरियाँ उठा दीं थीं जो आ-क्षितिज वसुन्धरा को आलोड़ित कर रही थीं। सोया हुआ भारत भी उसकी थपकियों से जगने के लिए बाध्य था। फलतः युग की हुंकार से भारतीय अंतरिक्ष भी प्रतिध्वनित होने लगा। परिणामस्वरूप भारत ने भी अँगड़ाई ली और आँखें खोलीं। वह उठा और उठा तो उन प्रवृत्तियों को लिये हुए उठा जिनकी माँग परिस्थिति कर रही थी और युग की पुकार में जिनकी ध्वनि थी। उसका उत्थान केवल राजनीतिक विक्षोभ नहीं था। वह उत्थान केवल आर्थिक अथवा केवल सामाजिक सुधार की गति मात्र भी न था। वह उत्थान था एक मोहित महाराष्ट्र का पुनर्जागरण, जो अपनी खोयी हुई आत्मा की उपलब्धि कर रहा था। उसमें राष्ट्र की मूलभूत प्रतिभा और चेतना के उद्बोधन की प्रवृत्ति थी। वह देश के सामाजिक और सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक, चारित्रिक और बौद्धिक, आर्थिक-

और राजनीतिक, अर्थात् जीवन के चतुर्विध क्षेत्र का उद्दीपन था। यही कारण है कि हम इस उत्थान को भारतीयता के गहरे रंग से रंजित तथा सम्पुटित और भावित पाते हैं। भारत कोई नवोद्भूत राष्ट्र नहीं था। उसके कंधों पर सहस्रों वर्षों के इतिहास, परंपरा और संस्कार की अमिट और गहरी छाप लगी हुई थी। वह उस पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकारी था जिसने लंबे युगतक उसके जीवन के मूल का भेदन तथा अभिसिंचन किया था। उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियों, अनुभूतियों और जीवन की धारा ने उसे विशेष गति, दृष्टि, भावना तथा कल्पना प्रदान कर दी थी। फलतः वह जब उठा तो यह अनिवार्य ही था कि उपर्युक्त भार को लिये-दिये उठता! उन प्रवृत्तियों को इस जागरण का आधार बनना ही था, जो भारत की अपनी विशेषता थी।

पर इसका अर्थ यह नहीं था कि यह जागृति अतीत के पुनरुद्धार की चेष्टा थी। जो गंभीरता पूर्वक विवेचना नहीं करते वे भारत की इस जागृति में भारतीयता के उन्मेष को देखकर भ्रान्त हो जाते हैं और यह समझते हैं कि प्रस्तुत धारा अतीत के पुनस्स्थापन तथा पुनरुद्धार की चेष्टा के सिवा कुछ नहीं है। जो ऐसा समझते हैं उनसे मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करूँगा कि वे भारत के सहस्राब्दियों के इतिहास पर यदि दृष्टिपात करें तो यह पावेंगे कि उसकी सांस्कृतिक गति प्रगति-मूलक तथा वैज्ञानिक रही है। यदि ऐसा न रहा होता तो वह सजीव न रही होती और कभी की मर मिटी होती। जीवन गति का ही दूसरा नाम है और जब गति होगी तो क्षण क्षण परिवर्तित हाने-वाली परिस्थिति से अनुकूलता प्राप्त करने और इससे सामंजस्य स्थापित करने के सिवा दूसरा चारा हो ही नहीं सकता। जिसमें यह क्षमता न होगी वह जीवन की अनन्त यात्रा में आगे बढ़ना तो

दूर रहा, एक क्षण भी टिक नहीं सकता। भारतीय संस्कृति में यह क्षमता प्रचुर मात्रा में रही है जिसका प्रमाण उसकी वह समन्वयात्मक चेष्टा और दृष्टि है जिसने काल के प्रचंड प्रवाह और उसकी चपेट से अपनी रक्षा करने की सामर्थ्य उसे प्रदान की है। समय समय पर जो परिस्थिति और आवश्यकता उत्पन्न हुई, उसके अनुकूल अपने को ढालने और परिवर्तन करने की शक्ति भारत में रही है। काल के प्रताप से सांस्कृतिक क्षेत्र में जब जब विभिन्न और कभी कभी विरोधिनी धाराएँ तथा उपधाराएँ आविर्भूत हुई हैं तब तब भारत ने अपनी मूलधारा को इस प्रकार मोड़ा है कि उनके साथ इसका सामंजस्य तथा समन्वय स्थापित किया जा सके। उसकी इस विशेषता ने उसे सदा प्रगति तथा विकास के पथ पर रखा है। जहाँ यह स्वरूप रहा हो वहाँ अतीत के पुनस्स्थापन की प्रवृत्ति कहाँ रह सकती है? यही कारण है कि हम भारत के सांस्कृतिक इतिहास में कहीं अतीत के पुनरुद्धार के प्रयास को नहीं पाते! हाँ, यह अवश्य रहा है कि भारत ने जीवन और जगत के स्वरूप को एक अपनी विशेष और मौलिक दृष्टि से देखा था। वह दृष्टिकोण उसके सांस्कृतिक जीवन का आधार रहा है। इस आधार को उसने देशकालावच्छन्न, सनातन, सत्य समझा है जिस पर अडिग भाव से आसीन रहते हुए काल के निरन्तर प्रवाह में बहते जाने में उसे कभी आपत्ति नहीं हुई। इस मूलभूत तात्विक दृष्टि के अनुकूल ही उसकी गति और पथ का होना स्वाभाविक है, पर केवल इसी कारण उसके उत्थान और उसकी सक्रियता को अतीत के पुनरुद्धार का प्रयास कहना उचित नहीं है। फलतः जो प्रवृत्ति उत्पन्न हुई वह पुनरुद्धार नहीं पुनर्जागरण की सूचना थी जिसकी धारा में यह राष्ट्र सवेग बहने जा रहा था।

नव जागृति का प्रतीक गांधी

भारतीय राष्ट्र के जीवनाम्बुधि में उठी जागृति की वह तत्कालीन उत्ताल तरङ्ग ही थी जो गांधी के रूप में सजीव व्यक्त हुई। गांधी भारतीय इतिहास की उस प्रचण्ड हिलोर का प्रतिनिधि था जो सारे देश को आसमुद्र-हिमाचल परिप्लावित करने में समर्थ होने जा रही थी। फलतः गांधी के कर-कमलों द्वारा भारतीय हृदय का मंथन होना था और उस विक्षोभ का सर्जन होना था जो ऐतिहासिक नियति का विधान था। भारत-भू के अंचल में आरम्भ से लेकर अब तक एक नहीं अनेक महाचेता मानवों का जीवन अवतरित और विकसित हो चुका है। इस भूमिके पावन कणों से न जाने कितने ऐसे व्यक्तियों का निर्माण हो चुका है जिनकी स्मृति आज तक मानव जाति की विभूति बनी हुई है। महान व्यक्तियों को जन्म देने का श्रेय जगत के अन्य अनेक देशों को भी अवश्य प्राप्त है, पर संसार की कदाचित् किसी जाति को जगत का नेतृत्व करनेवाले उत्कृष्ट व्यक्तित्वों की परंपरा का निर्माण करने का वैसा सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है जैसा भारत को प्राप्त है। इस भूमि ने वीरों और योद्धाओं, शासकों और नेताओं, महर्षियों और मनीषियों, विचारकों और कर्मठों, दार्शनिकों और संतों, भक्तों और तपस्वियों, का बार बार प्रसव किया है, जिन्होंने समय-समय पर भारत ही नहीं किन्तु उसकी सीमा के बाहर भी मानव जाति के विचार और कार्य-क्षेत्र को भलीभाँति प्रभावित किया है। गांधी भी भारत की उसी परंपरागत शृंखला की उद्दीप्त कड़ी है। वह भारत के महाप्राण मानवों के इतिहास में भी अनोखा स्थान रखता है, क्योंकि उसकी

अपनी महती विशेषता है। क्या आप नहीं देखते कि उसमें उपर्युक्त सभी चरित्रों का विकास एक साथ ही हुआ है? यही कारण है कि उसने न केवल विचार क्षेत्र को, न केवल कार्य क्षेत्र को प्रत्युत विचार और कार्य, दोनों क्षेत्रों को साथ साथ प्रभावित किया और दोनों को नयी धारा प्रदान की। भारत की परिस्थिति और आवश्यकता इसी की अपेक्षा कर रही थी। वह चाहती थी ऐसे तत्त्वों को जो एक साथ ही उसकी मानसिक जड़ता और कायिक शिथिलता का परिहार कर दें। वह राह देख रही थी ऐसी शक्ति की जो उसके आत्मा और देह को, उसके आदर्श और व्यवहार को, उसकी आकांक्षा और सक्रियता को साथ साथ प्रबुद्ध कर दे। गांधी के रूप में वही शक्ति प्रादुर्भूत हुई और यही उसकी अनन्य विशेषता है।

यही कारण है कि गाँधी भारतीय महा जागरण का सूत्रधार बन गया। उसे उस ऐतिहासिक प्रक्रिया की पूर्ति करनी थी जिसके चरितार्थ होने का क्षण आ गया था। परंतु इसके लिए यह आवश्यक था कि गांधी अपनी उँगलियों से भारतीय महाप्रदेश में व्याप्त उस धरा-चुंबी जन-वर्ग के अन्तर का स्पर्श करता जिसके आध्यात्मिक और नैतिक, चारित्रिक और बौद्धिक, सांस्कृतिक और भौतिक उद्बोधन के बिना देश का पुनरुत्थान संभव नहीं था। आखिर यह वर्ग ही तो भारत के सामाजिक जीवन का आधार और उसकी मूलशक्ति था जिसके पुनरुज्जीवन पर ही उसका भविष्य निर्भर करता था। गांधी में उन गुणों का प्रभूत आधान हुआ है जिनके बिना कोई नेतृत्व के उच्च पद पर आरोहण नहीं कर सकता। नेता की विशेषता यही होती है कि वह परिस्थिति की गति-विधि को समझ लेता है, उसकी आवश्यकता की अनुभूति कर लेता है, आवश्यकता की पूर्ति जिस लक्ष्य की प्राप्ति से हो सकती है उसका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेता

है और उस लक्ष्य तक पहुँचने का जो पथ हो सकता है उसका विशद रेखांकन कर लेता है। पर नेतृत्व के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसमें वह शक्ति भी होनी चाहिये जिसके द्वारा वह समस्त देश को निर्धारित पथ पर अग्रसर होने के लिए उत्तेजित कर सके। नेता में जब तक यह चुँबकीयात्मक आकर्षक न हो तब तक उसका सारा ज्ञान और सारी दूरदर्शिता और कल्पना-शक्ति निरर्थक है। नेता उसी समय नेता हो सकता है जब नयन करने के लिए अपने पीछे अनुगामियों की भीड़ उत्पन्न कर सके। और जन समाज को अपनी ओर आकृष्ट करने में वही नेता समर्थ होता है जो उसके जीवन में प्रवेश कर जाता है, जो उसकी भाव-तंत्रियों को झंकृत करने में सफल होता है और जो उसके मर्म-स्थल का स्पर्श करने की क्षमता प्रदर्शित करता है। गांधी ने जन-जीवन में सहज ही स्थान प्राप्त कर लिया क्योंकि उसमें उन्हीं प्रवृत्तियों और भावों का विकास हुआ था जिन पर युग युग से भारत ने जीवन की रचना की थी। उसने भारतीय राष्ट्र की भाव-तंत्री को झंकृत करने में सफलता पायी क्योंकि उसकी वाणी में वही स्वर, लय और ताल था जो और राष्ट्र की जीवन-वीणा में कालान्तर से बजता चला आ रहा था। वह देश के मर्म-स्पर्श में सफल हुआ, क्योंकि उसकी दृष्टि, उसका आदर्श और उसका व्यवहार भारत की उस विमल सांस्कृतिक सुर-सरिता के प्रवाह के अनुकूल तथा उससे पूत और प्लावित था जो किसी समय भारत की उज्ज्वल प्रतिभा और जाग्रत चेतना के गर्भ से निकल कर धरती को ओत-प्रोत करने में समर्थ हुई थी।

वस्तुतः यह आवश्यक ही था कि गांधी की ध्वनि में भारत का राग हो, उसके भाव में भारत का भाव व्यक्त हो, उसकी दृष्टि में भारत की दृष्टि प्रतिबिंबित हो। जब तक यह न होता तब तक यह

संभव नहीं था कि एक अतीताभिमानी राष्ट्र जो समय के प्रभाव से विमोहित, पथभ्रष्ट और आत्मविस्मृत हो गया था, पुनः जाग्रत तथा सचेष्ट किया जा सकता। किसी देश की प्रसुप्त प्रतिभा और अचेत हुई चेतना को प्रबुद्ध और चैतन्य करने के लिए उसे उसके स्वरूप का ज्ञान कराना अनिवार्यतः एकमात्र मार्ग है। परिस्थिति भारत के जागरण की मांग कर रही थी क्योंकि भारत के वर्तमान और भविष्य के परिस्थिति की आकांक्षा के अनुकूल ढालना उसी स्थिति में संभव था। इतिहास जागरण की उस क्रिया का महदायोजन गांधी के द्वारा कराने जा रहा था। फलतः गांधी भारतीयता के उन समस्त उत्तम, उत्कृष्ट और पावन भावों की अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत हुआ जो राष्ट्रीय जीवन के आधार रहे हैं। यह आवश्यक होता है कि जो व्यक्ति राष्ट्र का नयन करनेवाला हो वह उन भौतिक भावनाओं, प्रौढ़ अनुभूतियों और परिष्कृत दृष्टियों को प्रतिबिंबित करनेवाला सजीव दर्पण बन जाय जिनका उपार्जन युग युग की साधना के द्वारा राष्ट्र ने किया है और जो उसकी स्फूर्ति तथा उत्प्रेरणा के कारण रहे हैं। फलतः भारत से एकात्म हुए गांधी में भारत ने अपने को देखा और भारत में लयी भूत गांधी के अंतर ने भारत की अवस्था और परिस्थिति, आकांक्षा और आवश्यकता की अनुभूति की। उसने दर्शन किया उन विषाक्त तत्वों का जो देश के जीवन को जर्जर और विक्षत कर रहे थे। उसने झलक देखी उस लक्ष्य-बिन्दु की जिसका भेदन किये बिना देश अपने ऐतिहासिक ध्येय की पूर्ति नहीं कर सकता था। उसे स्पष्ट हो गया वह पथ जिस पर अग्रसर हुए बिना लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। उसने देखा कि भारत अपमान और अन्याय को सहन कर लेता है, पराधीनता और अत्याचार की कड़ुवी घूँट पी जाता है, दर्प और उच्छृङ्खलता के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देता है। उसने

देखा कि परावलंबन की हीने-वृत्ति में उसे लज्जा नहीं आती, नाक रगड़ने में उसकी आत्मा विकल नहीं होती और मस्तक पर पदाघात से भी उसमें विक्षोभ का सर्जन नहीं होता। भारत अपने बंधन से प्रेम करता है, पतन में संतोष लाभ कर रहा है और उस विनाशिनी दुरवस्था के प्रति घृणित उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। देश में स्वाभिमान नहीं, आत्मविश्वास नहीं, सक्रियता और प्रतिरोध की शक्ति नहीं। उसकी आत्मा शिथिल, हृदय पत्थर और शरीर सड़ने लगा है। उसकी चेतना लुप्त, कल्पना मृत तथा भावना सूख चली है। यही कारण है कि अपनी पराधीनता और दीनता, अभाव और अपमान, शोषण और निर्दलन को भी भाग्य का विधान माने बैठा है। उसे न लक्ष्य दिखाई दे रहा है, न पथ सूझ रहा है और न उठ खड़े होने के संकल्प की शक्ति का अनुभव हो रहा है। देश का अंग-प्रत्यंग और उसे आवृत कर रखने-वाला वातावरण मानो भयावनी तमिस्रा के उदर में समाता चला जा रहा है।

ऐसी अवस्था में जलियाँवाला बाग के समान घटनाओं का घटना अवश्यंभावी है। भारत के भावों की उपेक्षा, उसके रोने और कलपने का उपहास तथा उसकी प्रार्थना और उपासना का तिरस्कार भी अवश्य होगा। जब देश का मानव बावन अंगुल का हो गया हो तो उसे पेट के बल रेंगवाना और कोड़ों से पीटना तथा बूटों से रगड़ देना स्वाभाविक ही है। भारत की इस दयनीय परिस्थिति का संपूर्ण चित्र गांधी को भास उठा। भारतीय जागृति की सूचना के रूप में सम्भूत इस व्यक्ति ने उपर्युक्त अवस्था के मूलकारणों का साक्षात्कार भी कर लिया। उसने अनुभव किया कि यह सारी परिस्थिति परिणाम है देश के नैतिक ह्रास, चारित्रिक पतन और आध्यात्मिक अधोगति का। कायरता और भय, अपने में अविश्वास तथा आत्मसमर्पण का मार्ग

वही ग्रहण करता है जिसका चरित्र पतित, मनोबल विनष्ट और नैतिक शक्ति क्षयी-भूत हो जाती है। फिर देश का सामूहिक पतन, उसका राजनीतिक और आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विनाश अवश्यंभावी है। इस मौलिक रोग के परिहार के बिना देश के जीवन की रक्षा असंभव थी। फलतः आवश्यकता थी इस बात की कि राष्ट्र के चरित्र का पुनर्निर्माण किया जाय, उसके पौरुष और उसकी आत्मा को जगाया जाय, उसकी नैतिक शक्ति का उद्बोधन किया जाय। भारत का जो मानव अपनी मानवता और महत्ता को विस्मृत करके बावन अंगुल का हो गया है उसे अपने स्वरूप का ज्ञान कराया जाय जिससे वह बावन हाथ का हो जाय। इसी प्रकार राष्ट्र का उज्जीवन संभव था। चरित्र का विकास अभिव्यक्त होगा उसके आत्मविश्वास में, उसके स्वावलंबन और स्व-निर्माण की प्रवृत्ति में, उसकी सचेष्टता और अपने भविष्य के प्रति आस्था में। उसी के फलस्वरूप उसमें अपने अतीत की उज्ज्वलता की सात्विक स्मृति जागेगी। उसी के परिणामस्वरूप वह अपने घृणित वर्तमान की दुर्गन्ध से व्याकुल होगा। चरित्रशील राष्ट्र ही आत्मसमीक्षा में संलग्न हो सकता है, अपनी दुर्बलता और त्रुटि की अनुभूति तथा परिमार्जना कर सकता है। जब अपने बल पर खड़े हुए आत्मशुद्ध और कलुष-विहीन परिष्कृत राष्ट्र का निर्माण होता है, जब तप और त्याग, जीवनाहुति और उत्सर्ग की नैतिक भावना जाग्रत होती है तब किसकी सामर्थ्य है जो उसका अपमान कर सके। किसमें साहस होगा जो उसकी ओर तिरस्कारपूर्वक दृष्टि उठा कर देख सके? कौन धृष्टता कर सकेगा उसका उपहास करने की? दैन्य और दासता का लोप तो उसी समय हो जाता है जब राष्ट्रीय चरित्र जाग्रत हो जाता है। ये तो उपसर्ग हैं राष्ट्र के जीवन के उस महारोग के जो उसके चरित्र के

क्षय में व्यक्त होता है। जब यह रोग मिटा तो उसके उपसर्ग भला कहाँ रह सकते हैं? उनका विलोप ही तो प्रमाण होगा इस बात का कि उस रोग का निराकरण हो गया।

आत्मसमीक्षा और आत्मनिर्माण की प्रवृत्ति ही तो जागरूकता की सूचिका होती है। गांधी उसी प्रवृत्ति की प्रति-मूर्ति था। अतीत की अनुभूतियों का उत्तराधिकारी भारत जब सजग होकर आत्म-समीक्षण और आत्म-निर्माण में प्रवृत्त होने जा रहा था तो यह स्वाभाविक था कि उसकी चेष्टा, उसकी गति, उसकी विधि, उसकी दृष्टि और उसके पथ तथा उसकी पद्धति में उस भारतीयता का आलोक झलकता, जिसका उदय और विकास भारत के जीवना-काश में कभी का हो चुका था। भारतीय जीवनाभिनय के रंग-मंच पर प्रमुख अभिनेता के रूप में युगान्तर का अग्रदूत बना गांधी जब अवतरित हुआ तो स्वभावतः उसमें अतीत का आलोक, वर्तमान की पीड़ा और भविष्य का संकेत एक साथ ही अभिव्यक्त दिखाई दे गया। गांधी की वाणी, भाषा, भेष, भाव, दृष्टि और कल्पना में उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियाँ मूर्त हुईं। उसकी विचारधारा भार-तीय इतिहास की उपर्युक्त त्रिवेणी को लेकर प्रवाहित हुई, जिसमें अवगाहन करके राष्ट्र ने अपनी जड़ता, मोह और अज्ञान तथा विस्मृति के कलुष को धो बहाया। गांधी में इस देश ने अपनी भावना, प्रवृत्ति और आत्मा पायी और जगत ने देखा कि वह व्यक्ति भारत के इति-हास का उज्ज्वल और एक नया अध्याय बनने जा रहा है! अहिंसा-त्मक असहयोग वास्तव में इस नयी ऐतिहासिक धारा से प्रसूत और उसकी गति का ही सूचक था। उसमें देश के चरित्र निर्माण की, उसकी नैतिक शक्ति के उन्नयन की, आत्म-समीक्षा तथा त्रुटियों के परिहार की और आत्मशुद्धि की प्रवृत्ति थी। उसमें वर्तमान के प्रतिरोध

और विघटन की तथा भविष्य की रचना और स्वरूप की ओर संकेत था। उसमें स्वावलंबन और आत्मोद्धार, तप तथा उत्सर्ग की भावना थी। अन्याय को ललकारने तथा अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करने और आदर्श के लिए जीवन को आहूत करने की प्रेरणा थी। उसमें अदमनीय संकल्प, दृढ़प्रतिज्ञा तथा आवश्यक हो तो निर्भयतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन करने का आमन्त्रण था। उसमें राष्ट्र की आत्मा के उज्जीवन की लहर थी। उसमें विनाश और रचना, विप्लव और सर्जन की सम्मिलित गूँज थी और आवाहन था समस्त भारतीय राष्ट्र का कि वह उठे और इस महायज्ञ में प्रवृत्त हो।

यह सब होते हुए भी उसके मूल में वह तात्विक दृष्टि प्रतिष्ठित थी जिस पर भारत के प्रौढ़ और प्राचीन सांस्कृतिक जीवन का निर्माण युग युग से हुआ था। गांधी के सत्य और अहिंसा में वही भारतीय दृष्टि प्रतिबिंबित थी। भारत ही नहीं, प्रत्युत समस्त मानव जाति के सांस्कृतिक विकास में भारत की जो देन थी उसका सार सत्य और अहिंसा ही रही है। आज पुनः गांधी ने उन तत्वों को सवेग उपस्थित किया क्योंकि सत्य और अहिंसा के मंत्रद्रष्टा भारत से बढ़कर आज कौन था जो असत्य और हिंसा की घृणित उपासना में संलग्न था? हिंसा और पाशविक निरंकुशता पर प्रतिष्ठित सत्ता के संमुख पलायन और आत्मसमर्पण करने से बढ़कर हिंसा की दूसरी पूजा क्या हो सकती थी? कायरता से बढ़कर हिंसा जगत में है ही नहीं? आत्म-विश्वास खोकर, स्वाभिमान को तिलांजलि देकर, अन्याय और अत्या-चार के सामने सिर झुका देना हिंसा नहीं है तो क्या है? शस्त्रबल के सहारे जो असत्य की प्रतिष्ठा में संलग्न हो उससे भयभीत होकर उसी की पाद-पूजा में रत होना हिंसा और असत्य की घृणित आरा-धना करना है। आज भारत इसी कुकर्म में प्रवृत्त था। उसकी

पराधीनता इसी का ज्वलन्त प्रमाण था। जलियाँवाला बाग की घटना उसी की द्योतिका थी। भारत ने आज स्वयं उसी विभूति को विनष्ट कर दिया था जिसे प्रदान करके उसने मानव जाति की महती सेवा की थी। यदि उसमें सत्य और अहिंसा का बल और उसकी उज्जीविनी शक्ति रही होती तो उसने असत्, अशुभ और हिंसा की प्रतिमूर्ति ब्रिटिश सत्ता के संमुख अपने जीवन का विसर्जन न कर दिया होता। अहिंसा में पलायन की प्रवृत्ति का समावेश नहीं है। गांधी ने अनुभव किया कि अहिंसा और सत्य प्रकृति का वह अदृश्य नैतिक विधान है जिसकी विजय असत्य और हिंसा पर होनी चाहिये। मानव-जीवन का यदि कोई आदर्श हो सकता है अथवा यदि उसका कोई प्रवाह होना चाहिये तो उसे केवल इसी एक दिशा की ओर उन्मुख होना चाहिये कि वह असत्य और हिंसा पर सत्य और अहिंसा की विजय में सहायक हो और इस प्रकार नैतिक विधान के चरितार्थ होने में जीवन को होम कर सार्थक हो जाय। फलतः अहिंसा न निष्क्रियात्मक है, न पलायनमुखी और न गतिहीन। उसे सक्रियात्मक, संघर्षात्मक तथा विजयोन्मुखी और गतिशील होना ही पड़ेगा। बिना इसके वह न उज्ज्वल आदर्श हो सकती है, न जीवन का तत्व और निसर्ग का नैतिक विधान। इसके विपरीत अहिंसा के नाम पर जो किया जाय वह विशुद्ध पाखंड, घृणित दंभ, और निष्प्राण तथा विघातक अनैतिक मनोवृत्ति का द्योतक है।

भारत ने यदि अहिंसा-तत्व का साक्षात्कार किया था तो आज उसे भूल कर पतित, पथभ्रष्ट, और प्रमादित हो गया है। यदि ऐसा न होता तो हिंसा पर आश्रित पराधीनता को एक क्षण के लिए भी बर्दाश्त न करता। माना कि उसके हाथ में शस्त्र नहीं रह गया था, पर अहिंसा हिंसा के विरोध के लिए शस्त्र की अपेक्षा नहीं करती।

वह तो हिंसा की स्वभावतः विरोधिनी है। वह एक मनःस्थिति है जो हिंसा को संमुख पाकर विक्षोभ और विप्लव का सर्जन किये बिना रह ही नहीं सकती। अहिंसा का बल है उस अक्षय आत्मा में जो भयावने अस्त्र-शस्त्र, घोर और उद्दंड पशु शक्ति, भौतिक ऐश्वर्य और प्रभुता, कर्म और प्रमत्तता, किसी के संमुख भी कुंठित नहीं होती। उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तप और उत्सर्ग में, जीवनाहुति और अदमनीय संकल्प में, सत्य और आदर्श के लिए हँसते-हँसते मर जाने में। वह उस मानसिक विद्रोह की दशा का सर्जन करती है जो सब कुछ स्वाहा करके तब तक प्रज्ज्वलित रहती है जब तक हिंसा का उन्मूलन न हो जाय और सत्य विजय-पद न प्राप्त करे। वह प्रकृत्या आश्रित है इस श्रद्धा और विश्वास पर कि सत्य की अंतिम विजय अनिवार्य है। जब यह है अहिंसा का स्वरूप, स्वभाव, और गति तो भला सशस्त्र और अशस्त्र रहने न रहने का प्रश्न ही कहाँ उठता है। भारत अहिंसा का पूजक रहा होता तो मस्तकोच्छेद हो जाने देता, पर न कायरता का प्रदर्शन करता, न पेट के बल रेंगना स्वीकार करता और न बलाश्रिता पशु-शक्ति की पराधीनता अंगीकार करता और न अपने राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक और सांस्कृतिक पतन का द्वार प्रशस्त होने देता। इसी अहिंसा और सत्य के तत्व को आधार-शिला के रूप में ग्रहण करके भारत के नवनिर्माण की सक्रियात्मक प्रवृत्ति उद्भूत हुई जिसका मूर्त रूप गांधी के असहयोग और सत्याग्रह में प्रकट हुआ।

यही कारण है कि असहयोग और सत्याग्रह के रूप में अभिव्यक्त हुई गांधी की विचार-धारा केवल देश की राजनीतिक क्रान्ति तक ही परिमित नहीं रही, वह सार्वदेशिक जीवन के सामूहिक और चतुर्विध उत्क्रान्ति की विराट लहरी बन गयी जिसने भारत के कण-

कण का अभिसिंचन कर डाला। वह एक पुरातन और महान किन्तु संप्रति अधःपतित राष्ट्र के पुनर्जागरण और नव-निर्माण के महाप्रयास के रूप में सवेग प्रवाहित हुई जिसकी प्रबल चपेट से समस्त भारत भूमि आमूल हिल उठी। गांधी के असहयोग की गूँज ठीक उसी समय हुई जब भारतीय अन्तरिक्ष निःशब्द होकर उचित पथ की ओर संकेत करनेवाली किसी ध्वनि की प्रतीक्षा उत्कंठापूर्वक कर रहा था। उसकी अहिंसा की आवाज ठीक उसी कालके क्षितिज से टकरा कर प्रतिध्वनित हुई, जब बेचारी वसुधा अपनी संतति के रक्त-स्नान से विकल होकर त्राहि त्राहि कर रही थी; हिंसा के उन्मूलन की पुकार और पद्धति गांधी के मुख से ऐसे ही समय प्रकट हुई जब जगत की छाती पर हिंसा का उल्लग नर्तन हो रहा था। गांधी के असहयोग में उन समस्त दलितों, पराजितों और प्रवंचितों के लिए आशा तथा जीवन था जो आज सुसंघटित पशुता और हिंसा से कुचले हुए अपनी हीन-दशा के प्रतिकार का मार्ग ढूँढ़ रहे थे। फिर निहत्था भारतीय राष्ट्र उधर क्यों न आकृष्ट होता? आखिर असहयोग का प्रवर्तन उसकी प्रबुद्ध प्रतिभा के गर्भ से ही तो हुआ था। भारत का वह मुसलमान-समाज जिसे ब्रिटिश कूटनीति राष्ट्र की जीवन-धारा से विलग रखने में बहुत कुछ सफल हुई थी आज सर्वप्रथम उसमें कूद पड़ा। गत महायुद्ध के बाद ब्रिटेन ने जब समस्त जगत का प्रवंचन किया तो भला भारत का मुसलमान क्यों न धोखे में पड़ता। कह चुका हूँ कि गत युद्ध में तुर्की मित्र-पक्ष का शत्रु था। ब्रिटिश सरकार ने भारत के मुसलमानों को यह आश्वासन दिया था कि तुर्की की पराजय के बाद मुसलिम धर्म-स्थानों में हस्तक्षेप न किया जायगा और न तुर्की के साथ अन्याय किया जायगा। पर सेव्र में पराभूत तुर्कों के साथ जो संधि की गयी थी वह न केवल तुर्कों का अपमान करनेवाली

थी प्रत्युत भारत के मुसलमानों के हृदय को भी ठेस पहुँचाने वाली थी। तुर्की, मिश्र, अरब, फिलस्तीन, शाम, मैसोपोटेमिया पर से अपना अधिकार हटाने के लिए बाध्य तो किया ही गया था साथ साथ कुस्तुन्तुनियाँ मित्रों की सेना के चरणों के नीचे धर दबोचा गया। तुर्क सुलतान खलीफा, जो जगत के करोड़ों मुसलमानों की धर्मभावना के प्रतीक थे, एक प्रकार से मित्र-सेना के बंदी बना लिये गये थे। भारत के मुसलमानों को तो यह भी आशंका होने लगी थी कि न केवल खिलाफत का गौरव धूल में मिला दिया जायगा प्रत्युत अरब जहाँ मुसलिमधर्म-स्थान स्थित हैं, ईसाई शक्तियों के नियंत्रण में चला जायगा। ब्रिटेन की इस नीति में उन्होंने विश्वास-घात और वचन-भंग देखा, फलतः विक्षुब्ध हो उठे।

आज वे भी ब्रिटिश नीति का प्रतिवाद और प्रतिरोध करना चाहते थे। गांधी जी के नेतृत्व में असहयोग के द्वारा उन्हें भी मार्ग दिखाई दे गया। इसके पूर्व कि इस देश की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाली कांग्रेस असहयोग के मार्ग पर अपना निर्णय प्रदान करती तत्काल स्थापित भारत की केंद्रीय खिलाफत-समिति ने २८ मई सन् १९२० ईसवी में असहयोग का पन्थ स्वीकार कर लिया। गांधी जी की कल्पना-शील बुद्धि ने यह अनुभव किया कि आज वह अवसर उपस्थित है जब भारत के हिन्दू-मुसलमानों के बीच की उस खाई को, जिसे विगत शताब्दियों के इतिहास ने तैयार कर दिया था और जिसे अधिकाधिक प्रशस्त करने की नीति का अवलंबन करके ब्रिटिश कूटनीति भारतीय राष्ट्र के निर्माण का पथावरोधन करने में समर्थ हुई थी, पाटने का प्रयत्न किया जा सकता है। हिन्दुओं की संकीर्णता और मुसलमानों की धर्मान्धता ने परस्पर उस अविश्वास और कुभाव का सर्जन कर दिया था जिसकी आग अभी

बुझी न थी कि अंगरेज आ धमके थे। उन्होंने उसे सुलगाते रहने में ही अपना कल्याण देखा। आज हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही रोग से पीड़ित थे। अवसर था कि हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के दुःख में सहानुभूति प्रकट करके, परस्पर सहायता प्रदान करके उस विश्वास और सद्भाव का प्रजनन करें जो समय पाकर दोनों को एक दूसरे के निकट आने का मार्ग खोल दे। गांधीजी ने अवसर से लाभ उठाया और मुसलमानों के प्रति जो अनीतिमूलक व्यवहार किया गया था उसके विरुद्ध भी आवाज उठायी। इस प्रकार सारा भारतवर्ष असहयोग की पुकार से जगता दिखाई पड़ा। ऐसा ज्ञात हुआ कि जनान्तर का वह विक्षोभ जो मार्ग न पाकर भीतर ही भीतर मसोस रहा था आज फूटा चाहता है। कांग्रेस और उसके नेता भारतीय हृदय के इस उबाल की उपेक्षा कैसे कर सकते थे? परिस्थिति बदल रही थी, वातावरण नव-युग के आगमन की सूचना से गूँज रहा था और भारतीय अंतरिक्ष गांधी के रूप में बाल सूर्य की कोमल किरणों से स्वर्ण रंजित दिखायी दे रहा था। कांग्रेस पर यद्यपि गरम दलवालों का प्रभाव जमने लगा था पर नरम दल की प्रभुता का सर्वथा परिहार नहीं हुआ था। पर नरम दल हो या गरम दल किसी को इस आनेवाली आँधी की कोई कल्पना न थी। लोकमान्य भारत की राजनीति में उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति अवश्य चमक रहे थे पर यह प्रचण्ड तेजस्वी सितारा भी सहसा १ अगस्त सन् १९२० में बुझ गया था। ऐसी परिस्थिति में ४ सितंबर को कलकत्ते में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कांग्रेस का विशेषाधिवेशन हुआ। कांग्रेस के अधिवेशन में देश के तपे-तपाये नेता और कर्णधार उपस्थित थे। पूज्यपाद मालवीयजी, श्री जिना, देशबन्धु और विपिन चन्द्रपाल, सभी उपस्थित थे। लोकमान्य का अनुयायी प्रतिष्ठित

महाराष्ट्रीय नेतृवर्ग भी मौजूद था। उपर्युक्त प्रायः सबने असहयोग का प्रचंड विरोध किया। उमड़ती हुई नयी धारा के प्रति सब सशंक थे, सभी असहयोग के स्वरूप की कल्पना करके विचलित थे पर युग की धारा के वेग को कौन रोक सकता है? गांधी के मुख से इतिहास बोल रहा था, उसकी दृष्टि में युग का प्रतिबिंब था, उसकी लंबी भुजा भविष्य की ओर संकेत कर रही थी। अन्ततः महती भारतीय जागृति की सूचना देनेवाले इस प्रतीक के संमुख सबने सिर झुका दिया। कांग्रेस ने विशेषाधिवेशन में असहयोग के प्रस्ताव को प्रायः सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। तीन महीने बाद नागपुर के साधारण अधिवेशन में उसने अपने इस निर्णय पर पुनः मुहर लगा दी।

(९)

असहयोग का स्वरूप दर्शन

असहयोग की वह धारा जो आज से पचीस वर्ष पूर्व इस देश में प्रवाहित हुई तब से लेकर अबतक राष्ट्रीय जीवन का अभिसिंचन कर रही है। उसने भारत के राजनीतिक और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक, चारित्रिक और नैतिक सभी अंग-प्रत्यंगों को समान रूप से प्रभावित किया है। अवश्य ही असहयोग महान् राजनीतिक आन्दोलन के रूप में व्यक्त हुआ, पर पूर्व के पृष्ठ में जैसा कह चुका हूँ, उसे केवल राजनीतिक विक्षोभ समझना उसका एकांगी दर्शन करना है। उसका बाह्य स्वरूप राजनीतिक अवश्य दिखाई पड़ा, क्योंकि स्थूलतः वह भारत की पराधीनता के विरुद्ध देश के विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ; पर सूक्ष्मतः वह धारा थी राष्ट्र के समस्त मुरझाए हुए जीवन को हरा भरा करने वाली। पराधीनता

भी वास्तव में सांस्कृतिक महापतन का ही परिणाम और उपसर्ग था। देश की हीनता और जर्जरता उसी रूप में मूर्त हुई थी; फलतः जो उपचार मौलिक रोग के परिहार के लिए आरंभ हुआ वह स्वभावतः उसके प्रकट स्वरूप और उपसर्ग पर आघात करता दृष्टिगोचर हुआ। सावधानी के साथ यदि हम असहयोग के स्वरूप और उसके कार्य-क्रम पर दृष्टिपात करें तो यह पावेंगे कि वह देश के व्यापक जीवन को स्पर्श कर रहा था। उसने भाषा, भेष, भाव, साहित्य, धर्म, समाज, रीति, रिवाज, राजनीति, अर्थनीति, दृष्टि, धारणा, कल्पना, आचार, व्यवहार, आदर्श सब पर अपनी विशेष छाप छोड़ी है। भारत के इतिहास में जिस नव-युग का प्रवर्तन हुआ था, उसकी झाँकी हमें चतुर्दिक् दिखाई देती है। गांधीजी इस युग के प्रवर्तक और दीक्षा-गुरु के रूप में समुपस्थित होते हैं। आप देखेंगे कि राष्ट्र की सूत्रात्मा सभी दिशाओं की निर्जीव परंपराओं और बंधनों को छिन्न-भिन्न करने के लिए गतिशील तथा उसे नवयुग के प्रकाश से प्रकाशित करने के लिए उत्कंठित दिखाई देती है। असहयोग के समस्त कार्यक्रम में एक विशेष प्रवृत्ति और प्रेरणा स्पष्ट है। स्वाभिमान और आत्मोद्धार, आत्मावलंबन और आत्मनिर्माण, आशा और जीवन रचना और विकास की भावना से ही वह ओतप्रोत है। त्याग और तितिक्षा, बलिदान और निर्भयता की प्रवृत्ति स्पष्टतः लक्षित है। स्वार्थ और अहं से ऊँचे उठकर महान् आदर्श में अपने को लय कर देने की कल्पना से अनुप्राणित है। असहयोग की उपर्युक्त प्रवृत्ति भावना और कल्पना की छाया आप राष्ट्र-जीवन की सभी दिशाओं पर पड़ती पावेंगे। चारों ओर उथल-पुथल और सक्रियता के चिह्न प्रकट होते हैं; पर वह सारी हलचल मूलतः उपर्युक्त प्रवृत्तियों को लेकर ही अग्रसर होती है। फलतः इस व्यापक विद्रोह की लहरी जब विशाल भारत के

विशद प्रांगण में लहरायी तो वह सारा समूह और वे सारे तत्त्व, जो निर्जीव अतीत के शव पर घृणित वर्तमान के परिपोषण में अपना स्वार्थ देख रहे थे और जो स्वयं उसी से परिपालित थे, सिहर उठे।

असहयोग बढ़ा तो उन सबसे असहयोग करने की प्रेरणा लेकर बढ़ा जो राष्ट्रीय जीवन के लिए विजातीय और विषाक्त थे, उसके अपमान और विनिपात के कारण तथा प्रतीक थे और जो उसके भविष्य और विकास का कुंठन कर रहे थे। असहयोग था ब्रिटेन की उस विदेशी सरकार से, जो न केवल विदेशी थी प्रत्युत हिंसा और निरंकुशता, अहंकार और स्वार्थ, शोषण तथा दलन, असत्य और अनीति पर प्रतिष्ठित सत्ता थी। असहयोग था अपनी जड़ता और कायरता से, मोह और बंधन से, जो देश के पतन के कारण हो रहे थे। असहयोग था भारत के जघन्य वर्तमान तथा तदुद्भूत उन समस्त भावों और परम्पराओं से, जिसमें भारत की पराधीनता, पतन और हीनता स्पष्ट झलक रही थी। पर असहयोग केवल निष्क्रियात्मक नहीं था। उसमें अपने से सहयोग था, भारत के कण कण के उज्जीवन की चेष्टा थी, आत्मशुद्धि और अपने बल के द्वारा भारतीय प्रतिभा के अनुकूल उज्ज्वलता के भविष्य के निर्माण का प्रयास था, देश की स्वाधीनता की आकांक्षा थी, राष्ट्रीय गौरव की प्रतिष्ठा की चाह थी और अनुभूति थी इस बात की कि संकल्प, सक्रियता, साधना और सामूहिक सहयोग के द्वारा आज की पतित परिस्थिति कल के प्रभामय प्रभात में परिवर्तित की जा सकती है। उसमें स्फूर्ति थी देश की उस प्रतिरोध की शक्ति को जगाने की जिसके अभाव में भारत असहाय, परावलंबी तथा उपेक्षित और उपहास्य हो गया था। उसमें विप्लवकी हुंकार थी तो सर्जन का स्पंदन भी था। उसमें वर्तमान को ढहाने का दृढ़ निश्चय था, तो उसके स्थान पर नये की स्थापना का संकल्प भी था। किसी गिरे हुए

राष्ट्र के उन्नयन के लिए, उसे ओज, तेज और जीवन प्रदान करने के लिए उपर्युक्त प्रवृत्तियों के सिवा और किस बात की अपेक्षा होती है ?

फलतः असहयोग ने भारतीय जीवन के सभी खंडों और विभागों को वह प्रदान किया जिसकी अपेक्षा वे कर रहे थे। भारत की राजनीति आज यह अपेक्षा कर रही थी कि देश का वह वर्ग जाग्रत और उत्थित हो जो समाज का आधार है पर जो दुर्भाग्य से प्रसुप्त तथा पददलित है। उस समूह के जीवन का स्पर्श करना और उसे झंकृत करना था जो परिस्थितियों की मार से सूख चला था। पूर्व के पृष्ठों में कह चुका हूँ कि साम्राज्यवादी आवश्यकता और नीति ने भारत के सामन्तवादी तथा उच्च मध्यम श्रेणी के स्वार्थों को लेकर उसे ब्रिटिश स्वार्थ से इस प्रकार संबद्ध कर देने की चेष्टा की थी कि आज उनका हित भारत में ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा पर निर्भर हो गया था। भला इस वर्ग से कहाँ यह आशा की जा सकती थी कि वह वर्तमान के उन्मूलन में प्रवृत्त होगा ? यह कार्य तो संपादित हो सकता था उस विशाल और व्यापक जन-वर्ग से, जिसके दोहन पर ब्रिटिश सरकार तथा उससे परिपालित भारतीय उपर्युक्त वर्ग स्थिर थे। वह वर्ग जिसका निवास गाँवों की झोपड़ियों में था, जो अज्ञान के अंधकार से आच्छन्न था, जिसमें चेष्टा और जागृति का अभाव था, जो अपनी हीन दशा को सनातन सत्य समझे पड़ा था और जिसके हृदय में दीनता, पलायन तथा परमुखावेक्षण ने स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया था उसीके जागरण पर वर्तमान का विनाश और भविष्य का उदय अवलंबित था। फलतः आज आवश्यकता थी इस बात की कि वही वर्ग जागृत किया जाय, उसमें आत्मसमीक्षा का भाव भरा जाय और स्वावलंबन की प्रवृत्ति उत्पन्न की जाय। उसे उसके हिताहित, कर्तव्याधिकार और वर्तमानातीत से परिचित करा देने की आवश्यकता थी।

उसके संमुख आदर्श की प्रतिष्ठा और पथ का निर्धारण करना इष्ट था तथा स्फूर्ति प्रदान करनी थी कि वह उठे और लक्ष्य की ओर अग्रसर हो। उसमें आशा, और विश्वास उत्पन्न करना था और उद्दीपन करना था उस मनुष्यता का जिसे भूल कर वह जड़ हो गया था। उसमें प्रतिरोध और संघर्ष की उस आग को सुलगाना था जिसके बिना बलहीन राष्ट्र अपनी आत्मा का हनन करने के लिए बाध्य था। पर इसके साथ ही प्रतिरोध का साधन तथा मार्ग भी प्रदान करना था जिसे आज उपलब्ध न पाकर देश अंधकार मे पड़कर आत्म-समर्पण किये बैठा हुआ था। जिनके हाथों मे अब तक राजनीति का सूत्र था उनमे अधिकतर लोगों के लिए वह मनोरंजन का साधन मात्र था। वर्ष के दो-चार दिन राजनीतिक मेला भले ही हो जाता रहा हो, जिसमे कुछ लोग बौद्धिक प्रदर्शन करके संतोप लाभ कर लेते रहे हों पर इससे अधिक और क्या था? वहाँ थी राजनीति उस साधना का पथ जिसका अवलंबन करनेवाले जीवन-स्वाहा करने का दृढ़ संकल्प लेकर बढ़ते हैं। भारत की राजनीति को आज सजीव और गंभीर बनाना था और उसे पूत करना था उनके तप और उत्सर्ग से, जिनके लिए भारत की स्वतंत्रता का अर्थ एक महादेश के जीवन की रक्षा, मानव जाति की मुक्ति और सत्य तथा मनुष्यता की विजय थी। निहत्थे और असहाय भारतीयों की पराजित मनोवृत्ति का परिहार करके उन्हें अनुप्राणित करना था एक ऐसी कल्पना से जो भारत की स्वतंत्रता को पवित्र राष्ट्रीय महायज्ञ के रूप में देखती। उसी समय तो उस व्यापक संग्राम की ज्वाला जलायी जा सकती थी जिसमें राष्ट्र सब कुछ भस्म कर देने के लिए बद्धपरिकर होता।

आर्थिक क्षेत्र में उस जनवर्ग को शोषण से मुक्त करना था जो जीवनपर्यन्त श्रम करने के बाद भी भोजन तथा वस्त्र के लिए पराश्रित

था। आज भारत का निवास गाँवों में था, और कृषि भारत की जीविका का एकमात्र साधन रह गया था। देश की कारीगरी, उद्योग, व्यवसाय, शिल्प, कला-कौशल सब तहस-नहस किये जा चुके थे। भारत की भूमि पर अधिकाधिक बोझ बढ़ता चला जा रहा था। कर-निर्धारण, मुद्रा-विनिमय तथा व्यवसाय की वह नीति शताब्दियों से व्यवहृत थी जिसका परिणाम भारतीय जनवर्ग के अंधाधुंध शोषण के सिवा और कुछ न था। भारत गोचर-भूमि बन गया था उन साम्राज्यवादी पशुओं का जिनकी प्रभुता धरित्री पर छायी हुई थी। भारत के वे संघटन, उसकी वह व्यवस्था तथा उसका वह आयोजन नष्ट कर दिया गया था जिस पर उसका सारा आर्थिक और सामाजिक जीवन शताब्दियों तक अवलंबित था। आज दरिद्रता और बेकारी तथा शोषण का ही एक छत्र राज्य था। सरकारी समितियों और कमीशनों तथा अर्थशास्त्रियों के आँकड़े अकाट्य रूप से यह सिद्ध करते हैं कि अंगरेजी राज्य में भारत की भूमि पर बोझ बढ़ता गया है, खेती करनेवालों की संख्या परिमित कृषियोग्य भूमि पर बढ़ती गयी है, जनवर्ग की क्रय-शक्ति का ह्रास होता गया है, उसकी आय घटती गयी है और दरिद्रता तथा बेकारी बढ़ती गयी है। शाही कमीशन की रिपोर्ट ही कहती है कि सन् १८८१ ईसवी में इस देश की कुल जनसंख्या का केवल ५८ प्रतिशत खेती करता था। सन् १९२१ ईसवी में उसी भारत में भारत की जनसंख्या का ७२ प्रतिशत खेती पर जीविकोपार्जन करता था। यह भी स्मरण रखियेगा कि इस अवधि में भारत की जनसंख्या में आशातीत वृद्धि हुई है। स्पष्ट है कि धरती पर बोझ बढ़ता गया, इसलिये कि भारत के वे उद्योग और व्यवसाय नष्ट कर डाले गये जिनमें करोड़ों व्यक्ति लगे हुए थे और आयात-निर्यात करके देश को श्रीसंपन्न, भरापुरा और संतुष्ट बना रहे थे।

आज भारत की भयावनी आर्थिक बरबादी हो चुकी थी और जनता जीवन संचालन के लिए अति आरंभिक पदार्थों की प्राप्ति में भी पर-मुखापेक्षिणी थी। फलतः आवश्यकता इस बात की थी कि भूमि पर लदे हुए बोझ को यथासंभव कम किया जाय, जनता की दरिद्रता और बेकारी का परिहार किया जाय, उसकी आय में वृद्धि की जाय और उसे दोहन से मुक्त करने के लिए स्वावलंबी बनाया जाय। यह संभव था उसी दशा में, जब देश के विनष्ट हुए उद्योग और शिल्प तथा व्यवसाय का पुनरुज्जीवन हो।

देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में तो अंधकार के सिवा और था ही क्या? जिस समाज में सामाजिक चेतना का अभाव हो, जहाँ व्यक्ति और समाज परस्पर के प्रति अपने कर्तव्य और अधिकार के ज्ञान से शून्य हों, जहाँ अपने भूत, भविष्य और वर्तमान के प्रति आस्था, विश्वास तथा आंकाक्षा नष्ट हो गयी हो वहाँ के सामाजिक जीवन की कल्पना क्या हम नहीं कर सकते थे? आज की दुनिया जब एक वर्ग की प्रभुता और सत्ता से त्रस्त दिखाई देती है तो भला उस समाज की क्या दशा हुई होगी जहाँ सैकड़ों छोटे बड़े वर्ग वर्तमान थे। भारतीय समाज में एक नहीं अनेक वर्ग थे जो जातियों में, उपजातियों में, उपजातियों की शाखा-प्रशाखाओं में, विविध धर्मानुयायी गुटों और संप्रदायों में, विभिन्न भाषा-भाषियों में, अमीर-गरीबों में, धनाधार पर आश्रित गुटों में विभक्त थे। इनमें भी प्रत्येक वर्ग स्वतः विभक्त था। सभी अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझते, अपनी दुनियाँ अलग मानते, अपने स्वार्थ, भावना तथा हित को सर्वोपरि स्थान देते। अपने अपने रहन-सहन, भेष-भाव, रीति-रिवाज को जकड़े इन वर्गों में भला 'सह नाववतु, सहनौ भुनक्तु, सहवीर्यं-करवावहै, तेजस्विनामधीतमस्तु, माविद्विषावहै' का भाव कहाँ जाग्रत

हो सकता था। सारा सामाजिक जीवन क्षत-विक्षत, सामूहिक भावना से शून्य, राष्ट्रीय कल्पना से वंचित था। सड़ी-गली कुप्रथाओं और रूढ़ियों में उसे धार्मिकता दिखाई देती थी। देश में करोड़ों नर-नारियों को पशुओं से भी गया बीता स्थान प्राप्त था। वे दलित और अस्पृश्य मनुष्यता के साधारण अधिकारों से भी वंचित थे। भला ऐसे समाज के उत्थान की आशा करना भी क्या साहस का काम न था? कौन यह कल्पना भी करने की हिम्मत करता कि यह समाज अपने बंधनों को विश्रृंखल करके नयी दृष्टि और नयी धारणा लेकर अग्रसर हो सकता है? जब सामाजिक देह इस प्रकार सड़ गया हो तो उसका सांस्कृतिक पतन तो अनिवार्य ही है संस्कृति तो द्योतिका होती है समाज के चरित्र की। जब समाज गिरे होते हैं तो समझ लीजिये कि उनके चरित्र का क्षय पहले ही हो चुका रहता है। फिर सांस्कृतिक ज्योति का अभाव तो निश्चित ही है। ऐसी दशा में अपने अभ्युत्थान और अपनी रचना की शक्ति तथा स्फूर्ति कहाँ बाकी बची रह सकती है? जीवन में ओज नहीं, तेज नहीं, प्रेरणा नहीं, मौलिकता और प्रतिभा नहीं। यही था भारत के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का स्वरूप।

निरक्षरता और अविद्या का काला वितान तना हुआ था। अंगरेजी शिक्षा-पद्धति राष्ट्र के नैतिक और आध्यात्मिक पतन की ही साधिका हो रही थी। अपने प्रभुओं के गुणों नहीं, प्रत्युत दुर्गुणों की नकल करने में देश का अधिकतर शिक्षित समुदाय व्यस्त था। इस स्थिति में भारतीय समाज को नव-युग के प्रकाश से प्रकाशित करना था। उसमें उस चरित्र के सर्जन और मनोबल के आवाज की आवश्यकता थी जो भारत को अपनी हीनता की अनुभूति तथा उत्थान की प्रवृत्ति प्रदान करता। युग की यही मांग थी, क्योंकि भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक ही नहीं प्रत्युत राजनीतिक, आर्थिक और भौतिक

उन्नति भी इसी पर अवलंबित थी। राष्ट्रीय जीवन वास्तव में विभिन्न खंडों में विभक्त नहीं किया जा सकता। वह एक समुच्चय है, जिसमें सभी विभाग एक दूसरे से संबद्ध, परस्पर आश्रित और भावित हैं। जिस प्रकार शरीर के अंग-प्रत्यंग विभक्त होते हुए भी किसी एक ही सूत्र में समाविष्ट हैं, तथा परस्पर अविच्छिन्न और अवलंबित हैं उसी प्रकार सामाजिक जीवन भी है। यह संभव नहीं है कि राजनीतिक अथवा आर्थिक, अथवा और किसी क्षेत्र को एक दूसरे से अलग करके देखा जाय। एक क्षेत्र का प्रभाव दूसरे पर होना अनिवार्य है। एक के पतन का प्रभाव दूसरे पर पड़ेगा और सारे सामाजिक जीवन को रुग्ण तथा पतित बना देगा। फलतः यदि देश का चरित्र गिर जाता है तो उसके जीवन का प्रत्येक क्षेत्र गिरता है। उसके उत्थान के साथ साथ खंड-खंड उत्थित होते दिखाई देते हैं। फलतः आवश्यक था देश के सामूहिक चरित्र का उन्नयन और निर्माण जिसके द्वारा समस्त सामूहिक जीवन का उज्जीवन साङ्गोपाङ्ग अनिवार्य था। उसका प्रभाव राजनीतिक और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी दिशाओं पर पड़ता और ये सब वह गति ग्रहण करते जो भारतीय उन्नति और अभ्युत्थान के लिए अपेक्षित थी।

भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था जब असहयोग के रूप में व्यापक और महती जन-क्रान्ति की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। असहयोग के द्वारा कांग्रेस की वह राजनीति जो अब तक थोड़े-से उच्च मध्यम श्रेणीवाले वर्गों के मनोरंजन और बौद्धिक प्रदर्शन का साधन बनी हुई थी विशाल जनाधार पर स्थापित हो गयी। गांधी जी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत की राजनीतिक धारा को ग्रामोन्मुखी कर दिया, जहाँ विराट जनोदधि शान्त और गंभीर पड़ा हुआ था। असहयोग ने उसमें वह बड़वाग्नि प्रज्ज्वलित की जिससे उक्त

महासमुद्र प्रचंड गर्जन के साथ विक्षुब्ध हो उठा। परावलंबिनी, विनीता, और थोड़े से वर्गों के हित को ही देश का हित समझनेवाली भारतीय राजनीति स्वावलंबिनी, संघर्षात्मिका, विद्रोहिणी और सारे राष्ट्र की हित साधिका बनी। कांग्रेस अति आदरणीय और प्रतिष्ठित संस्था होते हुए भी स्वरूपत: ऊर्ध्वमूला और अधोमुखी थी। उसकी जड़ कहीं आकाश में निराधार लटक रही थी, फलत: वह जन-जीवन और ठोस धरातल से दूर पड़ी हुई थी। आज गांधी ने इस हवाई किले में भारत के उन अगणित, अस्थिचर्मावृत नरकंकालों की आत्मा के प्रवेश का मार्ग प्रशस्त किया जो शताब्दियों से त्रस्त और उपेक्षित थे। धरती से चिपटे जन-समाज ने कांग्रेस का संबंध धरती से जोड़ दिया, जिसके परिणामस्वरूप यह संस्था भारतीय राष्ट्र की प्रतिनिधि, उसकी वास्तविक स्थिति का दर्शन, उसकी आकांक्षाओं, अभिलाषाओं और आवश्यकताओं का प्रतीक बन गयी। गांधी की वाणी में देश की अपार निर्दलित जनता ने अपनी वेदना की गूँज पायी, आशा और सहानुभूति पायी। उस वाणी ने उनके हृदय का स्पर्श किया, जीवन-तन्तु को झंकृत किया और एक बार पुन: उसमें चेतना भर दी। फलत: भारतीय जनता विश्वास और उल्लास के साथ सजग हो चली। उसमें सक्रियता का स्पंदन हुआ क्योंकि जवाहर-लालजी के शब्दों में 'अंतत: एक ठिगना-सा व्यक्ति आया, जिसने उनके नेत्रों की ओर देखा, उसके सूखे हुए अंतरतम प्रदेश में प्रवेश किया और उसकी असीम वेदना की अनुभूति की।' इस व्यक्ति की दृष्टि में जादू था, स्पर्श में अग्नि थी, और ध्वनि में असीम स्नेह, अक्षय विश्वास तथा उत्कंठा थी। भारत के करोड़ों निर्दलित किसानों और मजदूरों ने जब इस व्यक्ति को देखा तो उनके म्रिय-माण जीवन में प्राणों का संचार हो उठा। वे आपादमस्तक

स्पंदित हुए और अपनी हीन तथा पीड़ामयी परिस्थिति के बंधनों को उच्छिन्न कर के आगे बढ़ने के लिए बद्धपरिकर हुए। उनके मुख से 'महात्मा गांधी की जय' की उत्साहपूर्ण ललकार निकल पड़ी।

देश के सामने राजनीति अब तक लक्ष्यहीना थी। स्वराज्य की कल्पना पहले से थी। स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी ने उस मंत्रका उच्चारण करके राष्ट्र को अनुप्राणित भी कर दिया था। लोकमान्य ने 'स्वराज्य' को 'जन्मसिद्ध अधिकार' घोषित करके उक्त मंत्र की साधना का दृढ़ निश्चय भी प्रकट कर दिया था। पर आज हमारी राजनीति साधना के पथ और साध्य के साकार रूप की प्रतीक्षा कर रही थी। बिना इसके उसमें वह जीवन नहीं आ रहा था जिसकी अपेक्षा थी। गांधीजी ने इसी आवश्यकता की पूर्ति की। उन्होंने देश के सामने साधना का पथ उपस्थित किया, साध्य को आकार प्रदान किया और इन सबसे बढ़कर उन साधकों की भारी टोली भी उत्पन्न कर दी जिनके लिए जीवन की सार्थकता लक्ष्य की सिद्धि में ही सत्य प्रतीत होने लगी। कांग्रेस इन साधकों की ही संस्था हो गयी। कांग्रेस और हमारी राजनीति सजीव हो उठी। उसमें स्वावलंबन, आत्मत्याग, दृढ़ संकल्प और स्वाभिमान जाग्रत हुआ। भारत को पथ मिला, लक्ष्य मिला, लक्ष्य की प्राप्ति करनेवाले सैनिकों का संघटन मिला, वह पताका मिली जो गगन में मस्तक चढ़ाये भारत की आकांक्षा और संकल्प की घोषणा करने लगी। पर इतना ही अलम् नहीं है। हमें नेता मिला और वह नेता मिला, जो बेजोड़ है दुनिया के इतिहास में, अनोखा है विचारों में, मौलिक है कार्य-पद्धति मेंऔर सजीव प्रतिमा है उन समस्त उत्तम भावनाओं और पुनीत तथा मंजुल कल्पनाओं की जो मनुष्यता के गौरव रहे हैं और जिनकी साधना मानव-जाति युग-युग से करती चली आ रही है। भारत अन्याय के सामने

मस्तक झुकाये पड़ा था, असहाय और निरस्त्र था, प्रतिरोध की शक्ति से वंचित था और घृणित आत्मसमर्पण में भी लज्जा का अनुभव नहीं कर रहा था। पर शस्त्र हो अथवा न हो, मनुष्य मनुष्यता की रक्षा कर सकता है, अन्याय के सामने घुटने टेकने से अस्वीकार कर सकता है, अत्याचार के विरुद्ध प्रचंड विप्लव का सर्जन कर सकता है और प्रमत्त पशु-शक्ति के सारे अस्त्र-शस्त्रों को कुंठित तथा उसके उन्माद और उसकी निरंकुशता को पराभूत करके लक्ष्य-साधन में प्रवृत्त हो सकता है। इसका पथ आज जगत के सामने गांधी जी के असहयोग और सत्याग्रह के रूप में प्रकट हुआ। गांधी के इस मार्ग ने न केवल भारत को पथ प्रदान किया, प्रत्युत सारी मनुष्यता को अपनी तथा अपने स्वाभिमान की रक्षा करने का वह साधन प्रदान किया जिसका उपयोग वह उस समय भी कर सकती है जब आपादमस्तक शस्त्र से सुसज्जित होकर पशुता मानवता का निर्दलन करने में सफल होती दिखाई दे रही हो। गांधी ही वह व्यक्ति है, जिसने संग्राम और विप्लव को भी अमानवीय पथ की ओर से मोड़कर नैतिक, मानवीय तथा सुसभ्य धरातल पर स्थापित किया और नैतिक तथा मानवीय शस्त्रों से ही सुसज्ज कर दिया।

भारत के लिए तो उसका पथ वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि उसकी विशिष्ट परिस्थिति में जीवन-रक्षा का वही एकमात्र संभव, सफल तथा साधक मार्ग था और कदाचित गांधी के रूप में भारत की ही आत्मा ऐसे मार्ग की कल्पना और उसका प्रवर्तन कर सकती थी। मानव-जाति के इतिहास में जिस देश ने ही सर्वप्रथम भौतिक शक्ति और पार्थिव प्रभुता के सिवा भी किसी के बल और ऐश्वर्य का साक्षात्कार किया था, जिस देश ने सबसे पहले उड़ आत्म-तत्व की महिमा और विभूति की अनुभूति की थी। जिसके प्रकाश से ही जड़ जगत भी

प्रकाशित दिखाई देता है वही आज अज्ञान और असत्य तथा पशु-शक्ति से पराभूत मानव समाज को वह शस्त्र और वह साधन प्रदान कर सकता था जो अजेय आत्मबल का आलंबन करके अमोघ हो जाने की क्षमता रखता है। गांधीजी की सारी दृष्टि, धारा और कल्पना उनका असहयोग और सत्याग्रह भारत की परंपरागत प्रवृत्ति, उसकी मूलभूत प्रतिभा और उसकी शालीनता तथा संस्कृति के अनुकूल है। मैं समझता हूँ कि यही सबसे बड़ा कारण है कि गांधीजी भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को स्पर्श करने और उठाने में सफल हुए। राजनीतिक क्षेत्र में हाथ लगाते ही उन्होंने उसे विद्युदावेग प्रदान कर दिया जिसकी फनफनाहट से भारतीय अंबर भर उठा। भारत की राजनीति को तो उन्होंने वह स्थान प्रदान कर दिया जो धर्म को प्राप्त हुआ करता है। धूर्तता, प्रवंचन और असत्य भी जिसमें क्षम्य ही नहीं गुण माना जाता रहा है, उस राजनीति को नैतिकता से भावित और आध्यात्मिकता से संपुटित करके गांधी ने पवित्र बना डाला। भारत की राजनीति न तो उस संकीर्ण और स्वार्थ तथा राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत हुई जो यूरोप की विशेषता है और जिस पर उसे अभिमान है। और न भारत की स्वतंत्रता की कल्पना उस राजनीतिक स्वतंत्रता तक ही परिमित रही जिसकी हिमायत करनेवाले यूरोपियन राष्ट्र मुँह से स्वतंत्रता-स्वतंत्रता चिल्लाते हुए भी वस्तुतः अपने देश के और समस्त जगत के अत्यधिक और बहुसंख्यक जन-समाज की परतंत्रता और शोषण के प्रवर्तक और विधाता बने हुए हैं। गांधी के नेतृत्व और प्रभाव ने भारतीय राजनीति को महान आदर्शों से अनुप्राणित और उच्चतम प्रगतिशील भावनाओं से पूत कर दिया है, जिसमें लक्ष-लक्ष नर-नारी आज साधना और मुक्ति का मार्ग देख रहे हैं। भारतीय राजनीति और भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम में हमें सेवा का मार्ग,

उत्सर्ग और बलिदान का पथ, जीवन को अहं और स्वार्थ के बंधनों से यथासंभव मुक्त करते हुए ऊँचा उठा ले जाने की सरणी दिखाई देती है। हम उसमें संयम की साधना, उज्ज्वल आदर्श के लिए अग्नि पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा और सत्य, न्याय तथा मानवता की उपासना के दर्शन करते हैं। हमारी राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की कल्पना में द्वेष नहीं, दलन नहीं, दंभ और श्रेष्ठता की भावना नहीं। हम स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र के निर्माण को मानवता की सेवा के लिए, उसके विकास के लिए, जगत् की हिंसा और परतंत्रता से मुक्ति के लिए आरंभिक सोपान समझते हैं जिस पर पहुँचे बिना भारत मानव जगत् के निर्माण में अपनी विनम्र सहायता प्रदान नहीं कर सकता।

हमारी राजनीति हिंसा और घृणा से अस्पृश्य है। 'सर्वभूतेषु-चात्मानं, ततो न विजुगुप्सते' का अमर राग गानेवाले भारत के प्रतिनिधि गांधी की राजनीति में भला हिंसा और घृणा के लिए स्थान ही कहाँ हो सकता था। आज भारत ही नहीं प्रत्युत जगत् के स्थूल जीवन में इसी आध्यात्मिक सत्य को व्यावहारिक रूप प्रदान करना है। हिंसा और पशुता से आच्छन्न धरित्री इसी की अपेक्षा कर रही है। इस महान् लक्ष्य का उत्तरदायित्व उठाने की महत्वाकांक्षा भारत में उत्पन्न करना गांधी की तपस्या का ध्येय रहा है। विस्मृत, परतंत्र, पतित, पथभ्रष्ट और मोहित भारत भला अपने संदेश को जब स्वयं भूल चुका था तो वह जगत् की सेवा क्या करता? आवश्यकता थी इस बात की कि 'जिजीविषा' लेकर यह महाराष्ट्र स्वयं कर्मपथ में प्रवृत्त हो और अपने उन अमर संदेशों को, जिनकी घोषणा उसने कभी की थी और जिनकी हत्या भी उसने स्वयं कर डाली थी, अपने ही जीवन में व्यावहारिक रूप प्रदान करे। आध्यात्मिकता हो अथवा नैतिकता, आदर्श हो या सिद्धान्त जब तक उनका संबंध जीवन से न हो, वे

साकार न बन सकें और वास्तविकता के रूप में अवतीर्ण न हों तब तक वे न केवल थोथे, निष्प्राण और निरर्थक हैं प्रत्युत बहुधा जीवन की जड़ता, बंधन और पतन के कारण भी हो जाते हैं। आध्यात्मिकता भारत की महती देन रही है, पर जिस क्षण से उसका संबंध जीवन से टूटा, वह पोथी-पत्रे और सिद्धान्त की वस्तु बनी, वस्तुस्थिति से दूर कल्पना में ही रह गयी उसी दिन से वह आध्यात्मिकता तथा भारत का जीवन दोनों ही जड़ हो गये। आज अध्यात्म और जीवन, आत्मा और शरीर दोनों में वह सामंजस्य, संतुलन और समन्वय स्थापित करना था जिससे दोनों सजीव हो उठें और जाग्रत् भारत उत्थित होकर जगत् की सेवा में संलग्न हो सके। यह थी महती कल्पना और विराट् आदर्श जिनसे भारतीय राजनीति को रंजित कर देने में गांधी जी प्रवृत्त हुए। भारत की स्वतंत्रता और भारतीय राष्ट्र के निर्माण की कल्पना के गर्भ में यही आदर्श प्रतिष्ठित था। फलतः आदर्श-पूता हमारी राजनीति में भारत के कोटि-कोटि नर-नारियों को न केवल अपनी भौतिक आकांक्षा, राजनीतिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय गौरव की पूर्ति का पथ प्रत्युत आध्यात्मिक साधना, तप और आत्मशुद्धि का मार्ग तथा मुक्ति का द्वार दिखाई दे तो आश्चर्य क्या है ?

आधुनिक जगत् के इतिहास में ढूँढ़ डालिए और देखिए कि कहाँ मिलती है राजनीति में ऐसी सात्त्विक लहर। वास्तव में यह लहर थी उस सांस्कृतिक धारा की जो इस समय भारतीय पुनर्जागरण के रूप में व्यक्त हुई थी। भारत की राजनीतिक चेतना भी उसी धारा की प्रचंड अभिव्यक्ति थी। उसी धारा ने आर्थिक और सामाजिक जीवन का आलोड़न भी किया। गांधी उसी धारा का स्रोत और प्रतीक हो रहा था। फलतः राजनीति के सिवा जीवन के अन्य क्षेत्रों को भी नयी दिशा, नयी दृष्टि और नया पथ प्रदान करता दिखाई देता है। विघटन के साथ साथ

वह रचना की प्रभूत और प्रतिभा-संपन्न प्रवृत्ति का परिचय उपस्थित करता है। आर्थिक क्षेत्र के पतन और तत्कालीन स्थिति तथा आवश्यकता पर पूर्व के पृष्ठों में लिखा जा चुका है। गांधी के असहयोग में प्रतिरोध और प्रतिवाद की भावना थी, वर्तमान के उध्वस्तीकरण की प्रवृत्ति थी, पर जहाँ यह था वहीं रचनात्मिका स्फूर्ति भी थी। सरकारी उपाधियों के बहिष्कार, सरकारी विद्यालयों, नौकरियों, अदालतों और व्यवस्थापक सभाओं के बहिष्कार, विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के कार्यक्रम में सन्निहित प्रवृत्तियों पर आप दृष्टिपात करें। आप देखेंगे कि उसमें स्थापित व्यवस्था को ललकारने की, उसके विरुद्ध सिर उठाने और उससे संघर्ष करने की पुकार है। पर इसके साथ ही साथ नव-व्यवस्था को जन्म देने का आवाहन भी स्पष्ट है। राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना, राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली परिचालित करने की चेष्टा, पंचायतों को संघटित करने का प्रयास, देश के चरित्र को उज्जीविति करने का प्रयत्न, आत्मविश्वास और स्वाभिमान के जागरण तथा स्वावलंबन का भाव भरने की उत्सुकता भी तीव्र है। मैं समझता हूँ कि राष्ट्रीय जीवन को गांधी जी की महती देन उनकी यह शिक्षा है कि देश की दुरवस्था के लिए स्वयं देश ही उत्तरदायी है और अपने ही तप तथा साधना से वह अपनी स्थिति परिवर्तित कर सकता है। यह सोचना कि उसकी दुर्दशा के लिए कोई दूसरा दोषी है अथवा कोई दूसरा उसका उद्धार कर सकता है, सर्वथा भ्रान्त धारणा है जो अधिकाधिक पतन और पीड़ा का कारण होता जायगा। अपने उद्धार की प्रवृत्ति मनुष्य के चारित्रिक विकास की जननी होती है। इसके जागरण के फलस्वरूप उसमें सक्रियता, आत्म-समीक्षा और परिस्थिति तथा वास्तविकता के अध्ययन और दर्शन की शक्ति का उद्भव अनिवार्यतः हो जाता है। जीवन तथा समाज के पुनरुत्थान

की कुंजी भी तो यही है। असहयोग के कार्यक्रम में यह शुभ्र तथा प्रेरणात्मिका प्रवृत्ति कूट कूट कर भरी हुई थी।

देश के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी जीवन में जो गतिशीलता उत्पन्न हुई वह उपर्युक्त मौलिक प्रवृत्ति से ही ओत-प्रोत थी। गांधीजी के विघटनात्मक और रचनात्मक कार्यक्रम इस भावना से भावित रहे हैं। विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के साथ साथ खादी और चर्खे के कार्यक्रम का आधार भी वही दृष्टि थी। परिस्थिति और वास्तविकता तथा अपनी आवश्यकता के अनुकूल आत्मोद्धार के लिए स्वावलंबन के पथ का आश्रय ही खादी और चर्खे के कार्यक्रम में व्यक्त हुआ। यह स्पष्ट था कि देश के उद्योग-व्यवसाय नष्ट हो गये थे और जनवर्ग बेकार तथा दरिद्र हो गया था। भूमि पर बोझ लद गया था और जनता भोजन तथा वस्त्र के लिए भी परमुखापेक्षिणी तथा परावलंबिनी हो गयी थी। भूख की आग में जलना और तिल-तिल करके जीवन-शक्ति का नाश उसकी भाग्य-रेखा हो गयी थी। आवश्यकता थी कि भूमि का बोझ कम किया जाय, जनता को काम दिया जाय, उसकी आय बढ़ायी जाय और उसे कम से कम अन्न तथा वस्त्र ऐसे अति आरंभिक पदार्थों की उपलब्धि में स्वावलंबी बनाया जाय। यह हो सकता था उसी स्थिति में जब देश में उत्पादन बढ़े, उद्योग और व्यवसाय पुरुज्जीवित हों तथा उत्पादक जनवर्ग अपने श्रम से उत्पन्न पदार्थ का स्वामी हो। इस लक्ष्य की पूर्ति के दो मार्ग संभव थे। एक तो यह था कि देश में नये कल-कारखाने स्थापित किये जाँय, नयी पद्धति से उत्पादन और उद्योग की व्यवस्था की जाय तथा दूसरा मार्ग उत्पादन की वह पुरानी पद्धति थी, कुटीर-व्यवसायों और उद्योगों का प्रकार था, जो डेढ़ शताब्दि पूर्व तक भारत के आर्थिक संघटन का मेरुदंड बना हुआ था। गांधी

की अंतर चेतना और कल्पनाशील बुद्धि ने सहसा द्वितीय मार्ग का चयन कर लिया और आज निष्पक्ष होकर विचार कीजिये तो आप यह देखेंगे कि उसका वह चुनाव वस्तुस्थिति तथा आवश्यकता और समस्या के सुलझाव की दृष्टि से एकमात्र उचित तथा संभव चुनाव था। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि भारत में उत्पादन की नयी पद्धति तथा नये कल-कारखानों की स्थापना से देश की आर्थिक दुरवस्था का परिमार्जन किया जा सकता है तो भी जब हम भारत की विशेष परिस्थिति और आवश्यकता पर दृष्टिपात करते हैं तो यह पाते हैं कि न तो उस उपाय को काम में लाना संभव था और न उससे हमारी वे समस्याएँ सुलझती थीं जो मुँह बाये सामने तत्काल सुलझाने के लिए खड़ी थीं। स्मरण रखना चाहिये कि भारत के मस्तक पर एक ऐसी विदेशी सत्ता डट कर बैठी हुई थी जिसने अपने आर्थिक हित की पूर्ति के लिए इस देश के व्यापार और व्यवसाय का सर्वनाश कर डाला था। उसकी सारी आर्थिक नीति एकमात्र अपने हित की पूर्ति के लक्ष्य को लेकर परिचालित थी, जिसकी सफलता के लिए भारत का अहित करने में भी संकोच नहीं किया जाता था। यही कारण था कि ब्रिटिश सत्ता ने न केवल भारतीय उद्योग और कला-कौशल तथा शिल्प को नष्ट कर डाला था प्रत्युत बलपूर्वक वह इस देश के औद्योगिककरण का अवरोधन भी करती रही है। इसी का यह परिमाण था कि प्रायः डेढ़ शताब्दि के अपने शासन-काल में उसने भारत में कल-कारखानों की स्थापना होने न दी और यदि कहीं कुछ हुआ भी तो उसका गला घोंट देने में कुछ उठा न रखा।

वही विदेशी सत्ता और वही उसकी नीति आज भी थी। यह सच है कि युद्धोत्तर भारत में कुछ व्यवसायों तथा कल-कारखानों की स्थापना को अंगरेजी सरकार की ओर से प्रोत्साहन मिला था

पर उसके पीछे कौन-सी प्रवृत्ति और भावना काम कर रही थी उस पर पूर्व के पृष्ठों में विचार किया जा चुका है। ब्रिटिश पूँजी को लाभपूर्वक लगाने के लिए तथा भारतीय बाजार पर अधिकार जमाये रखने के लिए ही उक्त नीति व्यवहृत की जा रही थी। चतुर तथा दूरदर्शी साम्राज्यवादी भारत के उच्च मध्यम वर्ग को भी कुशलतापूर्वक अपनी ओर मिलाकर दोहन की इस नयी नीति का संचालन सफलतापूर्वक करने के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। इस दशा में यह कब संभव था कि अंगरेजी सरकार भारतीय कल-कारखानों के निर्माण की कोई ऐसी योजना चलने देती जो भारत के बाजार से ब्रिटिश व्यवसाय को बहिर्गत कर देती अथवा ब्रिटिश आर्थिक हितों को आघात पहुँचाती। भारत में ब्रिटिश शासन का सारा इतिहास पूर्णतः विपरीत दिशा की ओर संकेत करता है। आज भी सरकार की विनिमय और मुद्रा की नीति, साम्राज्यान्तर्गत संरक्षण और ओटावा की योजना, भारत और लंकाशायर का समझौता असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर रहा है कि ब्रिटिश पूँजीपतियों का हित ही ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में एकमात्र महत्त्व की वस्तु है जिसे सामने रखकर ही सारी अर्थनीति संचालित हो रही है। इस अवस्था में यह आशा करना कि भारत का औद्योगीकरण भारत के हित में होना संभव था अपने हाथों अपनी आँख में धूल झोंकना है। फिर भी यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि कल-कारखानों की स्थापना में सरकार बाध्य न होती तो भी यह प्रश्न उठता है कि क्या इतने कल-कारखानों की स्थापना संभव थी जिससे भारत की आवश्यकता पूर्ण हो सकती। अर्थशास्त्रियों का कथन है कि भारत में २९ करोड़ व्यक्ति खेती से जीवन-यापन करते हैं। वे बताते हैं कि इस देश में जितनी भूमि में कृषि होती है वह २१ करोड़ एकड़ से अधिक नहीं है और काम करने योग्य प्रायः

१५ करोड़ नर-नारी उस काम में लगे हुए हैं। इस हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति जो खेती करता है, एक डिसमल चार एकड़ भूमि से अधिक नहीं पाता। वे यह भी कहते हैं कि एक व्यक्ति को जितनी एकड़ भूमि खेती के लिए मिलती है उससे तिगुनी भूमि में वह खेती कर सकता है। इस अनुपात से भारत के केवल ५ करोड़ कार्यक्षम नर-नारी और हल-बैल उसी पद्धति से, जिसे उन्होंने अपना रखा है, २१ करोड़ एकड़ भूमि में खेती कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि भारत में दस करोड़ नर-नारी १५ से ५५ वर्ष की अवस्थावाले ऐसे हैं जो काम के अभाव में खेती करते हैं और इस प्रकार भूमि का बोझ बढ़ाये हुए हैं। भारत की समस्या यह है कि इन १० करोड़ व्यक्तियों को किस प्रकार काम दिया जाय और कैसे भूमि-भार कम किया जाय।

विचार कीजिये कि इतने व्यक्तियों को काम देने के लिए यदि कल-कारखाने स्थापित किये जाँय तो उनकी कितनी संख्या होनी चाहिये, उनकी स्थापना के लिए कितनी पूँजी होनी चाहिये और उन सबसे जो उत्पादन होगा उसकी खपत के लिए कितना बड़ा बाजार चाहिये। सौ दो सौ कल कारखानों की स्थापना से भारत के इन बेकारों की समस्या नहीं हल हो सकती। एक उदाहरण लेकर आप देखें तो उपर्युक्त प्रश्नों के संभाव्य उत्तर का अनुमान भली भाँति कर सकते हैं। इस देश में वस्त्र तैयार करनेवाली मिलों की संख्या कुल चार सौ है। इन कारखानों में प्राय: १ करोड़ तकुए लगे हुए हैं और दो लाख कर्घे चलते हैं। इन मिलों में काम करनेवाले मजदूरों की कुल संख्या ५ लाख से अधिक नहीं है। इन चार सौ मिलों की स्थापना में कुल एक सौ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि भारत के ५ लाख नर-नारियों को काम देने में जो चार सौ मिलें समर्थ हुईं उनकी स्थापना में एक

सौ करोड़ रुपये की पूँजी लग गयी। इन मिलों से इस देश में प्रायः सवा चार अरब गज कपड़ा तैयार होता है। आज भारत में प्रति व्यक्ति औसत १७ गज कपड़ा प्रतिवर्ष उपभोग में लाता है और इस हिसाब से पौने सात अरब गज वस्त्र की आवश्यकता भारत को पड़ती है। यदि प्रत्येक भारतीय को आप तीस गज वस्त्र प्रतिवर्ष दें तो चालीस करोड़ की जन-संख्यावाले देश को १२ अरब गज कपड़ा चाहिये। यदि उपर्युक्त सारे वस्त्र का उत्पादन भारतीय मिलों से ही करने का आयोजन किया जाय तो आज जितनी मिलें चालू हैं उनकी संख्या दूनी कर देनी होगी। अब आप विचार करें कि सारे भारत के वस्त्र की समस्त आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए यदि देश में आठ सौ मिलों की स्थापना कर दी जाय और जिसमें २ सौ करोड़ की पूँजी लगा दी जाय तो भी भारत के केवल दस लाख नर-नारियों को काम दिया जा सकता है। पर यहाँ प्रश्न है दस करोड का। याद रखिये कि आज की गिरी हुई दशा में भी प्रायः पचीस लाख जुलाहे हैं जो प्रायः दो अरब गज कपड़ा प्रतिवर्ष करघों पर बिनते हैं। भारत में वस्त्र उत्पन्न करनेवाली मिलों में केवल दस लाख व्यक्ति काम करके भारत की वस्त्र की आवश्यकता पूरी कर सकते हैं और आज के औसत दर से दूना उसे प्रदान कर सकते हैं। पर उस स्थिति में उन पचीस लाख जुलाहों को बेकार कर देना होगा जो हाथ-करघों पर काम करके जीविकोपार्जन कर रहे हैं। औद्यौगीकरण का परिणाम क्या स्पष्ट नहीं हो जाता? कारखानों को वस्त्र उत्पादन के लिए यदि खड़ा करें तो बेकारों को काम देना दूर रहा, भूमि का बोझ कम करना भी दूर रहा, जितने को काम दिया जायगा उनके ढाई गुने को बेकार कर देना पड़ेगा। इसके सिवा जब केवल दस लाख को काम देने में दो अरब की पूँजी अपेक्षित है तो दस करोड़ के

लिए कितने की आश्यकता होगी, इसका हिसाब लगा लेना कठिन नहीं है।

भारत कहाँ पाता इतना अपार धन, जो पहले ही कल-कारखानों को विदेश से मँगाने और यहाँ स्थापित कर देने में व्यय कर देता। पर थोड़ी देर के लिए इस प्रश्न को भी छोड़ दीजिये और इस असंभव बात को भी स्वीकार कर लीजिये कि दस करोड़ बेकार भारतीयों को काम देने में समर्थ उद्योग-व्यवसायों की स्थापना के लिए आवश्यक पूँजी भारत लगा सकता था। इस बात को स्वीकार करते ही दूसरा प्रश्न सामने उपस्थित हो जाता है। भारतीय कारखानों में जब ये दस करोड़ मजदूर काम करते दिखाई देते तो उनके द्वारा उत्पन्न पदार्थों की कल्पना क्या आपने की है? जब हम यह देखते हैं कि ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस और जापान में, जो पृथ्वी के पाँच प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र हैं, कुल मिलाकर केवल ७ करोड़ मजदूर काम करते हैं और जब यह देखते हैं कि इस ७ करोड़ में वे मजदूर भी सम्मिलित हैं जो उन देशों के कल-कारखानों के सिवा अन्य व्यवसायों और यातायात में लगे हुए हैं तो हमारी आँखें खुल जाती हैं। उपर्युक्त पाँच देशों में कुल ७ करोड़ मजदूर उत्पादन में लगे हैं और जगत् उनके द्वारा उत्पन्न पदार्थों से भरा पड़त है। भारत के दस करोड़ बेकारों को काम देने के लिए उपर्युक्त पाँच देशों में जितने कारखाने और व्यवसाय हैं उनके डेढ़ गुने कल-कारखानों और व्यवसायों की स्थापना अकेले भारत में करनी पड़ेगी। उसके बाद जो उत्पादन होगा वह कहाँ और धरती के किस कोने में जायगा इस पर स्वयं विचार करने का कष्ट कीजिये। भारत की वास्तविक स्थिति का समूल दर्शन करनेवाली गांधीजी की दूरदर्शिनी दृष्टि ने इसी कारण भारत की समस्या का आभास पा लिया और समझ लिया कि इस देश का

कल्याण और हित कल-कारखानों में नहीं है। भारत की विशेष परिस्थिति विशेष आवश्यकता की ओर संकेत कर रही है जिसकी पूर्ति का उपाय भी दूसरा ही है। उनकी रचनात्मिका प्रतिभा ने तत्काल अभीष्ट और प्रभावकर उपाय प्रस्तुत कर दिया। गांधीजी ने समझ लिया कि भारत का मूल प्रश्न करोड़ों बेकारों को काम देना है और इसका समाधान बड़े बड़े कल-कारखाने नहीं कर सकते। वे बोल उठे कि "कल कारखाने उस समय कुछ लाभ पहुँचा सकते हैं जब आवश्यक और अपेक्षित उत्पादन के लिए उत्पादकों की संख्या कम हो। पर वहाँ, जहाँ उत्पादकों और काम करनेवालों की संख्या काम से अधिक है, वहाँ कल-कारखाने न केवल अहितकर प्रत्युत अभिशाप सिद्ध होते हैं। भारत की अवस्था ऐसी ही है। हमारे सामने समस्या श्रम को बचानेवाले यंत्रों की नहीं प्रत्युत अपार और निरर्थक पड़े हुए श्रम का उपयोग करने की है।" इस समस्या को सुलझाने की एक मात्र संभव दिशा वह थी जिधर चर्खा और खादी संकेत करती है। चर्खा सांकेतिक चिन्ह है उत्पादन की विकेन्द्रित प्रणाली का। आज बड़े बड़े अर्थशास्त्री, उद्योगीकरण और यंत्र-पद्धति तथा पाश्चात्य सभ्यता के समर्थक भी यह मानने को बाध्य हो रहे हैं कि गांधी के तर्क और उसकी विचार-पद्धति का खंडन संभव नहीं है। आज स्वीकार किया जा रहा है कि भारत में वस्त्र उत्पादन के लिए मिलों की स्थापना की जाय तो जहाँ केवल दस लाख व्यक्तियों को काम मिलेगा वहीं यदि कुटीर-व्यवसाय उज्जीवित किये जायँ तो चार करोड़ साठ लाख व्यक्ति काम पावेंगे। मिलों की स्थापना में जहाँ उसे अरब तक की पूँजी लगानी पड़ेगी वहाँ केवल २० करोड़ की पूँजी से सारे भारत को वस्त्र और साढ़े चार करोड़ से अधिक नरनारियों को काम दिया जा सकता है। याद रखियेगा कि ये साढ़े चार करोड़ केवल बुनकर होंगे।

कत्तिन, बढ़ई, लोहार तथा अन्य कारीगरों की संख्या इनके अलावा होगी जिन्हें काम मिल जायगा। यह केवल वस्त्र के व्यवसाय से हो जाता है। केवल एक दिशा करोड़ों नर-नारियों को काम देकर भूमि के बोझ को हलका कर देती है। इस योजना में भारत ऐसे गरीब देश को न पूँजी की खोज करनी है और न स्वार्थान्ध ब्रिटिश सत्ता के हस्तक्षेप का भय है। जगत् की कोई शक्ति नहीं है जो भारत की आर्थिक समस्या के सुलझाव और आर्थिक जीवन के पुनरुद्धार में बाधक हो सके।

पर गांधी के चर्खे और खादी का केवल यही एक महत्त्व नहीं है। इससे बढ़कर दूसरी मौलिक बात है जो उसकी विचार-धारा में सन्निविष्ट है। गांधीजी के चर्खे में उनकी वह सामाजिक कल्पना निहित है जिसे वे साकार रूप प्रदान करना चाहते हैं। आज यह स्वयं सिद्ध हो चुका है कि व्यापक जन-समाज की आर्थिक स्वतंत्रता के बिना न उसे वास्तविक राजनीतिक स्वतंत्रता उपलब्ध हो सकती है और न उसका सांस्कृतिक तथा नैतिक अभ्युत्थान संभव है। आधुनिक विश्व का सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है क्योंकि जगत् का विशाल जन-वर्ग आर्थिक दृष्ट्या पराधीन और पराभूत है। उत्पादक जनता की सच्ची आर्थिक स्वतंत्रता इसी बात में है कि वह भोजन और वस्त्र ऐसी नितान्त आवश्यक सामग्रियों की उपलब्धि में स्वतंत्र और स्वावलंबी हो तथा उस संपत्ति की वास्तविक स्वामिनी हो जिसका उपार्जन उसके श्रम से होता है। आज के विश्व के संमुख समस्या उपार्जन की नहीं, प्रत्युत संपत्ति के विकृत और दोषपूर्ण बँटवारे की है। उत्पादक अपने श्रम से उपार्जित संपत्ति का प्रभु नहीं है। फलतः वह परावलंबी और शोषित है और दूसरे उसके श्रम से लाभ उठाकर श्रीसंपन्न हो गये हैं। शोषक वर्ग ने केवल अनुत्पादक है

प्रत्युत उत्पादन और वितरण के सारे साधनों का स्वामी होने के कारण आर्थिक जीवन का सूत्रधार हो गया है। आर्थिक प्रभुता के कारण वह समस्त राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन का अधिकारी और विधाता बन गया है। यही अव्यवस्था जगत् में शोषण और दलन की तथा वर्गमूलक प्रभुता और वर्ग-संघर्ष की प्रवर्तिका हो गयी है। चर्खे के पीछे गांधीजी की ऐसे समाज की रचना की कल्पना प्रतिष्ठित है जिसमें उपर्युक्त दोषों से मुक्त जन-समाज आर्थिक और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता का उपभोग कर सके। उत्पादक उत्पादन के साधनों का स्वामी हो, उत्पन्न पदार्थों का प्रभु हो, धनका उचित बँटवारा हो, आर्थिक संघटन का सूत्र उत्पादक के हाथों में हो, जीवन यापन के लिए सामग्रियों की उपलब्धि में वह स्वावलंबी हो, किसी बाहरी तथा केंद्रीय सत्ता के हाथों में उसकी रोटी न हो, धन का केंद्रीकरण न हो और इस प्रकार केंद्रित पूँजी उसके शोषण की साधिका न होने पावे—ऐसे स्वतंत्र आर्थिक संघटन को आधार बनाकर वह सहयोगमूलक समाज जन्म ग्रहण करे जो मूलतः स्वतंत्र हो और सर्वाधिकारों की निधि हो। गांधी ऐसे ही समाज की नींव डालना चाहते हैं। पर यह उसी स्थिति में संभव है जब उत्पादन की प्रणाली विकेन्द्रित हो। चर्खा उसी प्रणाली का प्रतीक है और गांधीजी उसी के द्वारा महती सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात करना चाहते हैं। समाजवाद का नाम ले ले कर चिल्लानेवाले इस महान् सामाजिक विद्रोही की दृष्टिधारा और कल्पना पैर दृष्टिपात करें। वह वर्ग-संघर्ष नहीं प्रज्वलित करता, पृथ्वी को रक्त-स्नान नहीं कराता और पूँजीपतियों को सपरिवार यमलोक भी पठाने का यत्न नहीं करता, फिर भी वह उन परिस्थितियों का मूलोत्पाटन करना चाहता है जो वर्ग संघर्ष की जननी और पूँजीवाद तथा पूँजीवादी शोषण और व्यवस्था

का कारण और आधार होती हैं। चर्खा-संघ के प्रयोग ने सिद्ध कर दिया है कि उत्पादक जन-समाज न केवल उत्पत्ति के साधन और तदुपार्जित संपत्ति का स्वामी हो सकता है प्रत्युत धन का उचित बँटवारा भी उसी स्थिति में संभव है। सौ रुपये की खादी में से ७० प्रतिशत उस वर्ग को मिल जाता है जो उत्पादक है। आज भारत की कपड़े की मिलों में ५० करोड़ का वस्त्र तैयार होता है तो केवल १० करोड़ शारीरिक अथवा बौद्धिक श्रम करनेवाले श्रमिकों को प्राप्त होता है। बाकी रकम होती है पूँजीपति की जो न केवल उत्पादक है प्रत्युत अनधिकारी भी है। माना कि आप कहेंगे कि समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर उत्पादक की ही सत्ता स्थापित होती है, जो धन का उचित बँटवारा कर सकती है। पर आप भूल जाते हैं इस बात को कि उत्पादन की केंद्रित प्रणाली के परिचालन के लिए उस प्रचंड केंद्रीभूता शासनसत्ता का जन्म अनिवार्य हो जाता है जो स्वभावत: जनवर्ग के अधिकारापहरण में प्रवृत्त होती है। केंद्रित शासन सत्ता केंद्रित शक्ति पर अवलंबित होती है और केंद्रित शक्ति की व्यवस्था में सच्चे लोकतंत्र का विकास असंभव है। भले ही आप कागजों पर लिखे गये विधान में उत्पादक जनता को आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का अधिकारी और विधाता घोषित कर दें, पर व्यवहारत: वह केन्द्रीभूत सत्ता की मुखापेक्षिणी और इस प्रकार अधीनता में रहने को बाध्य होती है। समाजवादी रूस स्वयं ही इसका ज्वलंत प्रमाण है।

इस प्रकार चर्खा और खादी के रूप में गांधीजी ने न केवल भारत की प्रस्तुत आर्थिक समस्या को सुलझा देने का एक मात्र संभव और प्रभावकर उपाय प्रस्तुत कर दिया प्रत्युत भावी भारत के संभाव्य आर्थिक और सामाजिक संघटन के लिए एक निर्देशक संकेत उपस्थित कर दिया। इनके द्वारा उसके ऐसे सामाजिक जीवन की रचना की

कल्पना प्रस्तुत कर दी जिसमें यंत्र-वाद और केंद्रिय उत्पादन की प्रणाली के फलस्वरूप पूँजीवाद का विकास हो ही न सके और न तत्संभूत आर्थिक विषमता तथा वर्ग-भेद का प्रजनन होने पावे। इसके विपरीत ऐसे आयोजित समाज का निर्माण संभव हो जिसमें आर्थिक दोहन और आर्थिक क्षेत्र में वर्गमूलक प्रभुता न हो और न जन-समाज जीवन यापन के लिए किसी दूसरे का आश्रित होकर अपनी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता को विसर्जित कर देने के लिए बाध्य हो। इसी बात को गांधीजी अति सरल ढंग से इस प्रकार कहते हैं कि खादी का ध्येय है वह मार्ग निकालना, जिससे सारा भारत और भारत का एक एक व्यक्ति अपने पैर पर खड़ा हो सके। मिलों से वस्त्र उत्पादन करने से पैसा गरीबों की जेब में नहीं जाता बल्कि वहाँ से निकल कर धन-वानों की मंजूषा में जा पहुँचता है। इसके सिवा जनता को अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिए दूसरे का आश्रित बनना पड़ता है। यह ठीक है कि बड़े बड़े कारखानों के द्वारा हम सामूहिक रूप से स्वाव-लंबी कहे जा सकते हैं पर वस्तुतः और व्यक्तिगत रूप में परावलंबन ही रहता है। खादी के द्वारा हम दलित जनता को स्वावलंबी बनाते हैं। यदि एक बात में भी हम उन्हें स्वावलंबी बना सके तो बाकी के और सब विषयों में वे स्वावलंबी बनना सीख जायँगे। खादी तो बढ़ई के समकोण की तरह है। जब बढ़ई उसकी सहायता से एक कोण ठीक कर लेता है तो दूसरे सब कोण अपने आप ठीक हो जाते हैं। फिर तो स्वावलंबी और स्वतंत्र जनता के आधार पर अहिंसक समाज का उदय होगा। स्पष्ट है कि स्वावलंबी जीवन में ही आर्थिक स्वतंत्रता है और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र जनवर्ग पर ही उस सच्चे और वास्त-विक जनतंत्र के उदय को गांधीजी संभव समझते हैं जिसमें समाज का

मूल जनवर्ग ही शक्ति और अधिकार का निधि तथा स्रोत हो। गांधीजी वर्तमान के ध्वंस और उसके स्थान पर ऐसे ही भविष्य की रचना के प्रयत्न में संलग्न हैं।

उनके असहयोग और सत्याग्रह तथा उनके रचनात्मक कार्यक्रम का लक्ष्य यही है और सारी विचार-धारा इसी दिशा की ओर उन्मुख है। उनकी सारी दृष्टि सत्वाभिभूत है जिसमें भारतीयता भरी हुई है। चर्खा और खादी रचनात्मक योजना के केंद्र में प्रतिष्ठित है। इसी को लेकर वह स्वतंत्र, उदार और बलशील नव-भारत का निर्माण करना चाहते हैं। इसके द्वारा वह भारतीय चरित्र के विकास और उन्नयन की चेष्टा करते हैं। सामाजिक जीवन से उन विषों का नाश करना चाहते हैं जिनके कारण राष्ट्र का पतन हो रहा है। भारत के भविष्य की रचना साधारण कार्य नहीं है। वह है महायज्ञ जिसकी पूर्ति वे नहीं कर सकते जो चरित्रहीन, भावना और कल्पनाहीन, विश्वास तथा श्रद्धा से शून्य हों। वह कार्य उन्हीं से संपादित हो सकता है जो तपस्वी हों, महान् पथ के दृढ़ और कृतसंकल्प पथिक हों और जीवनाहुति के लिए तत्पर हों। गांधीजी ने चरखे को इन्ही भावों का प्रतीक बना डाला है। मानव जीवन वास्तव में भावना-मय है। अपनी भावनाओं के द्वारा ही हम वस्तुओं का मूल्य और स्थान निर्धारित कर देते हैं। भावनाओं के द्वारा ही कल्पित और जड़ पदार्थों में प्राण प्रतिष्ठा करके मानव-समाज जीवन-पथ का निर्माण और इतिहास की रचना करता आया है। पत्थरों में देवता के निवास की भावना लक्ष लक्ष नर-नारियों के जीवन को पवित्र और सुखी तथा आश्वस्त बना देती है। राष्ट्र की, देश की कल्पनाएँ वास्तव में निराधार हैं पर उनमें भावना भर कर हम उन्हें साकार और सजीव बना देते हैं। फिर एक बित्ते वस्त्र की पताका के लिए हँसते-हँसते जीवनोत्सर्ग कर देने में लाखों नर-नारी

अपने को धन्य समझते हैं। चर्खे में आज गांधी ने विद्रोह की, नव-निर्माण की, शुचिता और सरलता की, स्वाभिमान और बलिदान की, आत्मोद्धार और स्वावलंबन की, संघर्ष और सक्रियता की भावना भर दी है। खादी उनका बाना हो गया है जो देश के चारित्रिक विकास और नव समाज की रचना के महान् कार्य में लगे हुए हैं। वह भारत के जागरण और उसके नव-युग की शुभ सूचना हो गयी है। वह स्वतंत्रता, निर्भयता, सेवा, राष्ट्र-प्रेम तथा चरित्र की शुद्धता की प्रेरणा हो गयी है।

खादी और चर्खा उस भारत की ओर संकेत करते हैं जिसमें ऊँच-नीच का भेद भाव न हो, जात पाँत की प्राणघातिनी धारणा न हो, छूत छात की बर्बर और काली प्रथा न हो। वह उस भारत का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें अपनेपन का अभिमान हो, भारतीयता से प्रेम हो, पर इसके साथ ही मानव जाति की सेवा की भावना हो। वह उस भारत की कल्पना से अभिभूत है जिसमें दलन न हो, दोहन न हो, पराधीनता और पलायन न हो, आत्म-विस्मृति और पतन न हो। वह भारत की आधुनिक सामाजिक दुरवस्था, उसकी रूढ़ि पूजा और अंधानुगामिता, उसकी जड़ता और मोह, उसके अज्ञान और उसकी संकीर्णता का अंत चाहने वाली क्षुर-धारा हो गयी है। इन भावों से भावित करके ही गांधी उसे भारत की नव-रचना का आधार बना सकता था। फलतः चर्खा भारतीय राष्ट्र की आकांक्षा की सजीव-प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित राष्ट्रीय पताका पर अंकित हो गया। इस रचनात्मक योजना को आधार बनाकर गांधीजी ने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को दोलित और गतिवान् कर डालने की चेष्टा की। जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं रह गया जो स्पृश्य रहने पर गांधीजी के

स्पर्श से बचा हो। उनके प्रभाव से भारत में राष्ट्रभाषा का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने हिन्दी को उस पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। उनके प्रताप से राष्ट्रीय शिक्षा की परिपाटी उद्‌भूत हुई और आज वर्धा की 'मौलिक शिक्षा-पद्धति' ने भारत की शिक्षा प्रणाली को नयी दिशा और नया जीवन प्रदान कर दिया। ग्रामोद्योग के पुनरुज्जीवन की लहर उठी, अन्त्यजों की अस्पृश्यता की दीवार ढहने लगी। सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं का अंत होने लगा। जीवन में जो भी हीन हो, घृणित और लज्जाजनक हो उसे मिटाने का तेजस्वी प्रयास चारो ओर दिखाई देने लगा। शताब्दियों से अंधकार में पड़ा हुआ, बंदी बना महिला-समाज अपने बंधनों को ढीला करता दिखाई पड़ा। सांप्रदायिक एकता और सर्व-धर्म-समन्वय की चेष्टा आरंभ होती दृष्टिगोचर हुई। मद्य-निषेध का जोरदार प्रयत्न होने लगा। सेवा, संयम और सामूहिकता में जीवन के सौंदर्य की अनुभूति की जाने लगी। बलिदान, त्याग, तप तथा उत्सर्ग, सादगी और शुचिता, सरलता तथा सत्य-साधना, जीवन का मूल्यांकन करनेवाले ये नये मापदंड स्थिर होने लगे। ऊँची अट्टालिकाओं और भोग-साधनों की संपन्नता, ऊँची नौकरियों और जनाध्यक्षता, महँगी वेश-भूषा और ठाट-बाट, विदेशियों की नकल और रहन-सहन में मनुष्य का बड़प्पन नापने की परिपाटी तथा दृष्टि का उत्पाटन होने लगा।

(१०)

असहयोग की गूँज

गांधीजी के असहयोग और उनके रचनात्मक कार्यक्रम का यही स्वरूप और उसकी यही प्रवृत्ति थी। सन् १९२१ ईसवी में जब यह

धारा सवेग बढ़ चली तो भारत-वसुधा दक्षिण से उत्तर तक और पूरब से पश्चिम तक उससे प्लावित हो गयी। भारत का कण कण उसमें अभिसिंचित होता दिखाई पड़ा। उसकी गूँज हिमाचल की गगनचुंबी चोटियों से टकरायी, तो महोदधि के उत्ताल तरंगों में भी प्रतिध्वनित हुई। भारत के वन-पर्वत, सरिता-सर, अधित्यका-उपत्यका, नगर-गाँव, बाजार-कस्बे सभी एक बार सिहर उठे। अभी जो महाराष्ट्र कल मुखावनत पड़ा धरालिंगन में लिप्त था वह आज सहसा हिलता और उठता दृष्टिगोचर हुआ। देश का कौन वर्ग, कौन समूह और कौन-सी दिशा थी जो उससे प्रभावित नहीं हुई। श्रीमानों के राज-प्रासाद, सत्ताधिकारियों के सिंहासन, भोगासक्तों के विलास-मय हिंडोले, निश्चेष्ट और स्पंदन-हीन भारतीय कंकालों की श्मशान-तुल्या झोपड़ियाँ, किसानों की कुटिया, मजदूरों की कोठरियाँ, विद्यार्थियों के विद्यालय, वकीलों की अदालतें, महिलाओं के अंत:निवास—सभी तो कांपते, जगते और क्षुब्ध होते दिखाई दिये। ऐसे वैभवाधिपतियों के दर्शन हुए जो ऐश्वर्य-भंडार को ठोकर मार कर निकल पड़े। न जाने कितनों ने नौकरी छोड़ी, कितनों ने धनागम को लात मारा, कितनों ने सदा के लिए अपने जीवन की धारा को दूसरी ओर मोड़ दिया। कुसुम के समान कोमल न जाने कितने युवकों और विद्यार्थियों ने अपने कल्पित भविष्य को तिलांजलि देकर इस बहती धारा में विलीन हो जाने के लिए अंतिम उछाल मारी। हल की मूँठ हाथ में लिये हुए आज का दलित, उपेक्षित और त्रस्त किसान भी तनकर खड़ा होने लगा। उसकी झोपड़ियों में आशा का आलोक झलक उठा। प्रकोष्ठ की प्राचीरों के परिवेष्टन में गौरवानुभूति करनेवाली महिलाएँ इस महायज्ञ में अपनी आहुति डालने के लिए देहली लांघती दिखाई देने लगीं।

गांधी की पुकार में क्या आकर्षण था, कितना ओज था, कितना जादू था, इसका कुछ अनुभव इन पंक्तियों के लेखक को भी है। वह प्रौढ़ और वयस्क नहीं, प्रत्युत पंद्रह वर्ष का बालक था, पर उसे उस उन्माद, उस मस्ती और उस झंकृति की स्मृति है जिसकी अनुभूति गांधी के गुहार से हुई थी। गांधीजी काशी आये थे और सेंट्रल हिन्दू स्कूल के एडवर्ड होस्टल के सामनेवाले मैदान में विद्यार्थियों की सभा में भाषण कर रहे थे। विद्यार्थियों की अपार भीड़ एकत्र थी। यह जमावड़ा कैसे हुआ होगा इसे आज कौन बता सकता है? किसे मालूम है कि न जाने कितनों ने अपने माता-पिता और अभिभावकों की कठोर डाँट की अवहेला करके, अध्यापकों के त्रास के सामने विनम्रता किन्तु दृढ़ता से काम लेकर, प्रधानाध्यापक की टेढ़ी भृकुटियों की आग में अपने को भस्म कर देने का निश्चय करके इस सभा के सभामंच पर आसीन उस व्यक्ति की वाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया था, जो आज विद्रोह की सजीव प्रतिमा के रूप में उपस्थित हुआ था। गांधी तूफान था, अंगारा था और पागल था, जिसके प्रभाव से बालकों को बचाने के लिए साम, दाम, दंड सबसे काम लिया जा रहा था। 'घर से निकल जाओ, स्कूल से निकल जाओ, मुँह न दिखाओ, आवारे हो,' आदि वचनों का प्रहार तो इस बहुलता से हो रहा था मानो आशीस की वर्षा हो रही हो! पर किसमें सामर्थ्य था जो गांधी के कर्षण का कुंठन कर सकता। जिसके मुख से कालात्मा बोल रही हो, जिसकी वाणी में इतिहास का आवाहन रहा हो, उसका अवरोधन न कभी हुआ है और न हो सकता है। स्मृति होती है कि पूज्यपाद मालवीयजी ने उस दिन के पूर्व घंटों तक विद्यार्थियों को समझाने और प्रभावित करने की चेष्टा की थी। वे देश की वेदना पर रोये थे, पर गांधी के पथ को विघातक सिद्ध कर चुके थे। यह

सब था, पर आज की स्वर-धारा सब बंधनों को बहाये दे रही थी। 'जिस सरकार के हाथ पंजाब के खून से रँगे हुए हैं उसके विद्यालयों में पढ़ना पाप है। यह रावण राज्य है। इससे सहयोग करना पाप है। यदि आप की आत्मा कहती हो कि गांधी जो कह रहा है वही ठीक है, तो आप नम्रतापूर्वक अपने माता-पिता और गुरुओं तथा मालवीयजी से भी कह दें कि आप आत्मा की पुकार के विरुद्ध न चलेंगे। आप उनसे आशीस की याचना करें।'

उस क्षण की स्मृति आज भी है। जब हममें से बहुतों ने यह अनुभव किया कि गांधी की ध्वनि में मानो उसके ही अंतर की आवाज है। फिर उसीकी नहीं प्रत्युत गांधी राष्ट्रीय आत्मा की हुँकार की प्रतिध्वनि था। तभी तो गांधी—शब्द ही मादकता, मोहकता और आकर्षण से ओतप्रोत हो गया था। उसके दर्शनों को अपार जन-समुद्र टूट पड़ता, उसके चरण-रज का स्पर्श करने के लिए लोग पागल हो जाते और उसके एक-एक इंगित पर लाखों मस्तक उच्छेद तक के लिए झूमने लगते।

फलतः भारत के अन्तर्गर्भ से उठा यह ऐतिहासिक तरंग जीवन में चतुर्दिक छाने लगी। अवश्य ही वह मुख्यतः राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्त हुई; क्योंकि वैसा होना अनिवार्य था। भारत की पराधीनता में ही तो भारत के सामूहिक पतन का प्रकटीकरण हुआ था। उत्थान की कोई भी क्रिया स्वभावतः उसका मूलोच्छेद करने की ओर ही अग्रसर होती है। अतः मुख्यतः राजनीतिक चेतना और सक्रियता में मूर्त होते हुए भी उसने चतुर्विध गतिशीलता का सर्जन कर दिया। भारतीय 'स्वराज्य' की कल्पना में जहाँ विदेशी सत्ता से इस देश की राजनीतिक मुक्ति की आकांक्षा थी, वहीं भारत की आर्थिक और सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान भी

निहित था। गांधीजी के शब्दों में ही उस कल्पना का चित्रण देखिये। वे कहते हैं—'स्वराज्य के संबंध में मेरी जो कल्पना है उसके विषय में कोई भ्रान्ति न रहनी चाहिये। उसका अर्थ है विदेशी शासन और नियंत्रण से भारत की संपूर्ण तथा सर्वथा मुक्ति। पर उसका अर्थ संपूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता भी है। एक ओर भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता हो और दूसरी ओर आर्थिक पर हमारे 'स्वराज्य' का अर्थ केवल इतने में ही परिमित नहीं है। उसका अर्थ यह भी है कि भारत का नैतिक तथा सामजिक उत्थान हो। नैतिक और सामाजिक उत्थान का साध्य धर्म है, वह धर्म जो वास्तविक और अक्षुण्ण है। धर्म की सीमा में जगत् के सभी संप्रदाय आते हैं। हिन्दू धर्म, इस्लाम, इसाई धर्म, सभी उसकी परिधि में हैं, पर धर्म स्वतः उन सबसे कहीं अधिक व्यापक और महान् है। आप उस धर्म को 'सत्य की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। वह सत्य नहीं जिसका आश्रय उपयोगिता की दृष्टि से ग्रहण किया जाता है; पर वह सत्य जो अक्षर और विभु है, जिसकी सत्ता से अणु-परमाणु व्याप्त हैं और जो सृष्टि, स्थिति तथा विनाश की सीमा से परे है वही नैतिक और सामाजिक उत्थान, जिसका साध्य सत्य है, 'अहिंसा' शब्द के द्वारा अभिव्यक्त है। हमारे स्वराज्य का यही चतुष्कोण है जिसका एक कोना भी यदि सिद्ध न रहा तो सारा चित्र विकृत हो जायगा। कांग्रेस की भाषा में हम कह सकते हैं कि भारत की राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता सत्य और अहिंसा के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि सत्य में सजीव विश्वास के बिना उसकी प्राप्ति संभव नहीं है। अतः देश का नैतिक और सामाजिक उत्थान आवश्यक है।

राजनीतिक स्वतंत्रता से मेरा तात्पर्य किसी देश की शासन

व्यवस्था की नकल करने से नहीं है। ब्रिटेन की पार्लमेंट, रूस की सोवियट पद्धति अथवा इटली और जर्मनी की नाजी सत्ता की नकल अपने देश में करने से नहीं है। वे पद्धतियाँ हैं जो उन देश विशेषों की प्रतिभा के अनुकूल होंगी। हमारी पद्धति भी हमारे देश के संस्कार, प्रतिभा और प्रवृत्ति के अनुकूल होनी चाहिये। उस पद्धति का स्वरूप क्या हो यह कहना कठिन है, पर इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि उसमें संपूर्ण अधिकार जनता के हाथों में हो, जो विशुद्ध नैतिक शक्ति पर आश्रित हो। कांग्रेस का प्रस्तुत विधान, जिसकी रचना के लिए मैं ही मुख्यतः उत्तरदायी हूँ, इसी प्रकार के स्वराज्य की प्राप्ति की दिशा में एक प्रयत्न है। इसके बाद आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न लीजिये। वह आधुनिक पाश्चात्य यंत्र-वाद से प्रसूत नहीं है। भारत की आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ मेरी दृष्टि में भारत के प्रत्येक नरनारी का अपने ही सजग प्रयत्न से प्राप्त आर्थिक उत्थान है। उस पद्धति के द्वारा भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को पर्याप्त वस्त्र और भोजन प्राप्त हो। वस्त्र के नाम पर लँगोटी नहीं प्रत्युत उतना वस्त्र जितना जीवन-यापन के लिए आवश्यक समझा जाता है और वह भोजन, जिसमें दूध और मक्खन भी सम्मिलित हो, जिनसे भारत के करोड़ों प्राणी आज सर्वथा वंचित हैं। मेरे लिए यही समाजवाद है। सच्चे समाजवाद की शिक्षा तो हमें अपने पूर्व पुरुषों से मिली है, जिन्होंने हमें यह बता दिया है कि सभी भूमि गोपाल की है, इसमें न कहीं अटक है और न सीमा। सीमा का निर्धारण मनुष्य ने ही किया है; अतः वही उसे परिवर्तित भी कर सकता है। गोपाल का अर्थ भगवान से है, पर आधुनिक भाषा में 'जनता जनार्दन' ही उसकी अभिव्यक्ति है। आज जनता जनार्दन जो भूमि का स्वामी है अपने अधिकार से वंचित है। यह दोष हमारा है जो हमने उपर्युक्त शिक्षा के अनुसार कार्य नहीं किया। मेरा विश्वास

है कि उक्त शिक्षा को हम व्यावहारिक रूप दे सकते हैं और बिना किसी प्रकार की हिंसा के दे सकते हैं। चर्खे में जो भावना प्रतिष्ठित है और उसमें जो व्यापक अर्थ तथा व्याख्या भरी है, वह संपत्ति के अधिकारियों की हिंसात्मक पदच्युति का स्थान प्रभावकर ढंग से ग्रहण कर सकती है। सारी भूमि और सारी संपत्ति उसकी होगी जो उत्पादक है। दुर्भाग्य से देश का जन-समाज आज इस सरल सत्य से अज्ञात है।"

गांधीजी की यह देन थी कि उन्होंने जीवन के सभी क्षेत्रों की अन्योन्याश्रयिता और एक सूत्रता की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने भारतीय 'स्वराज्य' में देश के जीवन के सामूहिक और सांगोपांग उत्थान और स्वतंत्रता की कल्पना भर दी। उनके पूर्व तक यह भ्रान्त धारणा फैली हुई थी कि विदेशी सत्ता के निराकरण के बिना देश के आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक सुधार की चेष्टा को रुके रहना होगा। गांधीजी ने दूसरी दिशा की ओर संकेत किया। उन्होंने देखा कि पराधीनता देश के पतन का परिणाम है और फिर वही पराधीनता अधिकाधिक पतन का कारण होती चलती है। आज आवश्यकता उस बात की थी कि कार्य-कारण की वह शृंखला साथ ही विच्छिन्न की जाय। देश के चतुर्दिक उत्थान की क्रिया अविलंब तथा समस्त बाधक और प्रतिकूल परिस्थितियों के रहते हुए भी आरंभ करनी होगी क्योंकि उसका परिणाम होगा स्वतंत्रता; और स्वतंत्रता का प्रयत्न ही देश के जीवन और चरित्र तथा शक्ति का उज्जीवन करेगा। ये सारे प्रश्न परस्पर संबद्ध हैं और देश को एक साथ ही उन्हें उठाना होगा। यह महती, सजीव, नयी दृष्टि थी जो देश के जीवन में गांधीजी के प्रादुर्भाव के साथ साथ उद्दीप्त हुई। यही कारण है कि गांधी-युग स्वरूपतः राजनीतिक रहते हुए भी वस्तुतः देश

की महती सांस्कृतिक उत्क्रान्ति और सार्वदेशिक विराट् जागरण का प्रवर्तक हुआ। असहयोग आंदोलन के साथ देश में जिस भाव और प्रवृत्ति, कल्पना और दृष्टि, सचेष्टता और गति की नींव पड़ी उसी पर राष्ट्रीय जीवन का भव्य भवन गत पचीस वर्षों से निर्मित हो रहा है। राजनीतिज्ञों की राजनीति, साहित्यिकों की लेखनी, कवियों की कल्पना, दार्शनिकों की दृष्टि, कलाकारों की तूलिका, शिक्षकों की शिक्षा-पद्धति, समाज के रहन-सहन, आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा-भाव, अर्थात् राष्ट्र की सारी मनःस्थिति में आप आज उसकी झलक देख सकते हैं। हमारी सामाजिक धारणाओं पर, धार्मिक कल्पनाओं पर, जीवन को देखने की विधि पर, आदर्श और व्यवहार पर विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ा है। सन् १८५७ से लेकर अब तक भारत के विविध क्षेत्रों में जो प्रगतिशील तथा संजीवनी प्रवृत्तियाँ उदीयमान और अंकुरित होती रही हैं वे एक साथ ही गांधी में विकसित दिखाई देती हैं। नाना साहब और बहादुरशाह, अजीमुल्ला और मौलवी अहमदशाह, दयानन्द और रामकृष्ण, बंकिम और विवेकानन्द, तिलक और अरविन्द में जो प्रवृत्तियाँ समय समय पर मूर्त हुईं वे सब समय पाकर संमिलित होकर एक ही धारा के रूप में परिवर्त्तित हुईं और जो गांधी में व्यक्त हुईं।

असहयोग-काल से लेकर अब तक वह ओजस्वी प्रवाह राष्ट्र को आलोड़ित कर रहा है। इस बीच में देश के सामने अनेक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, आवश्यकतानुसार उसे अनेक पलटे खाने पड़े, व्यूह में परिवर्त्तन करना पड़ा, कभी पीछे हटने और कभी आगे बढ़ने को बाध्य होना पड़ा; पर इन समस्त बाह्य उपकरणों और आयोजनों में रद्दोबदल होते हुए भी उसके अंतर में स्थित वह मूल प्रवृत्ति और दृष्टि ज्यों की त्यों बनी रही है जो असहयोग आन्दोलन के रूप में मूर्त हुई थी। असहयोग आंदोलन के रूप में राष्ट्र की जिजि-

विषा, जागरूकता और जलन का जो प्रचंड प्रदर्शन हुआ उससे एक बार विश्व-विजयिनी ब्रिटिश शक्ति भी काँप उठी। अहिंसा का अस्त्र लेकर प्रबुद्ध राष्ट्रकर्मियों की टोली गाँव-गाँव, कस्बे-कस्बे और और नगर-नगर में छाने लगी थी। नगरों और कस्बों में भारतोत्थान के लिए सक्रिय केन्द्रस्थल कांग्रेस कमेटियों के रूप में स्थापित होने लगे थे। कांग्रेस के साधारण सदस्यों की संख्या पचासों लाख से अधिक हो गयी। 'तिलक स्वराज्य-कोष' को देश ने करोड़ों रुपये देकर आकंठ परिपूर्ण कर दिया। भारत के नगरों और गाँवों में लाखों चर्खों का संगीत आरंभ हो गया। न जाने कितने राष्ट्रीय विद्यालय और ग्राम-पंचायतें संघटित हो गयीं। हजारों विद्यार्थी सरकारी विद्यालयों से निकल आये। ख्यातनामा और सैकड़ों रुपये प्रतिदिन की आयवाले देश के प्रतिष्ठित वकीलों तक ने वकालत छोड़ दी। असहयोग की योजना ऐसी थी कि इच्छा रखते हुए भी सरकार उस पर दमन-प्रहार करने का अवसर न पाती थी। स्वयं गांधीजी ब्रिटिश सरकार से टक्कर लेने की तैयारी कर रहे थे। बारदोली में कर-बंदी आंदोलन का सूत्रपात करने के लिए संघटन हो रहा था। सारा देश उस दिन की राह उत्सुकता के साथ देख रहा था जब गांधीजी के सेना-पतित्व में इस अभिनव जन-युद्ध का आरंभ होता। इस बीच में देश ने अपनी शक्ति और संकल्प का प्रभाव ब्रिटिश युवराज के भारतागमन के समय दे दिया था। सन् १९२० में ब्रिटिश युवराज भारत आये और गांधीजी की आज्ञा से उस दिन जब युवराज ने भारत भूमि पर पदार्पण किया देश-व्यापिनी हड़ताल हुई। फिर तो युवराज जहाँ जहाँ जाते हड़ताल वहाँ वहाँ उनका पीछा करती। ब्रिटिश शासन और अपनी पराधीनता के विरुद्ध भारतीय लोकमत का यह पहला उग्र प्रदर्शन था जिसमें देश ने निर्भयता के साथ अपने भाव व्यक्त किये।

ब्रिटिश सरकार के लिए अब कुछ करना अनिवार्य हो गया। कांग्रेस के स्वयंसेवक संघटन को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया और स्वयं-सेवक बनना अपराध करार दिया गया। गांधीजी के लिए देश को व्यापक आधार पर सविनय अवज्ञा की दीक्षा देने का मार्ग स्वयं ब्रिटिश सरकार ने प्रदान कर दिया। फलतः सरकारी आज्ञा का भंग आरंभ हुआ। आज वह समय नहीं रह गया था जब ब्रिटिश संगीनों के भय से भारतीय पेट के बल रेंगता। संप्रति उसकी आत्मा में वह बल आ गया था जब देश के स्वाभिमान पर, राष्ट्र के गौरव पर, अपने मस्तक को सहर्ष बलि चढ़ा देता, पर अन्याय के सामने घुटने टेक देने से अस्वीकार कर देता। गांधीजी ने ब्रिटिश सत्ता के रोब, उसकी प्रतिष्ठा, उसके दबदबे और उसकी शक्ति को शस्त्र नहीं किन्तु हृदय के बल से ललकारने का मार्ग प्रस्तुत करके करारी ठेस मारी थी। आज के भारत में निर्भयता थी, प्रतिरोध की भावना थी और बलिदान का बल था। हजारों की संख्या में देश के नर-नारियों ने सरकारी आज्ञा का उल्लंघन करके कांग्रेस के स्वयंसेवक दल में नाम लिखाया। देश भर के विदेशी कारागार भारतीय स्वतंत्रता के पुजारियों से भर उठे। जेलखानों में अब उनके लिए स्थान न रहा। डंडो की वर्षा से देश के अनेक स्थानों में स्त्री-पुरुषों और बच्चों तक के मस्तक चूर कर दिये गये। नीलामी, कुर्की और जुरमानों की धूमधाम मच गयी। पर देश की उमड़ती हुई शक्ति का अवरोधन न हो सका। तत्कालीन वायसराय लार्ड रीडिंग घबड़ा उठे। उन्होंने अनुभव किया कि ब्रिटिश सत्ता अपने ही पैरों पर काँप रही है। अंगरेजी सरकार की यह दशा छोटी-सी टक्कर में ही हो गयी, पर अभी उस युद्ध का श्रीगणेश भी नहीं हुआ था जिसकी तैयारी बारदोली में हो रही थी। यदि देश ने नियंत्रण, अनुशासन-प्रियता और अहिंसा का परिचय दिया होता तो कदाचित्

भारत का इतिहास दूसरा हुआ होता। पर इसी बीच चौरीचौरा में विक्षुब्ध जन-समाज भड़क उठा और उसने एक पुलिस थाने को भस्म करके कतिपय कर्मचारियों को मार डाला।

जन-उद्दंडता और उसकी प्रवृत्ति का यह संकेत पाकर गांधीजी ने अस्थायी रूप से सत्याग्रह स्थगित कर दिया। अब अवसर पाकर ब्रिटिश सरकार ने गांधीजी को गिरफ्तार किया और ६ वर्ष कारावास का दंड दे दिया। जिस ब्रिटिश सरकार को साहस नहीं हो रहा था कि गांधीजी का स्पर्श करे उसी ने उन पर उस समय वार किया जब स्वेच्छा से इस निहत्थे व्यक्ति ने अपने शस्त्र धर दिये। सत्याग्रह को स्थगित करके गांधीजी ने भूल की या नहीं यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि उस मुहूर्त पर, जब देश की प्रबुद्ध शक्ति एक विशेष दिशा की ओर बढ़ रही थी, उसे रोकना अनुचित और गलत था। उसके फलस्वरूप देश में प्रतिक्रिया और निराशा भी स्पष्टतः फैलती दिखाई पड़ी। कहनेवाले यह भी कहते हैं कि उस भूल का परिणाम भारतीय स्वतंत्रता के प्रश्न को वर्षों के लिए टाल देना हुआ। पर जहाँ यह सब कहा जाता है वहीं दूसरे पहलू भी हैं जो उपर्युक्त तर्कों से कम प्रबल और प्रौढ़ नहीं हैं। गांधीजी भारत की परिस्थिति के अनुकूल एक नव प्रयोग तथा नयी रण-शैली का अवलंबन करने जा रहे थे। देश इस दिशा में आवश्यक शिक्षा से दीक्षित नहीं हुआ था। स्वयं चौरीचौरा की घटना उसका प्रमाण थी। यह निर्विवाद है कि भारत की सफलता उसी दशा में संभव थी जब देश अहिंसक रहता और रक्तदान देकर भी पथ पर डटा रहता। असहयोग की बाढ़ से ब्रिटिश सरकार दहल उठी थी इसलिये कि उसका अहिंसक स्वरूप अजेय और अमोघ हो रहा था। सारी ब्रिटिश शक्ति, उसकी सेना, पुलिस और सारा कानून धरे पड़े थे, पर अहिंसात्मक असहयोग का

कुंठन करने में निरर्थक हो रहे थे। हिंसा का जरा-सा भी संकेत उन सबको सक्रिय और सार्थक होने का अवसर प्रदान कर देता। फिर तो देश में वह त्रास, वह हाहाकार और पशुता का वह नग्न प्रदर्शन किया जाता कि जागर्ति की सद्यःजात लतिका उसकी आग में सहज ही झुलस जाती। उस स्थिति में विचूर्ण हुए राष्ट्र की स्वतंत्रता का प्रश्न कितने दिनों के लिए टल गया होता, यह आज बताना कठिन है। कदाचित् यह साहस गांधीजी में ही था कि वे असहयोग का उद्घोष करते और उस तूफान का सर्जन करते जिससे एक बार ब्रिटिश सत्ता डग-मगा गयी। और संभवतः उन्हीं में यह साहस भी था कि उस समय, जब देश की उत्तेजना अपने चरम बिन्दु पर पहुँच रही थी, वे किसी की टीका-टिप्पणी अथवा रोष तथा अपने पद और नेतृत्व की चिंता किये बिना उस बाढ़ को सर्वथा रोक देने की आवाज उठाते।

गांधीजी जेल गये, असहयोग आंदोलन की व्यक्त गति मंद हुई, देश की राजनीति ने पलटा खाया। उनकी अनुपस्थिति में, यह देखकर कि सत्याग्रह की संभावना तत्काल नहीं रही, स्वर्गीय देशबंधु और पंडित मोतीलाल कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम को लेकर उपस्थित हुए। कांग्रेस एक बार टुकड़े-टुकड़े होते दिखाई पड़ी, देश में मतभेद तीव्र हो उठा। उन नेताओं में, जो अभी कुछ महीने पूर्व साथ-साथ एक ही सूत्र में आबद्ध कार्य कर रहे थे, उग्र पृथक्करण होता दृष्टिगोचर हुआ। देशबंधु और मोतीलालजी के नेतृत्व में पृथक् स्वराज्यपार्टी की स्थापना हुई, जिसका कार्यक्रम यह था कि कौंसिल-प्रवेश के द्वारा वर्तमान विधान का चलना असंभव कर दिया जाय और निरंतर अड़ंगे तथा असहयोग की नीति भीतर से बर्ती जाय। कांग्रेस की एकता बनाये रखने के लिए अंत में कांग्रेस ने स्वराज्य-पार्टी को अपनी नीति के संचालन की अनुमति दे दी। स्वराज्य-पार्टी का कार्यक्रम यद्यपि

असहयोग के कार्यक्रम से सर्वथा भिन्न था, देश में तत्कालीन व्याप्त प्रतिक्रिया और निराशा की छाया उस पर पड़ी हुई थी, तथापि उस मौलिक प्रवृत्ति का प्रभाव उस पर भी था जिसकी उत्पत्ति गांधीजी ने कर दी थी। स्वराज्य-पार्टी के कार्यक्रम में वैधानिकता थी, फिर भी प्रतिरोध और टक्कर तथा असहयोग की दृष्टि से वह भी अछूता न था। कांग्रेस का वह वर्ग, जिसे कौंसिल-प्रवेश में विश्वास न था, रचनात्मक कार्यक्रम में जुट पड़ा। गांधीजी की प्रतिभा ने विद्रोहात्मक और रचनात्मक कार्य का बीज साथ ही साथ वपन किया था। संघर्ष के सिवा शान्ति के समय भी कार्य का अभाव न था। वह पथ और पद्धति प्रस्तुत थी जिसका अवलंबन करके राष्ट्र की शक्ति का बिखरना रोका जा सकता था, जागरण बनाये रखा जा सकता था, सक्रियता और सचेष्टता कायम रह सकती थी और भावी संघर्ष के लिए क्षेत्र तैयार किया जा सकता था। दो वर्ष बाद गांधीजी जेल से छूटकर आ गये तो उन्होंने देश की परिस्थिति देखकर कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम में हस्तक्षेप करना उचित न समझा। उनकी यह विशेषता है कि वे समय देखकर यदि बोलते हैं तो मौन रहना भी जानते हैं। यदि सहसा प्रचंड जनान्दोलनों का प्रजनन करना जानते हैं तो महीनों और वर्षों असाधारण धीरता के साथ चुपचाप हाथ-पैर समेटे बैठे रहना भी जानते हैं। भले ही दूर से देखनेवाले यह कहें कि गाँधी की शक्ति का दिवाला पिट चुका है, वह खोखला हो गया है और भविष्य की संभावनाओं से शून्य है; पर इन बातों का कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। वे अनुकूल अवसर तथा राष्ट्र के हृदय के स्पंदन और उसकी मनःस्थिति की ताक में लगे रहते हैं। जिस क्षण इष्ट मुहूर्त आ जाता है गांधी परिस्थिति की शिखा पकड़े सामने प्रस्तुत दिखाई देता है। अपनी इस विशेषता का परिचय उन्होंने बार बार दिया

है। जगत् का एक भी ऐसा नेता नहीं है जो दलबंदियों से, अपने नेतृत्व के लोभ से, अहम् की भावना से इतना ऊँचे उठा हो जितना गांधी। संभव है वह क्षुब्ध होता हो इस बात से कि आज के उसके साथी उसकी बात और उसके मत के विरुद्ध चलने की तैयारी कर रहे हैं, पर उसमें इतनी सहनशीलता, दूरदर्शिता, उदारता तथा अपने निर्णय और अपनी दृष्टि में इतना विश्वास रहता है कि वह उन्हें अपना प्रयोग कर लेने का अवसर दे देता है और यह स्वीकार किये बैठ रहता है कि आज नहीं तो कल उनकी भ्रान्ति हटेगी, वास्तविकता का दर्शन होगा और वे पुनः उसी के निकट आवेंगे। अपनी इस उदारता से ही गांधीजी न केवल अपने साथियों को सदा साथ रखने में और कांग्रेस की एकता बनाये रखने में सफल हुए हैं प्रत्युत देश का नेतृत्व, उसका अदम्य और अटल विश्वास, उसकी भक्ति और अनुगामिता प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं। संभवतः यही कारण है कि इस लंबी अवधि तक वे देश के प्राण, उसके एकमात्र अक्षुण्ण नेता, उसके विश्वस्त सेनापति तथा राष्ट्रीय नैया के कर्णधार बने हुए हैं। वे आज भी आधार-शिला हैं राष्ट्र की प्रगतिशील शक्तियों की एकता की, प्रकाश-स्तंभ हैं भारतीय स्वातंत्र्यपथ के और सारथी हैं भारतीय जीवन-रथ के जो उसकी बागडोर पकड़े उसे बढ़ाये लिए जा रहे हैं।

(१२)

असहयोग आंदोलन के बाद

अपने इसी स्वभाव और अपनी इसी विशेषता के फलस्वरूप उन्होंने कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम को न केवल चलने दिया प्रत्युत उसकी सफलता की कामना भी की। पर कौंसिल-प्रवेश की नीति में

जीवन ही कितना था। थोड़े ही दिनों में उसने अपनी उपयोगिता समाप्त कर दी। बंगाल और मध्यप्रांत में स्वराज्य पार्टी के प्रयत्न से मंत्रि-मंडलों का विघटन हो गया, केंद्रीय व्यवस्थापक सभा में अर्थ-बिल की वर्ष प्रति वर्ष अस्वीकृति की जाने लगी, पर अंततः इसका परिणाम क्या होता। अनुत्तरदायी निरंकुश राजसत्ता भला क्या वाक्-युद्ध से अधि-कारों का विसर्जन कभी करती है? निर्जीव और अधिकार-हीन व्यवस्थापक सभाओं से नौकरशाही के शकट का पथावरोधन कहाँ हो सकता था? जैसे जैसे उक्त कार्यक्रम की उपयोगिता की सीमा समाप्त होने लगी, वैसे वैसे देश में क्षोभ की लहरी लहराने लगी। जन-जीवन सुन्दर व्याख्यानों से कहाँ तक तुष्ट होता? उधर जन-संपर्क से क्रमशः दूर होती जाती कौंसिल-गामियों की पार्टी भी धीरे धीरे नैतिक ह्रास और चारित्रिक क्षय का परिचय देने लगी। उसमें स्पंदन न रहा, गति न रही, जीवन न रहा। ऐसा दल उत्पन्न होने लगा जो पद-ग्रहण का पक्षपाती भी हुआ। इन परिस्थितियों का प्रभाव देश के उद्‌बुद्ध नव-युवक समाज पर भी पड़ने लगा। असहयोग के द्वारा राष्ट्रीय क्षोभ बहिर्गत होने का मार्ग पा चुका था। असहयोग ने उस क्षोभ को और अधिक जागरित तथा सक्रिय ही किया था। आज उसके व्यक्त होने का कोई मार्ग तथा कौंसिल-प्रवेश के वैधानिक कार्य-क्रम से उसका आप्यायन नहीं हो सकता था। विदेशी सरकार तरह तरह के प्रस्तावों के रूप में उपस्थित की गयी माँगों को निस्संकोच तिरस्कृत करती रही। जगत् में नयी घटनाएँ घट चुकी थीं। रूस में प्रचंड बोलशेविक विद्रोह ने एक नये आदर्श और पथ की स्थापना कर दी थी। तुर्कों ने अतातुर्क कमाल के नेतृत्व में मित्रराष्ट्रों का मद विचूर्ण करके सुसान में विजयी की भाँति संधि की शर्तें लिखा ली थीं। आयरलैंड में 'आयरिश फ्री स्टेट' की स्थापना हो गयी थी। चीन में नयी क्रांतिकारिणी सरकार

पदासीन हुई थी। साम्राज्यवाद का विरोध करनेवाली तथा जन-सत्ता की आकांक्षिणी प्रवृत्ति समस्त धारातल में उदीयमान हो रही थी जिसका नेतृत्व बोलशेवी रूस कर रहा था। भारत के पड़ोसी अफगानिस्तान, फारस, अरब और मिश्र तक में नवीन और सफल राष्ट्रवादिनी शक्ति का निर्माण हो चला था, जिन्होंने यूरोप की साम्राज्यवादिनी ताकतों का तिरस्कार करके अपनी सत्ता जमायी थी। इन सबका प्रभाव भारत के क्षुब्ध हृदय पर पड़ रहा था। देश में पुनः क्रान्तिकारी आंदोलन आविर्भूत होता दिखाई देने लगा। यह कब संभव था स्वंत्रतानुरागी, आदर्श-पूत, उत्सर्ग-पथ का यात्री भारतीय युवक समुदाय चुप रहता। उत्तर भारत में बंगाल से लेकर पंजाब तक क्रांतिकारी संघटन के केंद्र स्थापित होने लगे। छिटपुट एकाकी विप्लवात्मक घटनाएँ भी घट जातीं। कहीं डकैती, कहीं बम-प्रहार और कहीं किसी अधिकारी का प्राणघात।

गांधीजी सारी परिस्थिति को सावधानी के साथ देख रहे थे। वह समय निकट आ रहा था जब वैधानिक कार्यक्रम की इति हो जाती। परिस्थितियों का प्रवाह, जनमत का प्रभाव, आवश्यकताओं का बोध कांग्रेस के लिए अनिवार्य कर देता कि वह प्रत्यक्ष संघर्ष का पथ ग्रहण करे। जो संस्था जन-जीवन के संपर्क में थी उसके लिए संभव न था राष्ट्रीय मनोदशा से अपने को अलग रख सकती। ब्रिटिश सरकार ने वह स्थिति शीघ्र ही उपस्थित कर दी। साइमन कमीशन के नाम से एक समिति की स्थापना की घोषणा ब्रिटिश पार्लमेंट ने की और उसे भारत के शासन-विधान में संशोधन करने के लिए उचित सुझाव प्रस्तुत करने का कार्य-भार सौंप दिया। यह कमीशन क्या था, भारतीय राष्ट्र का उद्दंड तिरस्कार तथा अपमान था। कमीशन के प्रत्येक सदस्य अभारतीय तथा उनके कार्य की सीमा अति संकुचित,

कहाँ देश कल्पना कर रहा था संपूर्ण शासनाधिकार की, कहाँ कौंसिलनुरागी आशा कर रहे थे कि उनके प्रभाव, दबाव से भारतीय अपने अधिकार की प्राप्ति करेंगे और कहाँ साइमन-कमीशन जिसमें किसी भारतीय सदस्य को स्थान भी नहीं। सारा देश जैसे स्तब्ध हो गया। क्रोध और क्षोभ का पारावार उमड़ पड़ा। कमीशन के बहिष्कार की धूम मच गयी। देश का प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक राजनीतिक दल इस बहिष्कार में सम्मिलित हुआ। इसी समय मोतीलालजी की अध्यक्षता में नेहरू-कमेटी बनी जिसने भारत के शासन-विधान की एक रूपरेखा उपस्थित की। आज देश ने पुनः अनुभव किया कि ब्रिटिश सत्ता भारत को पैरों के नीचे रगड़ते जाने के लिए घृत-संकल्प है। उसने यह भी अनुभव किया कि देश का उद्धार अपने प्रयत्न, अपने तप, और अपने बलिदान से ही होगा। जगत् की अनेक जातियाँ जो अभी कल तक दलित थीं आज अपने बल से अपने संमान की रक्षा करने में समर्थ हुई थीं। इतिहास का प्रवाह अकाट्य रूप से यही सिद्ध करता है कि किसी देश की स्वतंत्रता किसी अन्य देश की उदारता से प्राप्त नहीं हुआ करती। विजयी और शासक वर्ग तब तक अपने अधिकार का विसर्जन नहीं करता जब तक वैसा करने के लिए बाध्य न हो जाय। भारत के संबंध में कोई कारण नहीं है कि इतिहास का वह स्वरूप अन्यथा हो जाय। गांधीजी देख रहे थे देश की गति को। धीरे धीरे राष्ट्रीय सूत्र को उन्होंने अपने हाथों में पुनः लेना स्वीकार किया। सन् १९२८ ईसवी में कलकत्ते की कांग्रेस में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को यह चुनौती दे दी कि एक वर्ष के समाप्त होते होते यदि सरकार नेहरू-रिपोर्ट को बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार कर लेने की घोषणा नहीं करती तो भारत ब्रिटिश संबंध विच्छेद को अपना ध्येय घोषित करेगा।

अब देश की आँखें पुनः गांधीजी की ओर लगीं। गांधीजी उन व्यक्तियों में हैं जिनका भीतर और बाहर समान है। वे धमकियों तथा घुड़कियों की नीति में विश्वास नहीं करते। उनमें योद्धा की प्रकृति और वीर के सारे गुणों का विकास हुआ है। वे जो कहते हैं सो करते हैं और जो करते हैं वही कहते हैं। गांधीजी ने जब एक बार कह दिया कि वे अमुक कार्य करेंगे तो समझ लीजिये कि जगत् की कोई शक्ति नहीं है जो उन्हें उस पथ से विरत करने में समर्थ हो। कहे हुए कार्य की पूर्ति में वह व्यक्ति प्राणों की बाजी लगा देगा। एक वर्ष का समय देकर उन्होंने देश को अवसर प्रदान किया कि वह आगत समय के लिए तैयार हो। ब्रिटिश सरकार क्या करेगी यह तो वे जानते थे पर एक वर्ष का समय देकर उसके स्वरूप का उद्‌घाटन उन लोगों के लिए भी कर देना आवश्यक था, जिन्हें अब भी उसकी नीयत में विश्वास था। फिर गांधीजी की अपनी नैतिक दृष्टि भी थी। उनका शत्रु कोई नहीं है, पर अनीति से भिड़ना उनका स्वभाव है। भारत की स्वतंत्रता उनके लिए नैतिक प्रश्न है। ब्रिटिश सरकार को भी अवसर देना था कि वह जिस अनीति में संलग्न है उससे कदम पीछे हटावे। इतने पर भी यदि उसकी आँखें नहीं खुलतीं तो संघर्ष के लिए गांधीजी का पथ प्रशस्त हो जाता है। फलतः कलकत्ते की कांग्रेस में निर्णय हुआ और एक वर्ष तक वह निर्णय सजीव रहा। सन् १९२९ ईसवी की ३१ दिसंबर को रात १२ बजे वह अवधि समाप्त हुई। इधर अर्धरात्रि में १२ का घंटा बज रहा था और उधर लाहौर में रावी के तट पर पंडित जवाहरलाल की अध्यक्षता में भारतीय राष्ट्रीय महासभाने भारत की पूर्ण स्वतंत्रता को अपना ध्येय घोषित कर दिया। उस ध्येय की प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय महासंग्राम का सूत्रपात करने का अधिकार राष्ट्र ने अपने सेनानी के हाथों में समर्पण कर दिया। भारत के इतिहास में सन् १९३० ईसवी

की २६ जनवरी स्मरणीय रहेगी, जब भारत के नगर-नगर, गाँव-गाँव, गली-कूचे से यह आवाज उठी कि "स्वाधीन होना, अपने श्रम के फल का उपभोग करना और जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ पाना भारत की जनता का नैसर्गिक अधिकार है। यदि कोई शासन जन-समाज को इन अधिकारों से वंचित करता है तो जनता को यह अधिकार है कि वह उस शासन को बदल दे अथवा उसे उद्ध्वस्त कर दे। ब्रिटिश शासन ने भारतीय राष्ट्र को न केवल उसकी स्वाधीनता से वंचित किया है प्रत्युत वह जनता के दोहन और दलन पर स्थापित है। उसने भारत पर चौतरफा बरबादी ढाही है और उसे आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से तबाह कर डाला है। हमें विश्वास है कि हम यदि इस अमानुषी शासन को सहायता देना बंद कर दें और उसे कष्ट न दें तथा उत्तेजित किये जाने पर भी हिंसा न करें तो उसका अंत अनिवार्य है। हम आज प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक हम भारत की पूर्ण स्वाधीनता, जिसका अर्थ ब्रिटेन से संपूर्ण संबंध-विच्छेद है, प्राप्त नहीं कर लेते तब तक चैन न लेंगे।" कोटि कोटि नर-नारियों के कंठ से निर्गत यह ध्वनि भारतीय आकाश में गूँज उठी। ब्रिटिश शासन के इतिहास में यह पहला अवसर था जब देश की जनता ने सामूहिक रूप से अपनी परतंत्रता का अंत करने का संकल्प प्रकट किया।

देश के अमीर-गरीब और बाल-वृद्ध, नर-नारी सभी इस महायज्ञ के सूत्रपात के लिए तैयार होने लगे। गांधीजी ने एक बार पुनः भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का सेनापतित्व ग्रहण किया। भारतीय भूमि पर उस महान् युद्ध का प्रवर्तन होने जा रहा था जिसका प्रमाण मानव-जाति के इतिहास में दूसरा नहीं मिल सकता। 'अहिंसा' भक्तों और विरक्तों, साधकों और तपस्वियों की विभूति तो सदा से रही है, पर

अहिंसा का प्रयोग शस्त्र के रूप में देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के संग्राम में होने की मिसाल अतीत और वर्तमान के अंचल में कहीं दूसरी मिल नहीं सकती। आज यह अभिनव प्रयोग भारत की गोद में होने जा रहा था। असहयोग का सूत्रपात गांधीजी ने दस वर्ष पूर्व ही कर दिया था। उसकी शक्ति और उसकी सार्थकता तथा क्षमता की अनुभूति देश को कुछ कुछ हो चुकी थी। पर असहयोग सत्याग्रह के रूप में किस प्रकार मूर्त होता है और अहिंसा का विद्रोहात्मक स्वरूप कैसा होता है इसका प्रयोग इस व्यापक रूप से अब तक नहीं हुआ था। असहयोग आंदोलन के अवरोधन के बाद छोटे-मोटे प्रश्नों को लेकर सत्याग्रह और करबंदी भी एकाध बार हो चुकी थी। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के नेतृत्व में अकालियों का सत्याग्रह सफलतापूर्वक हो चुका था। सन् १९२८ ईसवी में बारदोली के किसानों ने सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में लगान वृद्धि के विरुद्ध करबंदी करके सफलता पायी थी। पर ये छोटे मोटे उदाहरण थे जो छोटे मोटे तात्कालिक प्रश्नों को लेकर उपस्थित होते हैं। देश के महान् राजनीतिक प्रश्न को हल करने के लिए सार्वदेशिक सत्याग्रह करने का अवसर न असहयोग-आंदोलन के समय आया और न अब तक उसके बाद आया था। इतने दिनों तक धीरता के साथ गांधीजी उस क्षण की राह देख रहे थे जब वे, असहयोग के समय अधूरा रह गया, प्रयोग करने का अवसर पाते। आज वह अवसर उपस्थित था। देश उत्सुकतापूर्वक उस रण-योजना की प्रतीक्षा कर रहा था जिसकी कल्पना भी उसकी अभिनवता के कारण नहीं की जा सकती। यह निश्चय हो चला था कि गांधीजी ब्रिटेन की सरकार से टक्कर लेनेवाले हैं। पर कब लेंगे, कैसे लेंगे, किस रूप में लेंगे, अहिंसात्मक आघात और विद्रोह कैसे आरंभ होगा, इसका पता किसी को न था।

उनके अंतरंग साथी और कांग्रेस कार्यसमिति के लोग भी उससे परिचित न थे क्योंकि गांधीजी ने उसकी कोई रूपरेखा उनके सामने नहीं रखी थी। रूपरेखा क्यों नहीं रखी थी, इसका उत्तर सिवा इसके और क्या हो सकता है कि संभवतः कोई स्पष्ट चित्र स्वयं गांधीजी के सामने भी न था। इसे गांधीजी का दोष कहिये अथवा गुण, पर वास्तविकता यही है। उनकी कार्य-पद्धति और उनका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि आगामी कदम के संबंध में वे पहले से कोई योजना बनाते कभी दिखाई नहीं देते। वे परिस्थिति के प्रवाह में बहते हैं और जब जो तात्कालिक प्रश्न उपस्थित हो जाता है उसके हल का उपाय तब प्रस्तुत कर देते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि अनुकूल क्षण उपस्थित होने पर वे अपने अंतर का उग्र मंथन करते हैं, गंभीर चिंतन में मग्न होते हैं और सहसा परिस्थिति के स्वरूप तथा उसकी आवश्यकता का आभास पाकर तदनुकूल पथ का निर्णय कर देते हैं। उनकी कार्य-पद्धति में तर्क और विवेचना, बौद्धिक उछलकूद तथा नाप-जोख नहीं दिखाई देती। यह मानना पड़ेगा कि उनके इस प्रकार काम करने से उनके साथी भी परेशान रहते हैं। बहुधा उनके कदम और उनके निर्णय को समझना कठिन हो जाता है और कभी कभी तत्क्षण उससे हानि होती भी दिखाई देती है। बहुधा लोग उनके इस ढंग से क्षुब्ध होते हैं, इसे उनकी त्रुटि समझते हैं और कुछ लोग उनका उपहास करते तथा उन पर व्यंग कसते भी दिखाई देते हैं। उनकी 'अंतर्ध्वनि', उनके 'अन्तर्प्रकाश' तथा 'ईश्वरीय आदेश' आदि शब्दों का मखौल उड़ाया जाता है। यह सब चाहे जो हो किन्तु गांधी गांधी है और किसीका क्षोभ और उपहास उसे दूसरा नहीं बना सकता। वह इसी ढंग से काम करता रहा है और संभवतः जब तक जीवित है वैसे ही करता जायगा। यदि किसी राजनीतिक

नेता के लिए यह ढंग दोषपूर्ण है तो इसे स्वीकार कर लीजिये कि गाँधी सदोष है, पर इतना और भी मानना पड़ेगा कि उसके तर्कहीन निर्णय और विवेचना-हीन कदम आज नहीं तो दो दिन बाद सहज ही उचित और प्रौढ़, बुद्धि-संमत और सतर्क सिद्ध होते हैं।

उसकी 'अन्तर्ध्वनि' और 'अन्तर्प्रकाश' की हँसी हम भले ही उड़ा लें पर गत पचीस वर्ष के इतिहास में विशेष अवसरों पर इस बात का प्रमाण मिलता रहा है कि गांधी का निर्णय उचित था और बड़े बड़े तार्किकों तथा बुद्धिशीलों की विवेचना गलत थी। उसे मानों वास्तविकता की गंध अज्ञात भाव से मिल जाती है और प्रकृत्या वह उचित पथ की ओर संकेत कर देता है। सन् १९३० ईसवी की फरवरी में कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन बारदोली में हो रहा था। कार्यसमिति ने सत्याग्रह आरंभ करने का अधिकार गांधीजी को सौंप दिया था पर सत्याग्रह का आरंभ किस प्रकार होगा, उसकी योजना क्या होगी, इसका पता किसी को न था। स्वयं गांधीजी योजना उपस्थित करने में अपने को असमर्थ बता रहे थे। घंटों समिति ने विचार किया, गंभीर परामर्श हुआ, बड़े बड़े कानूनी दिमागों ने कानून भंग करने के लिए कानून की खोज में कानूनी पुस्तकों के पन्ने उलट डाले, पर कोई मार्ग सुझाई नहीं दे रहा था कि गांधीजी ने सहसा नमक-कानून भंग करने की राय दे दी। किसी ने कल्पना भी न की थी और न किसी का ध्यान गया था इस बात की ओर कि नमक कानून भी है जिसका भंग करना संभव है और जिसे देशव्यापी अहिंसात्मक विद्रोह का आधार बनाया जा सकता है। कहते हैं कि गांधीजी के मुख से नमक-कानून के भंग की बात सुनकर कार्यसमिति के कुछ सदस्यों ने उसे मजाक समझा, कुछ चकित हुए और कुछ स्तब्ध हो गये, पर गांधीजी ने मार्च में तत्कालीन वायसराय को एक पत्र लिखकर ब्रिटिश शासन के

दोषों के परिहार की माँग की अन्यथा नमक-कानून भंग करके सत्याग्रह करने का निश्चय घोषित कर दिया। देश की जनता तो नमक-कानून के भंग की बात ही नहीं सोच सकी थी, पर ब्रिटिश सरकार को भी उसका कुछ अर्थ समझ में नहीं आया। नमक के कानून से भारतीय स्वतंत्रता का भला क्या संबंध और कैसे उक्त कानून के भंग से पूर्ण स्वराज्य की माँग पूरी हो सकती थी। किसी ने यह न समझा कि कानून भंग का लक्ष्य कानून विशेष को भंग करना मात्र नहीं है। कानून भंग करना तो संकेत मात्र है उस मनःस्थिति और भाव-धारा का जिसकी उपेक्षा कोई सरकार कभी कर ही नहीं सकती। कानून-भंग में हुंकार है विद्रोह की, जिसके द्वारा सत्याग्रही स्थापित व्यवस्था की प्रतिष्ठा पर कुठाराघात करता है। वह अवज्ञा के द्वारा सरकार की सारी शक्ति और प्रभुता को ललकारता है, उसे खुली चुनौती देता है और आवाहन करता है बल आजमाने के लिए। सशस्त्र विद्रोह में भी यही प्रवृत्ति होती है। भेद केवल रण-पद्धति का है। एक यदि रक्त पान करके शासन-तंत्र का चलना असंभव करना चाहता है तो दूसरा रक्तदान और बलिदान के द्वारा शासकों को शासन करना असंभव बना देता है। परिणाम दोनों का एक ही होता है। सफल विद्रोह पराभूत शासन-सत्ता से अपने मन की करा लेता है।

(१२)

अहिंसक क्रान्ति-शैली का अभिनव प्रयोग

गांधीजी अहिंसक विद्रोह की अग्नि प्रज्ज्वलित करने के लिए अग्रसर हुए थे। उन्होंने घोषणा की कि ६ अप्रैल को वह साबरमती आश्रम के चुने हुए सैनिकों को लेकर दाँडी नामक गाँव में नमक-सत्याग्रह करेंगें। १२ मार्च को उन्होंने ७९ साथियों के साथ दाँडी की स्मरणीय

और ऐतिहासिक यात्रा के लिए साबरमती आश्रम छोड़ दिया। लार्ड अरविन की समझ में इस 'नंगे फकीर' की योजना आयी ही नहीं। भला वे इसे समझते कैसे ? यूरोप का मस्तिष्क बम और पिस्तौल, गोला और बारूद, सेना और वायुयान तो समझ सकता था पर अशस्त्र, दुर्बल काय, एक वृद्ध और जर्जर व्यक्ति का, कमर में घड़ी लटकाये, पाँव पियादे, विक्षिप्तों की तरह थोड़े-से साथियों को लिये समुद्र-तट की ओर भागते जाने से ब्रिटिश सत्ता का एक रोवाँ भी कैसे बाँका होगा, यह समझ में नहीं आ सकता था। फलतः दिल्ली का सिंहासन निश्शंक था। लार्ड अरविन वायस-रीगल कोठी की विशाल अट्टालिका में बैठे बैठे हँस रहे थे और हँसते ही हँसते एक दिन उबल पड़े कि 'गुजरात के समुद्र-तट पर जो कौतुक होने जा रहा है उस पर ब्रिटिश सरकार हँसे बिना बाकी न रहेगी।' उधर गांधीजी, मनस्वी और कार्यार्थी तथा अपने पथ पर आवश्यक हो तो एकाकी चलने का साहस रखनेवाले गांधीजी, दाँडी की ओर बढ़े चले जा रहे थे। जगत् के विभिन्न कोनों से, देश-विदेश के अनेक पत्रकार इस अभूतपूर्व संघर्ष को देखने के लिए एकत्र होने लगे थे। जगत् उत्सुक था वह युद्ध देखने के लिए जिसमें एक ओर नख-शिख तक अस्त्र-शस्त्रों से लदी, जगत् की सर्वोत्कृष्ट, मदमत्त ब्रिटिश शक्ति थी और दूसरी ओर निहत्थे भारतीयों का निहत्था सेनापति ब्रिटिश शासन को मटियामेट करने की घोषणा करके अग्रसर हुआ था। यह असंभव घटना कैसे संभव होगी ? कैसे निहत्थे युद्ध करेंगे ? क्या कोई जादू होनेवाला है या सचमुच किसी पागल की बहक ही है ? सावरमती से दाँडी तक पहुँचने में गांधीजी को तीन सप्ताह लगे। ये तीन सप्ताह क्या थे प्रचंड तूफान थे, जिन्होंने दाँडी की ओर गांधीजी के एक एक पद-निक्षेप के साथ देश में विद्रोह की अग्नि

सुलगा दी। सारा गुजरात तो पूरे वेग से जाग उठा। गाँवों के सैकड़ों मुखियों और पटेलों ने त्यागपत्र दे दिया। गुजरात की महिलाएँ और बच्चे भी आज्ञा पाते ही अहिंसात्मक संघर्ष में कूदने के लिए कमर कसकर खड़े हो गये। सारे देश में कानून-भंग की हवा बह चली। सारा भारत वैप्लवी मस्ती में झूमने लगा। लार्ड अरविन जिसे कौतुक समझे बैठे थे वह भयावना भूकंप सिद्ध होता दिखाई पड़ा।

६ अप्रैल को गांधीजी ने समुद्र तीर से एक मुट्ठी नमक उठाकर सत्याग्रह का सूत्रपात किया। यह एक मुट्ठी नमक नमक नहीं था जलते हुए अंगारे थे, जिन्हें उठाकर गांधी ने भारतीय हृदय में केंद्रीभूत विक्षोभ की बारूद में लगा दिया। दाँडी में सत्याग्रह होना था कि देश भर में कानून-भंग की लहर लहराने लगी। गुजरात में समुद्र तीरवर्ती स्थानों में सामूहिक रूप से सत्याग्रह किया गया। आणन्द, फुलेरा, धरसाना आदि स्थानों में दृढ़व्रती सत्याग्रहियों के शिविर पड़ गये। भारत के गाँव-गाँव, नगर-नगर सर्वत्र नमक बनने और बेचा जाने लगा। भला यह कब संभव था कि अंग्रेजी सरकार इस खुली ललकार की उपेक्षा करती ? उपेक्षा करना अपनी मौत बुलाने के सिवा और कुछ न था। फलतः उसने सवेग वज्र प्रहार किया। गिरफ्तारियों की धूम मच गयी, लाठियों की बौछार प्रतिदिन की घटना हो गयी। गोलियों के प्रहार से निहत्थे भारतीय भूने जाने लगे। महिलाओं और स्त्रियों पर, जिनका इस आन्दोलन में आदरणीय भाग था अमानुषिक अत्याचार किये गये। धरसाना और फुलेरा के सत्याग्रहियों के साथ सरकार ने जो पाशविक अत्याचार किये उन्हें देखकर विदेशी पत्रकार भी काँप उठे। उनकी पुस्तकों और विवरणों में उनके मन की प्रतिक्रिया पढ़िये और देखिये कि वे इस देवासुर-संग्राम से कैसे प्रभावित हुए थे। दिल्ली की सड़कें भारतीयों के रक्त से सींच दी गयीं।

पेशावर में भारतीय भीड़ पर सशस्त्र मोटर गाड़ियाँ दौड़ाकर उन्हें पीस दिया गया, बहुत देर तक गोलियों की अंधाधुंध वर्षा की गयी, बड़ाला और धरसाना ब्रिटिश अत्याचार के कारण भारतीय इतिहास में अमर हो गये, बंबई का चौपाटी का मैदान आजाद मैदान हो गया जहाँ भारत की वीर रमणियों का नृशंश केश-लुंचन किया गया। अस्सी सहस्र से अधिक नर-नारी जेलों में बंद कर दिये गये, जुर्माने और कुड़कियों की संख्या अपरिमित हो गयी। एक के बाद दूसरे काले कानूनों की रचना करके ब्रिटिश वायसराय ने भारत में वीर राज्य का नग्न और ज्वलंत दृश्य उपस्थित कर दिया।

पर इन सबका परिणाम कुछ न निकला सत्याग्रह की रण-पद्धति में वह प्राणप्रतिष्ठित है जो दमन तथा पशुतापूर्ण प्रहार से अधिकाधिक बल संचय करता चलता है। विपक्ष की उद्दंडता और बर्बरता से वह अभिसिंचित ही होता है, विकसित होता चलता है, अपना नैतिक आधार पुष्ट करता जाता है और प्रतिपक्ष का न केवल नैतिक आधार लुप्त कर देता है प्रत्युत उसे अपने ही क्रोध और अपने ही पाप में भस्म होने के लिए बाध्य कर देता है। जो पद्धति जीवन को हथेली पर लेकर महान् ध्येय के पक्ष में श्रद्धा और विश्वास के साथ स्वाहा बोलने के लिए उत्प्रेरित करती है, जो जीवित रहते अन्याय और असत्य से भिड़ने का प्रण और यदि मृत्यु हो जाय तो धर्म और सत्य के पथ में लय हो जाने का संतोष प्रदान करती है वह भला शस्त्र और शक्ति के संमुख कब कुंठित हो सकती है? फलतः नमक-कानून भंग से आरंभ हुआ सत्याग्रह; शाखा-प्रशाखाओं की विस्तृति करने लगा। ब्रिटिश वस्त्र का बहिष्कार, विदेशी वस्त्र की दूकानों पर धरना, मद्य-निषेध, सभाओं और संवाद-पत्रों की बंदी की आज्ञा की अवज्ञा भी आरंभ हो गयी। सरकार ने ५ मई को कराची

में गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया। पर अहिंसात्मक आंदोलन का सूत्रपात केवल नेता के बल पर नहीं होता, वह तभी चल सकता है जब साधारण जन-समाज का चरित्र उन्नत तथा विकसित हो। अहिंसात्मक संघर्ष में तो नेताओं की गिरफ्तारी और उनका रंगमंच से आरंभ में ही लोप अनिवार्य ही है। उनकी गिरफ्तारी से ही तो वह वातावरण उत्पन्न होता है जो देश को जगा देता है। साथ ही सरकार के लिए भी उन्हें पहले ही पकड़ लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। इस स्थिति में जन-युद्ध का बोझ जनवर्ग पर पड़ना अनिवार्य है। इस भार का वहन वह उसी स्थिति में कर सकता है जब उसमें जागरण हो, चरित्र का बल हो, नैतिक शक्ति हो और स्वावलंबन तथा आत्मविश्वास हो। यही कारण है कि गांधीजी सदा चरित्र और आत्मशुद्धि पर जोर दिया करते हैं। आज देश के चरित्र और उसकी अंतश्शक्ति की ही परीक्षा थी। गांधीजी के नेतृत्व में देश ने चरित्र की शिक्षा और उक्त बल का संचय कर लिया था। कांग्रेस ने आज इसीका परिचय दिया। मई में कांग्रेस कार्यसमिति ने अपने सेनापति की गिरफ्तारी का उत्तर रैयतवाड़ी प्रदेशों में लगान बंदी करने, चौकीदारी टैक्स बंद करने, सरकारी अमलों का सामाजिक बहिष्कार करने, सरकारी ऋण-पत्र खरीदने, रुपये अथवा नोट के स्थान पर सोना ही लेने, भारत में व्यापार करनेवाली ब्रिटिश कंपनियों तथा उनके कार-बार और माल का बहिष्कार करने की घोषणा करके दिया। सरकार ने रोष में आकर कांग्रेस कार्यसमिति को भी गैर कानूनी घोषित कर दिया और सारे सदस्यों सहित उसके स्थानापन्न अध्यक्ष पंडित मोतीलालजी को गिरफ्तार कर लिया। पर देश आज अविचलित था। अहिंसात्मक विद्रोह उत्तरोत्तर व्यापक और कड़ा होता गया। विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का परिणाम लंकाशायर की मिलों के लिए घातक हुआ।

विदेशी वस्त्र का आयात ९० प्रतिशत गिर गया। गुजरात के बारदोली, बोरसद आदि इलाकों में लगानबंदी हो गयी। बिहार में चौकीदारी टैक्स बंद हो गया, मध्यप्रांत में जंगल-कानून वेग से चला। सरकारी अत्याचारों की सीमा न रही। गुजरात के गाँव के गाँव लूट लिये जाते। स्त्रियों के ऊपर अमानुषिक और अश्लील अत्याचार किये गये। संपत्ति की जब्ती और गिरफ्तारी तथा गाँवों को जला देने तक की घृणित नीति व्यवहृत हुई। बारदोली और बोरसद के अस्सी-नब्बे हजार किसान बरोदा के निकटवर्त्ती गाँव में चले गये पर लगान देना स्वीकार न किया।

मेरा आशय यहाँ प्रथम सत्याग्रह-संग्राम का विस्तृत इतिहास लिखना नहीं है। केवल इतना ही कहना है कि गांधीजी ने एक निहत्थे दलित, मूर्च्छित और निरुपाय राष्ट्र को अपने नये प्रयोग और अपनी नयी विचार-धारा से सजीव, जाग्रत्, कृतसंकल्प, आदर्शानुप्राणित तथा पथोपलब्ध महान राष्ट्र के रूप में निर्मित कर डाला। उन्होंने वह कर दिखाया जिसे जगत्, असंभव समझता था। अंग्रेज वायसराय जिसे कौतुक समझते थे वह प्रचंड दावानल सिद्ध हुआ, जिससे अपने को बचाने के लिए उन्हें घुटने टेकने पड़े। एक वर्ष बीतते बीतते लार्ड अरविन को गांधीजी से समझौता करना पड़ा। जब से ब्रिटिश शासन का अखंड साम्राज्य इस देश में स्थापित हुआ तबसे लेकर अब तक यही पहला अवसर था जब जन-शक्ति के सामने उसे झुकना पड़ा। हाँ ब्रिटिश सरकार ने लंदन में गोलमेज परिषद् के नाम से जो कौतुक रचा था वह कौतुक ही रह गया। जगत् ने, अंग्रेजी सरकार ने, भारत और ब्रिटेन की जनता ने अनुभव किया कि भारत का प्राण, उसका प्रतिनिधि तथा उसकी ध्वनि वह है जो आज भारतीय जेलों में बंद है। गांधी के बिना भारत की समस्या नहीं सुलझती और बिना उस समस्या को सुलझाये चैन नहीं मिल सकता। फलतः तत्कालीन प्रधान मंत्री

ने प्रथम गोलमेज-परिषद् का विसर्जन करते हुए भावी भारतीय शासन विधान की स्थूल रूपरेखा की घोषणा की। आपने कहा कि 'भारत का केंद्रीय शासन-संघ-व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी होगा यद्यपि सामरिक, वैदेशिक तथा अर्थ नीति का उत्तरदायित्व संरक्षित रहेंगे। प्रांतों को अपने मामलों में पूरी स्वाधीनता दे दी जायगी। गांधी अरविन समझौते में वायसराय ने यह स्वीकार किया कि अब भी जो संरक्षण रहेगा अथवा प्रतिबंध संघ-सरकार पर लगेंगे वे वही मान्य होंगे जो स्पष्टतः 'भारत के हित में हों'। इसके सिवा सरकार ने बंदियों की रिहाई, जब्त संपति की वापसी, सत्याग्रह-विरोधी आज्ञाएँ, मुकद्मे और सजाएँ रद्द कर देने का वचन दिया।

गांधीजी ने भी कांग्रेस की ओर से द्वितीय गोलमेज-परिषद् में सम्मिलित होना स्वीकार किया। गोलमेज-परिषद् से न कोई अर्थ निकला सकता था और न निकला। भारतीय जनमत को स्पष्टता, दृढ़ता, से गौरव उपस्थित करके गांधीजी ने भारत के प्रश्न को संसार के सामने अवश्य उपस्थित कर दिया। गोलमेज-संमेलन से विदा होते समय वे वहीं यह भी कहते आये कि 'हमारा और ब्रिटेन का रास्ता भिन्न भिन्न है और मुझे आशा है कि भिन्न मार्गावलंबी होते हुए भी हम परस्पर की कटुता को यथासंभव कम करने की चेष्टा करेंगे। ब्रिटिश सरकार की जो नीति थी उसका साक्षी इतिहास है। उसे भारत के बंधन को ढीला करना इष्ट नहीं था। ब्रिटेन का कोई दल क्यों न हो, चाहे कट्टरपंथी हों अथवा प्रगतिशीलता का दम भरने वाले मजदूरदल के लोग, भारत के संबंध में सबकी नीति एक ही है और सब ब्रिटिश हित के लिए साम्राज्यवादी संघटन बनाये रखने के समर्थक हैं। भारत ब्रिटिश साम्राज्य की आधार-पीठिका है। उसका आर्थिक स्वार्थ इस देश में उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। भारत को

अधीन प्रदेश बनाये रखने के लिए ही उसने मिश्र और फिलस्तीन, ईराक और मेसोपोटेमिया की नकेल अपने हाथों में रखने की चेष्टा की थी। भारत की सेना भारतीय सीमा की रक्षा के लिए नहीं प्रत्युत भारत को ब्रिटश प्रभुता के अधीन रखने के लिए संघटित हुई है। आज दम रहते वह भारत को मुक्त करने के लिए तैयार न थी। प्रचंड जनशक्ति के संमुख उसे झुकने के लिए बाध्य होना पड़ा, पर यह स्थिति उसके हृदय में काँटे की भाँति चुभ रही थी। वह प्रतिशोध की आग में जल रहा था और न्याय, नीति, ईमान तथा सत्य को धो-बहाकर भी बदला लेने के लिए उत्कंठित था। गांधीजी के लंदन की ओर प्रयाण करते ही समझौते की शर्तें तोड़ी जाने लगीं और उस अवसर की राह देखी जाने लगी जब अकारण असावधान भारतीय राष्ट्र पर पिशाच की भाँति टूट पड़ा जाय और उसका गला धर दबोचा जाय। ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा पर गांधी-अरविन समझौते के कारण गहरा आघात पहुँच चुका था। साम्राज्यवादी निरंकुश सत्ता स्वभावतः मिथ्या दंभ और प्रतिष्ठा की झूठी भावना की पुजारिणी होती है। उस स्थिति की अनुभूति उसके लिए असाध्य होती है जब जब उसे कभी जनमत तथा जनशक्ति के सामने झुकना पड़ता है। वह सब कुछ कर सकती है पर प्राण रहते कभी जनवर्ग के सामने मस्तक नत करने की कल्पना भी नहीं करती। भारत में जो होना था उसे नगण्य कर देने के लिए वह इसी कारण उत्सुक थी और चाहती थी कि एक बार भारतीय जन-समाज को पीसकर पुनः अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा प्राप्त करे।

इस मनोदशा में भला यह कब संभव था कि वह भारतीय प्रश्न का उदारता तथा दोनों पक्ष के लिए सम्मानपूर्ण प्रकार से हल होने देती। गोलमेज-परिषद् तो उसके लिए एक जाल था, जिसमें भारत

को फँसाकर और उसे असावधान रखकर वह पीछे से वार करने की तैयारी कर रही थी। फिर यह भी स्मरण रखने की बात है कि सत्याग्रह-संग्राम ने जनवर्ग की चेतना, जागर्ति और उत्थान में महान सफलता प्राप्त की थी। भारत एक कोने से दूसरे कोने तक उससे प्रभावित हुआ था। इस आंदोलन में देश का निम्न-मध्यम वर्ग और जनवर्ग विशेष रूप से सम्मिलित हुआ था। वह महान् आन्दोलन था जिसने जन-समाज को एक ओर सचेष्ट किया, उसे मस्तक ऊँचा करने की शक्ति प्रदान की, तो दूसरी ओर उसमें अपने अधिकार और कर्तव्य का ज्ञान भी उत्पन्न किया। जनता की जागर्ति, उसकी सचेष्टता और विगत आंदोलन में उसके प्रबल और प्रशंसनीय आत्मत्याग का प्रभाव राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्रीय आंदोलन की गति पर भी पड़ा। गांधीजी ने देश की राजनीति को जनाभिमुख करके जिस प्रवृत्ति को आज से दस वर्ष पूर्व उत्पन्न किया था वह आज विकसित होकर विशाल वृक्ष बन गया था, जिसकी छाया कांग्रेस और सारे देश पर पड़ रही थी। कांग्रेस का नेतृत्व यद्यपि मध्य और निम्न मध्यश्रेणी के हाथ में था पर उसकी जड़ जनवर्ग तक पहुँच रही थी। जन-जीवन से अभिसिंचित संस्था उसके रंग से रंजित हुए बिना बाकी नहीं रह सकती। इनका प्रभाव कराँची के कांग्रेस अधिवेशन से ही मिल जाता है। कांग्रेस का यह अधिवेशन गांधी-अरविन समझौते के तत्काल बाद ही हुआ था। जिस जनवर्ग ने सत्याग्रह-संग्राम को बल और सफलता प्रदान की थी, जो आज जागरूक और सचेष्ट था उसका स्थान भावी भारत में कहाँ होगा? आज का भारतीय समाज, उसका आर्थिक, राजनीतिक और वैधानिक संघटन यदि ज्यों का त्यों बना रहता है और स्वराज्य का अर्थ केवल यह होता है कि गोरी नौकरशाही के हाथों से अधिकार सत्ता खिसककर भारतीय नौकरशाही के हाथ में आ जाय

तथा वह वर्ग जो आज विदेशी सत्ता की छत्र-छाया से परिपालित और अनुमोदित होकर जन-समाज का दोहन कर रहा है भविष्य में एकाकी शोषण करता रहे तो उस स्वराज्य से जन-समाज का कोई संबंध नहीं हो सकता। यह सच है कि राजनीतिक प्रांगण में गांधीजी के प्रवेश ने दूसरी धारा बहा दी थी। उनका आगमन ही संकेत था उस दिशा और कल्पना की ओर जिसमें जन-वर्ग के दलन और दोहन के अंत की भावना भरी थी। वे स्वयं बराबर यह कहते थे कि 'स्वराज्य का अर्थ है उन करोड़ों भारतीय नर-नारियों की आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता, सांस्कृतिक और नैतिक उत्थान जो आज दलित, प्रताड़ित और शोषित हैं'। उनकी सारी विचार-धारा और कार्यक्रम जन समाज के उत्थान, जन-सत्ता की प्रतिष्ठा और वर्तमान व्यवस्था के विघटन तथा शोषण-हीन और स्वतंत्र भावी समाज की स्थापना की ओर उन्मुख थे। इसी धारा में मंद किन्तु स्थिर गति से कांग्रेस गत दस वर्षों से बह रही थी। उसके संघटन का आधार व्यापक हो रहा था, वह जन-वर्ग के संपर्क में अधिकाधिक पहुँच रही थी और उसका कपाट जन-प्रदेश के लिए क्रमशः अनावृत्त होता जा रहा था। सत्याग्रह संग्राम ने तो दोलित जनता को अपना रक्तदान करके स्वतंत्र भारत में अपना स्थान प्राप्त करने का अधिकार ही प्रदान कर दिया था। फलतः उस महान् आंदोलन के बाद कांग्रेस के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह प्रामाणिक ढंग से उस स्वराज्य की रूपरेखा उपस्थित करे जिसकी प्राप्ति जन-समाज के बलिदान से ही होनेवाली थी। वह बाध्य थी भावी भारत के चित्र को चित्रित करने के लिए और यह बताने के लिए कि देश की उत्पादक किन्तु शोषित जनता का स्थान क्या होगा? आज जनवर्ग इस घोषणा की अपेक्षा कर रहा था क्योंकि उस बात को जानने का उसे अधिकार था। किसी में शक्ति नहीं

थी जो उस अधिकार और माँग की उपेक्षा अथवा तिरस्कार करने का साहस करता।

कांग्रेस को आज अपने इतिहास में एक नया पृष्ठ जोड़ना था। अब तक उसकी राजनीति यदि देश के कुछ उच्च वर्गों तक ही परिमित थी तो आज उसे राष्ट्र-जीवन की महती और व्यापिनी धारा में अपने को लय करने के लिए बढ़ना था। उसी धारा से उसका सिंचन होने वाला था और उसी से वह जीवन-शक्ति प्राप्त करनेवाली थी। उससे पृथक् होकर वह जीवित नहीं रह सकती थी। अतः कराँची कांग्रेस ने अपने अधिवेशन में सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव 'मौलिक अधिकार और कर्तव्य' के नाम से स्वीकृत किया जिसमें भावी भारत के आर्थिक और सामाजिक संघटन की स्थूल रेखा चित्रित कर दी। वह प्रस्ताव कांग्रेस के इतिहास में नयी दृष्टि के उदय का प्रमाण था। यह सच है कि कराँची कांग्रेस का उक्त प्रस्ताव सर्वांश में सर्वांगपूर्ण नहीं था। यह भी सच है कि भावी भारत जब अपनी व्यवस्था में संलग्न होगा तो उसे भारतीय राष्ट्र की आवश्यकता और परिस्थिति, प्रतिभा और परंपरा, जगत् की धारा और मानव-जाति के भविष्य का विचार करके ही अपना आयोजन करना पड़ेगा। हम यह विश्वास करते हैं कि उस समय देश कराँची कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव से कहीं दूर जायगा और भारत में उस प्रगतिशील, जन-सत्ताभिभूत स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक समाजवादी व्यवस्था को जन्म देगा जिसमें वर्णमूलक प्रभुता और शोषण का सर्वथा अंत होगा, हिंसा और दलन का लोप होगा, व्यक्ति और समाज परस्पर पूरक होंगे, अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य का भाव जीवन की प्रमुख प्रेरणा होगी और जिसके फल-स्वरूप उस नव-संस्कृति का जन्म होगा जो चिर आध्यात्मिक सत्यों के आधार पर भौतिक जीवन की रचना करके उस मानव जाति को

विकासाभिमुख करेगी जो आज पशुता और बर्बरता तथा स्वार्थान्ध काम-प्रवृत्तियों से आच्छन्न होकर भस्म हो रहा है। अस्तु, करांची कांग्रेस का प्रस्ताव यद्यपि सर्वांगपूर्ण नहीं था पर कांग्रेस में उदीयमान नयी प्रवृत्ति का द्योतक अवश्य था। जगत् में समाजवादी धारा बह रही थी, रूसने नये आदर्श की स्थापना की थी, गांधीजी नयी भाव-धारा लेकर आये थे, देश की जनता जाग्रत् होकर अपने निर्माण के लिए अग्रसर हुई थी, फलतः कांग्रेस उन सबसे प्रभावित हुए बिना बाकी नहीं रह सकती थी।

इस प्रस्ताव से कांग्रेस का आधार सुदृढ़ हुआ, जनता के अंतर में उसका प्रवेश हुआ और जन-समाज भी भावी स्थिति की कुछ कल्पना पाकर और भविष्य के पद पर अपना स्थान देखकर उधर न केवल आकृष्ट हुआ वरन् राष्ट्रीय आंदोलन में अधिकाधिक भाग लेने के लिए उत्प्रेरित भी हुआ। चतुर साम्राज्यवादी शासक सावधानी के साथ भारतीय राष्ट्र के इस प्रवाह को देख रहे थे। वे देख रहे थे कि आज जन-समाज के संमुख उन्हें झुकना पड़ा है, पर वही जन-समाज यदि उपर्युक्त घटनाओं और धारणाओं से अधिकाधिक परि-पुष्ट हुआ तो फिर निकट भविष्य में उसकी अदमनीय शक्ति के संमुख विचूर्ण हो जाने के सिवा दूसरा मार्ग ही नहीं रह जायगा। इस स्थिति में यह अनिवार्य था कि वे एक बार अपनी सारी शक्ति लगा कर भारत की जनता और कांग्रेस को सदा के लिए चूर कर देने की चेष्टा करते। सन् १९३२ ईसवी में अकारण ही असावधान भारतीय राष्ट्र पर जो भयावना आक्रमण किया गया वह उपर्युक्त चेष्टा का ही परिणाम था। उधर द्वितीय गोलमेज-संमेलन समाप्त हो रहा था और इधर भारत में तत्कालीन वायसराय लार्ड विलिंगडन एक के बाद दूसरे भारतीय नेताओं को गिरफ्तार कर रहे थे। बंगाल में

युक्तप्रांत में, सीमाप्रांत में जोरदार दमन जारी हो गया था। गांधी जी जब बंबई पहुँचे तो उन्हें दमन की आग में जलते भारत का दर्शन करना पड़ा। सन् १९३२ ईसवी की जनवरी में उनके पहुँचते ही कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक हुई पर तब तक चार चार आर्डिनेन्स दिल्ली से जारी हो गये। गांधीजी के सामने सिवा इसके और कोई मार्ग न था कि वे ब्रिटेन की उद्दंडता का प्रतिकार और प्रतिरोध करने के लिए अग्रसर होते। सरकार ने सारे देश की कांग्रेस कमेटियों को गैरकानूनी कर दिया। कांग्रेस कार्यसमिति गांधीजी सहित बंबई में ही गिरफ्तार कर ली गयी, देश भर के प्रमुख कांग्रेस नेता और कार्य-कर्ता पकड़ लिये गये, जनता के शान्तिमय प्रदर्शनों पर लाठियों और गोलियों की अंधाधुन्ध वर्षा आरंभ हो गयी, एक के बाद दूसरे काले कानून जारी कर दिये गये, एक प्रकार से भारत में सैनिक शासन सा स्थापित कर दिया गया। असावधान भारत की जनता पर ब्रिटिश पशुता भयावनी विभीषिका की भाँति घहरा कर टूट पड़ी और उसका गला घोंट देने का प्रयत्न किया। दो वर्ष तक नेताओं के अभाव में, जब कांग्रेस संघटन विचूर्ण कर दिया गया था, जब प्रथम आन्दोलन की थकान भी नहीं मिटी थी, जब सारा ब्रिटिश शासन अपने समस्त अस्त्र-शस्त्रों को लिये-दिये प्रतिहिंसा की आग में जल रहा था, जब उसकी एकमात्र इच्छा यह थी कि भारत की आकाँक्षा और जागर्ति को सदा के लिए कुचल दिया जाय, भारतीय जनता सत्याग्रह और अवज्ञा के द्वारा प्रतिरोध करती गयी। मनुष्य के कष्ट और उत्पीड़न की भी सीमा होती है। अंत में थकान के लक्षण स्पष्ट होने लगे। समय आया जब सत्याग्रह तत्क्षण बंद किया गया और गांधीजी ने पुनः देश को रचनात्मक कार्य की ओर लगाया। इसी समय पुनः पार्लमेंटरी कार्यक्रम ग्रहण किया गया।

(१३)

सन् १९३४ की प्रतिक्रिया

सन् १९३४ के बाद देश की जो स्थिति हो गयी थी उसे हम आशाजनक नहीं कह सकते। ऐसा मालूम हो रहा था कि राष्ट्र की सभी शक्ति चूर, सारी आशा भंग और भविष्य अंधकारमय हो गया है। सन् १९३० से ही उसने जो संघर्ष छेड़ा था वह प्रायः चार वर्षों तक लगातार चलता रहा। व्यक्त रूप से देश विश्रान्त था, हाँफ रहा था और ऐसी स्थिति में जो मनोभाव स्वभावतः उत्पन्न हो जाते हैं उनका शिकार हो रहा था। गांधीजी के नेतृत्व की परीक्षा थी। राज्य-नीतिक क्षेत्र का पथ सीधा और सरल नहीं हुआ करता। राष्ट्रों के जीवन में ऐसे समय आते हैं जब उन्हें खतरा उठाना पड़ता है, अँध-कार में कूदना पड़ता है, गहरी बाजी लगा देनी पड़ती है। भविष्य की अनिश्चितता पूर्ण रूप से रहती है, सफलता विफलता की कल्पना करना कठिन रहता है। यह संभव नहीं होता कि वे हानि-लाभ का लेखा-जोखा तैयार करें, एक एक करके उनकी गणना करें और तब पथ का निर्णय करें। सामने प्रश्न जीवन-मरण का होता है और राष्ट्र संकट की आग में कूदने के लिए बढ़ते हैं; आशा लेकर बढ़ते हैं कि इतिहास उनकी सहायता करेगा, प्रकृति की प्रगतिशील धारा उनका साथ देगी और भविष्य उनका उज्ज्वल है। साहस से काम लेकर वे आगे बढ़ते हैं और सफल होते हैं। सफलता मिलती है तो इतिहास में एक नया पृष्ठ जोड़ते हैं और स्वयं आनेवाली संतति के लिए मार्ग प्रशस्त कर जाते हैं। पर स्मरण रखना चाहिये कि सदा सफलता ही नहीं मिलती; बहुधा विफलता गले पड़ती है और वह सारा त्याग,

आत्मबलिदान और तप जिसका आश्रय लेकर राष्ट्र जीवन आहूत करते निरर्थक हुआ दिखाई देता है। यह स्थिति पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिकहैं संकटपूर्ण होती है। प्रतिक्रिया का प्रवाह जब चलता है तो निराशा और नैतिक अधःपतन, भविष्य के प्रति अनास्था और अनात्म-वाद की लहरियों की सर्जन करता चलता है। परा-भूत मनोवृत्ति और निश्चेष्टता तथा परावलंबन और पलायन जीवन की गति हो जाते हैं। यह स्थिति वास्तव में विनाश की ओर संकेत करने लगती है। नेता के नेतृत्व की परीक्षा का यही समय होता है। आरंभ में देश को उभाड़ देना, संघर्ष में भिड़ा देना और खतरा उठा कर बढ़ चलने के लिए प्रेरित कर देना, बहुत बड़ी बात नहीं हुआ करती; पर उस समय जब विफलता सामने खड़ी दिखाई दे रही हो, प्रतिक्रिया उत्पन्न हो रही हो, वास्तविकता का दर्शन करना, देश को इस संकट से बचाना, उसके जीवन को मरने न देना, उसका नैतिक अधःपात न होने देना और भविष्य के प्रति उसकी आशा और विश्वास को बनाये रखना बहुत बड़ा काम होता है।

विफलता यदि नैराश्य और निश्चेष्टता का स्रोत हो जाय तो फिर वह अभिशाप बन जाती है, पर यदि देश का नैतिक बल बचा रहे तो वही विफलता दृढ़ भविष्य के लिए दृढ़तर संकल्प, बलवत्तर प्रयत्न और अविचल विश्वास का सर्जन भी कर देती है। वह उत्प्रेरणा और स्फूर्ति का कारण बनती है और इस प्रकार वरदान हो जाती है। नेता वही सफल और महान् है जो प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होने देता और यदि हो ही जाय तो उसे चिर-जीविनी होने नहीं देता। परिस्थिति देखकर वह आवश्यकतानुसार कदम पीछे हटाता है, व्यूह में परिवर्तन करता है, अपने व्यक्तित्व के बल से जन-शक्ति का बिखरना रोकता है और कल्पनाशीलता का आश्रय लेकर उस शक्ति

का नियोजन ऐसी दिशा में करता है जो भविष्य के लिए पुनः क्षेत्र-का निर्माण करे। जगत् के अनेक देशों की क्रान्तियों का इतिहास प्रस्तुत है और आप उनका अध्ययन करें तो यह देखेंगे कि कदाचित् ही कोई ऐसा विरला देश होगा जो एक दो बार प्रतिक्रिया-काल से पार होने के लिए बाध्य न हुआ हो। स्वतंत्रता देवी साधारण अर्चना से वरदा नहीं होती। अनेक बार विफलता का आलिंगन करना पड़ता है, बार बार बलि चढ़ानी पड़ती है और भयावने संकटों का सामना करना पड़ता है। साधक पुनः पुनः विघ्नों से प्रतिहन्य होने के बाद भी जब अविचल रहता है और अपने पथ से विपथ नहीं होता तो इष्ट-देवी के दर्शन पाता है। रूस में देखिये, चीन में देखिये, आयरलैंड में देखिये, आप सर्वत्र एकाधिक बार क्रान्तियों को विफल होते देखेंगे। यही नहीं, प्रत्युत उन देशों में गहरी प्रतिक्रिया हुई है जिसकी लंबी अवधि ने देश को वर्षों के लिए धराशायी बना रखा है। स्वयं रूस की क्रान्ति पर दृष्टिपात कीजिये। सन् १९०५ ईसवी में राष्ट्र की उभड़ती हुई शक्ति जब एक बार भग्न हो गयी तो दूसरी बार देश को उठने में पूरे बारह वर्ष लग गये। भारत में भी कुछ ऐसा ही हुआ था! दिग्विजयी ब्रिटिश शक्ति की प्रतिहिंसा की अग्नि साधारण नहीं थी जिसमें सारा भारतीय राष्ट्र बलात् झोंक दिया गया था। जो हुआ था उसके बाद यह आशा नहीं की जा सकती थी कि यह राष्ट्र दशकों तक सिर उठाने की भी हिम्मत करेगा। स्वयं ब्रिटिश सरकार ने भी यही समझ रखा था। कहते हैं कि लार्ड विलिंगडन ने बड़े दंभ के साथ यह दावा किया था कि मैंने कांग्रेस को समूल उखाड़ फेंकने में सफलता प्राप्त की है।

आज गांधीजी के सामने सबसे महान् कार्य यही था कि वे देश को प्रतिक्रिया के भयावने हिम-प्रवाह से यथासंभव बचावें। महान्

राष्ट्रीय संघर्ष के प्रज्ज्वलन का उत्तरदायित्व उन्होंने ही उठाया था। देश संप्रति जिस संकट में पड़ते जा रहा था उससे उसकी रक्षा करने का उत्तरदायित्व भी उन्हीं को उठाना था। यह सच है कि भारत की राजनीति क्रीड़ा नहीं, कठोर साधना है पर साधना के पथ में विफलता भी आती है। जो व्यक्ति आज भारतीय राष्ट्र के साधना-पथ का दीक्षा-गुरु था उसी का यह काम था कि साधक की तात्कालिक विफलता को क्षणिक ही नहीं प्रत्युत उसकी चिर सफलता का सोपान बना दे। और आज जब हम उलट कर गत दशक के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो यह देखते हैं कि गांधीजी ने इस दिशा में असाधारण सफलता पायी है। परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना लेने का असाधारण गुण गांधीजी में प्रभूत मात्रा में वर्तमान है। वे कट्टर आदर्शवादी हैं, पर वस्तुस्थिति की उपेक्षा नहीं करते। वे दृढ़व्रती हैं पर वह प्रमाथी नहीं हैं। वे सिद्धान्त से हटना नहीं जानते पर परिस्थितियों से—असत्य से नहीं—समझौता करने की कला में निपुण हैं। समय आने पर खतरों की चिंता किये बिना गहरी बाजी लगाना जानते हैं, जब किसी में साहस नहीं होता उस समय विश्व-मर्दिनी शक्ति स भी टक्कर लेने के लिए अग्रसर हो जाते हैं; पर परिस्थिति की प्रतिकूल अवस्था में उसी साहस के साथ पीछे कदम हटाना भी जानते हैं। विफलता का नाम लेकर रोना, बिगड़े हुए वर्त्तमान में अतीत का स्मरण करके उसासें भरना अथवा अपनी प्रतिष्ठा और मिथ्या अभिमान को बाधक बनने देना वे जानते ही नहीं। विजय प्राप्त करना अवश्य ही मनुष्य की महत्ता का द्योतक होता है, पर उससे भी बड़ी महत्ता का प्रदर्शन तब होता है जब वह टक्कर लेता है दुर्भाग्य से, गिर जाता है पर पुनः उठता है, पुनः टक्कर लेता है और विजय-बिन्दु की ओर बढ़ चलता है। गांधीजी में वही महत्ता प्रतिष्ठित है। उनके

नेतृत्व की विशेषता केवल यही नहीं है कि विदेश ने उनकी ओजस्विनी प्रेरणा प्राप्त करके एकाधिक बार संघर्ष किया है पर यह विशेषता भी रही है कि यदि चोट खाकर वह गिरा तो उन्होंने उसे पुनः उठाकर खड़ा कर दिया और विजय के लिए आगे बढ़ा दिया। गिरे हुए देश को उठाने के लिए पीछे पग हटाना पड़ा तो हटने में उन्होंने संकोच नहीं किया। यदि स्वयं झुक कर उसे अवलंब देना आवश्यक प्रतीत हुआ तो वे झुकते हैं, सहारा देते हैं और स्वयं उठते हुए राष्ट्र को उठाते दृष्टिगोचर होते हैं। एक बार यदि बना बनाया व्यूह उद्ध्वस्त हो जाता है तो वे निराश होकर हटना नहीं जानते, प्रत्युत नये सिरे से नव-व्यूह की रचना में प्रवृत्त हो जाते हैं।

फलतः प्रतिक्रिया यदि होती है तो क्षणिक होती है और तात्कालिक असफलता शक्ति-वृद्धि तथा नव-स्फूर्ति का कारण हो जाती है। सन् १९३४ में उन्होंने सत्याग्रह स्थगित कर दिया और देश का ध्यान रचनात्मक कार्य की ओर लगाया। हरिजन-सुधार और ग्रामोद्योगों के पुनरुज्जीवन की धारा बहा दी। धीरे धीरे देश का ध्यान उधर आकृष्ट होने लगा। केंद्रीय व्यवस्थापक सभा के निर्वाचन में कांग्रेस को भाग लेने का अधिकार प्रदान करके निर्वाचन के बहाने देश के कोने कोने में कांग्रेस का संदेश पहुँचाने का मार्ग ढूँढ़ निकाला। इसी समय कांग्रेस की राजनीति में एक नयी धारा ने भी प्रवेश किया। देश की विफलता के कारण कुछ लोगों में आत्म-समीक्षा की भावना का जागरित होना स्वाभाविक था। देश ने अपूर्व त्याग किया था, गहरा संघर्ष भी किया था, फिर भी उसे यदि सफलता न मिली तो उसका कुछ कारण अवश्य होगा। कहीं त्रुटि होगी, कुछ दुर्बलता होगी जिसके फलस्वरूप कार्य-सिद्धि न हो सकी। इन भावों का प्रजनन हुआ तो हृदय-मंथन आरंभ हुआ जिसके फलस्वरूप कुछ

नये विचार और नयी दृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। विचार और उस दृष्टि की अभिव्यक्ति एक ओर कांग्रेस समाजवादी दल तथा दूसरी ओर पंडित जवाहरलालजी के रूप में हुई। कांग्रेस की राजनीति में जवाहरलालजी की एक विशेष देन है। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम को, जिसके वे प्रबलतम स्तंभ रहे हैं, प्रारंभ से ही उस विश्वव्यापी साम्राज्यवाद-विरोधी युद्ध का प्रमुख अंग बनाने की चेष्टा की है जिसका प्रजनन गत युद्ध के बाद समस्त जगत् में हो गया था। जवाहरलाल उज्ज्वल आदर्शवादी, तेजस्वी सेना-नायक, प्रकांड तपस्वी तथा कट्टर राष्ट्रवादी हैं। उन पर गांधीजी के व्यक्तित्व, उनके चरित्र और उनके विचारों का गहरा प्रभाव है। यह सब होते हुए भी उनकी राष्ट्रीयता संकीर्ण नहीं है। उनकी दृष्टि में भारत की स्वतंत्रता का प्रश्न अति महत्वपूर्ण है परंतु वह दृष्टि केवल भारतीय सीमा में आबद्ध नहीं रहती। वे अपनी आँख उठाते हैं तो भारतीय अंतरिक्ष के उस पार तक देखते हैं और सारी वसुधा का चित्र उनके संमुख उपस्थित हो जाता है। उनकी दृष्टि से यह बात छिपी न रही कि वर्तमान युग में जगती की गोद में एक वह प्रगतिशील धारा बही है जो विश्वव्यापी साम्राज्यवादिनी मनोवृत्ति, व्यवस्था और आदर्श से टकरा रही है। जगत् की वे समस्त दलित और शोषित जातियाँ जिनका निवास एशिया, आफ्रिका तथा यूरोप में भी है एक ही रोग से रुग्ण हैं। वे सभी शोषण और पराधीनता के कुचक्र में फँसकर अपनी मुक्ति के लिए यत्नशील हैं। उनकी कल्पनाशील बुद्धि ने यह देख लिया कि भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम को जगद्व्यापिनी इस महती धारा का एक अंग बनना है। भारत की समस्या विश्व की समस्या का ही एक अंग है और उसका अंग बनकर ही वह अपना समुचित कल्याण कर सकता है। अपनी इस दृष्टि से

वे भारत की राजनीति को आरंभ से ही प्रभावित करते रहे हैं। सन् १९२७ ईसवी में ब्रुसेल्स में साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिए जो 'अन्तर्राष्ट्रीय संमेलन' हुआ था उसमें भारत को भाग लेने के लिए जवाहरलालजी ने प्रेरित किया। गौहाटी की कांग्रेस ने उक्त संमेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए उन्हें ही निर्वाचित कर दिया। जवाहरलालजी के ही प्रयत्न से 'साम्राज्यवाद विरोधी संघ' (लीग अगेंस्टट इंपीरियलिज्म) नामक अंतर्राष्ट्रीय संघटन से सहयोग करने का निश्चय सन् १९२७ में मद्रास कांग्रेस के अधिवेशन में किया गया। उसी समय उन्हीं की चेष्टा के फलस्वरूप कांग्रेस ने यह घोषणा की कि भारत जगत् के साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में सहयोग करने के लिए उत्सुक है और ऐसे किसी युद्ध में कोई सहायता करने के लिए तैयार नहीं है जिसका लक्ष्य साम्राज्य का विस्तार करना तथा दूसरे देशों की स्वतंत्रता अपहृत करना हो। भारत के निकटवर्त्ती प्रदेशों से प्रेम और सहयोग प्रदर्शन भी किया गया और चीन को उसकी क्रान्ति में सफल होने पर बधाई भी दी गयी। फारस, मिश्र, अरब, रूस आदि देशों से सहानुभूति और स्वातंत्र्य-संघर्ष में उनके प्रति भारतीय राष्ट्र की सहानुभूति का प्रदर्शन कांग्रेस बराबर करती रही।

भारतीय राजनीति को इस प्रकार व्यापकता प्रदान करके जवाहरलालजी ने इस देश का स्थान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में बहुत ऊँचा उठा दिया था। सन् १९३० ईसवी के बाद यह धारा अधिक बलवती होती गयी। जगत् में ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हुईं जिन्होंने उसे उत्तरोत्तर परिपुष्ट किया। सन् १९२९ ईसवी में संसार व्यापक मंदी से तबाह हो रहा था। कोई देश न था, धरती का कोई कोना न था जो उससे प्रभावित और त्रस्त न हुआ हो। पृथ्वी का आर्थिक और राजनीतिक तथा सामाजिक संघटन विचूर्ण होता दिखाई दे रहा था।

मंदी की यह विभीषिका परिणाम था उस पूंजीवादी साम्राज्यवाद और उसकी अनर्थमूलक व्यवस्था का, जिसका नग्नतांडव युद्ध के बाद जगत् की छाती पर आरंभ हो गया था। इस स्थिति की प्रतिक्रिया सारे विश्व में विभिन्न प्रकार से हो रही थी। जगत् में एक धारा तो उस प्रतिक्रियावाद के रूप में प्रकट हुई जो यूरोप में अधिनायकवाद और नाजीवाद में मूर्त हुई। दूसरी धारा वह थी जिसका प्रतिनिधित्व रूस का रहा था। समस्त संसार में रूस और उसकी समाजवादी व्यवस्था ही एक अनन्य उदाहरण था जो उस समय जब जगत् मंदी की आग में जल रहा था और जब उसका सारा का सारा आर्थिक और राजनीतिक संघटन चूर होता दिखाई दे रहा था वह उससे न केवल मुक्त था प्रत्युत अपनी सफलता से जगत् को चकित कर रहा था। यह स्वभावतः और अनिवार्यतः आवश्यक था कि जगत् का ध्यान रूस की ओर आकृष्ट होता। भारत तो विशेष रूप से आकृष्ट हुआ क्योंकि उसके समान साम्राज्यवाद से त्रस्त दूसरा कौन प्रदेश था? रूस की सफल क्रान्ति, प्रचंड और दुर्दमनीय साम्राजवादी लुटेरों का दाँत खट्टा करने में उसकी सफलता, शोषण और पराधीनता के लोप की समर्थिका उसकी विचारधारा ने सहज ही उसे जगत् की दलित और शोषित जातियाँ का नेतृत्व प्रदान कर दिया था। आज वह प्रगतिशीलता का प्रतीक, मानव समाज की स्वतंत्रता और उसके अधिकारों का उद्दाम परिपोषक तथा नये विश्व की रचना का संकेत हो गया था भारत जो अपनी स्वतंत्रता के संघर्ष में रत था, जो अपने राष्ट्र के नव निर्माण का आकांक्षी था और जो अन्तर्राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम का अंग धीरे धीरे बनता जा रहा था, तथा जो भावी विश्व की व्यवस्था में भाग लेने का अभिलाषी था, आज सहज ही उसकी ओर आकृष्ट हुआ। यह आकर्षण और तीव्र हो उठा क्योंकि भारत की परिस्थिति

हृदय-मंथन और आत्म-समीक्षा के भाव का संयम करने में समर्थ हुई थी। देश प्रचंड संघर्ष के बाद आज अपने को विफल पा रहा था। फलतः कुछ लोगों में यह विचार उठने लगे थे कि भारत को कुछ नये तत्वों की आवश्यकता है जिनके अभाव में ही उसकी दुर्बलता है। रूस को, उस रूस को जो सफल हुआ था, और जो आज अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का नेता बन चला था, सामने पा करके वे उधर आकृष्ट हुए। मार्क्सवादी विचारों ने, मार्क्सवादी पथ और प्रक्रिया ने उन्हें प्रभावित किया और फलस्वरूप कांग्रेस में मार्म्सवादी धारा ने प्रवेश किया। कांग्रेस समाजवादी दल का संघटन इसी का परिणाम था।

इस देश में मार्क्सवादी विचारों के उदय का यह पहला अवसर नहीं था। इसके प्रायः एक दशक पूर्व ही भारत में मार्क्सवाद का अंकुर जम चुका था। रूस की क्रान्ति के बाद जब लेनिन ने 'तृतीय इंटर नेशनल' की स्थापना की तो उसकी विश्व-विद्रोह की कल्पना ने जगत् के अन्य देशों में 'कम्यूनिस्ट पार्टियों' के संघटन का प्रयत्न आरंभ कर दिया था। भारत में भी तदनुकूल कम्यूनिस्ट विचार-धारा प्रवाहित हो चुकी थी जो गुप्त रूप से मजदूरों और युवकों में अपना काम कर रही थी। बंगाल, बंबई, पंजाब, युक्तप्रांत में इसका कार्य चल रहा था। बंबई और बंगाल के मजदूरों में मार्क्सवादी विचारों का प्रसार हो रहा था और मजदूर-संघटन उसके आधार पर बन रहे थे। सन् १९२९ ईसवी में सरकार ने उक्त प्रांतों में कम्यूनिस्ट तथा मजदूर कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार भी किया जिसके फलस्वरूप प्रसिद्ध मेरठ षड्यंत्र का मुकदमा चला। यह होते हुए भी वह कांग्रेस के लिए विजातीय थी क्योंकि ऊपर से नीचे तक उसमें विजातीयता ही भरी हुई थी। विभिन्न देशों की कम्यूनिस्ट पार्टियाँ 'तृतीय इंटरनेशनल', जो 'कोमिन्टर्न' के नाम से विख्यात था, अधीन थीं। विख्यात था, यह इसलिये लिखा गया कि इस युद्ध

काल में स्टालिन ने उक्त संस्था को विघटित कर दिया। 'कोमिन्टर्न' के अधीन, उसके आदेश तथा उसके कार्यक्रम से चलनेवाली कम्यूनिस्ट-पार्टियाँ वस्तुतः उक्त विदेशी संस्था की शाखा, उसकी एजेन्सी तथा चेरी होती हैं। भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी का तो पहले सीधा संबंध भी 'कोमिन्टर्न' से न था। वह अधीन थी ब्रिटेन की कम्यूनिस्ट पार्टी से जो स्वयं 'कोमिन्टर्न' से संबद्ध तथा अधीन थी। चेरी की उपचेरी यह संस्था विदेशी अंजलि से जल ग्रहण करती, उसके संकेत पर नाचती, उसकी आशाओं का परिपालन करती, उसकी नीति को कार्य रूप में परिणत करती और उसीका प्रचार तथा गुण-गान करती। उसे मतलब न था राष्ट्र की जीवन-धारा से, राष्ट्रीय रुचि, परिस्थिति, आवश्यकता, प्रतिभा, धारणा और इतिहास से। यह पार्टी इतना भी नहीं सोच सकती थी कि जो संस्था सहस्रों मील दूरी पर स्थित है, जो देश विदेश की अवस्था और आवश्यकता से सर्वथा और सर्वांश में अपरिचित थी, और जिसकी दृष्टि में भारत का हित केवल इसलिए कि वह भारतीय हित था कोई महत्त्व नहीं रखता था, भारतीय क्रान्ति का संचालन करने में असंदिग्ध रूप से असमर्थ थी। केवल उसी के संकेत पर अपनी नीति का निर्धारण करना न बुद्धिमानी थी, और न भारत के लिए हितकर था। यह पद्धति स्वयं उन लोगों के लिए अशोभनीय थी जो वैज्ञानिक समाजवादी और क्रान्तिकारी होने का दम भरते थे। जीवन के क्षण-क्षण के परिवर्तन से, वास्तविकता से दूर रह कर किसी विदेशी और दूरस्थ संस्था के हाथों में अपने को बेंच देना उस खेद-जनक अंधानुगामिता और मूढ़ता का द्योतक है, जो कमसे कम उन लोगों में नहीं होनी चाहिये थी जो अपने को वस्तुस्थिति और परिस्थिति का उपासक कहते हैं। इसके सिवा 'कोमिन्टर्न' पर रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी का अधिकार और अक्षुण्ण प्रभाव होना अनिवार्य था।

फलतः उसकी सारी दृष्टि, नीति और योजना का रूस के हित में परिचालित होना भी आवश्यक था, रूस के हित में भी नहीं प्रत्युत रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी के उस वर्ग के हित में जो पार्टी पर अपनी प्रभुता स्थापित करने में समर्थ हुआ था। इतिहास सिद्ध करता है कि लेनिन की मृत्यु के बाद स्टालिन और ट्राटस्की तथा फिर स्टालिन और बुखारिन आदि कम्यूनिस्ट नेताओं में प्रभुता प्राप्ति के लिए जो संघर्ष हुए उनमें स्टालिन दल सफल हुआ। इस सफलता की प्राप्ति के लिए और इस दल के हित में 'कोमिन्टर्न' का उपयोग किया गया। उनकी नीति का निर्धारण इस प्रकार किया जाता कि उससे स्टालिन दल का हित हो और वह अपने विरोधियों और प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त कर सकें। धीरे धीरे विश्व-विद्रोह की सारी कल्पना स्टालिन दल की प्रभुता की स्थापना में रह गयी मानो विश्व-विद्रोह की पूर्ति का अर्थ केवल इतना ही है।

रूस की बोलशेविक पार्टी के घरेलू झगड़ों तथा रूस के हित-संपादन की योजना का निमित्त बना 'कोमिन्टर्न' स्वभावतः दल विशेष के अनुकूल नीति निर्धारण करने को बाध्य होता और वही नीति कम्यूनिस्ट पार्टियों के लिए 'तृतीय इंटरनेशनल' का फरमान हो जाता। विभिन्न देशों की स्थिति की अपेक्षा क्या है, आदिष्ट नीति उसके अथवा वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी के हित के अनुकूल है अथवा नहीं, इसकी भी चिंता न की जाती। इसका परिणाम जो हुआ है वह जगत् की कम्यूनिस्ट पार्टियों और विश्व के वाम-पक्षीय आंदोलन तथा उनकी नीति के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है। कम्यूनिस्ट न मानेंगे, पर निष्पक्षदर्शी इतिहास का विद्यार्थी देख सकता है कि उक्त 'अँधेर खाते' ने न केवल देश विशेषों की हानि की है प्रत्युत जगत् के प्रगत्यात्मक संघर्ष पर विघातक प्रभाव डाला है। संप्रति कम्यूनिस्ट पार्टी की गति

विधि का इतिहास लिखना मेरा लक्ष्य नहीं है, पर इतना कहना आवश्यक है कि इस नीति के कारण भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी उस समय अर्थात् सन् १९३० और १९३२ में राष्ट्रीय धारा से सर्वथा पृथक् थी। वास्तव में उस समय रूस में बुखारिन आदि नेताओं को दक्षिण-पक्षी कहकर मिटाने की चेष्टा हो रही थी और तदनुकूल जगत् की कम्यूनिस्ट पार्टियों को यह आदेश था कि वे प्रगतिशील दक्षिण पक्ष को उन पूंजीवादी, प्रतिक्रियावादी उच्च वर्गों से अधिक भयावना समझें जो प्रगतिशीलता के कारण जनवर्ग पर अपना नेतृत्व स्थापित करने में सफल होते हैं। फलतः उन राष्ट्रीय क्रान्तियों का, जिन्हें मार्क्सवादी भाषा में "बुर्जुह्वा डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन" कहा जाता है विरोध करना, और उन्हें असफल बनाना कम्यूनिष्ट पार्टियों की नीति थी। इसी के अनुकूल भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी न केवल महान् भारतीय स्वातंत्र्य संघर्ष से अलग रही प्रत्युत उसके मार्ग का अवरोधन करने के लिए, उसके सैनिकों में बुद्धि-भेद फैलाने के लिए भी प्रयत्नशील रही। आदरणीय नेता पूँजीवादियों के एजेन्ट कहे जाते, गांधीजी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पिछलग्गू घोषित किये जाते, राष्ट्रीय पताका फाड़ फेंकी जाती, राष्ट्रीय गान का उपहास किया जाता और साधारणतः सभाओं तथा जुलूसों में जहाँ कम्यूनिस्ट पहुँच जाते, लाल झंडे को राष्ट्रीय पताका से आगे प्रमुख स्थान देने के लिए झगड़ते और 'राष्ट्रीय नारों' की ध्वनि का मखौल उड़ाते और अपने नारे लगाते। वे जान-बूझकर कांग्रेस के नेतृत्व में संचालित आंदोलन से न केवल अलग थे प्रत्युत कांग्रेस का भी उन्होंने बहिष्कार-सा कर रखा था।

स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में उनकी विचार-धारा और उनके दल का कोई प्रभाव कांग्रेस पर नहीं हो सकता था। पर समय आया कि कांग्रेस समाजवादी दल के नाम से कांग्रेस में मार्क्सवादी दृष्टि ने

और उसका एकमात्र उपाय यह है कि वर्ग-मूलक आधार पर चलने-वाले दिन प्रतिदिन के उनके संघर्ष को राष्ट्रीय संघर्ष के साथ जोड़ दिया जाय। ये नये विचार कांग्रेस में उत्पन्न हुए क्योंकि राष्ट्रीय संघर्ष की तात्कालिक विफलता ने कुछ लोगों को अपनी गति-विधि की ओर देखने के लिए बाध्य किया था। आज ऐसे लोग यह अनुभव कर रहे थे कि भारतीय आंदोलन को और अधिक व्यापक बनाना है, उसमें और अधिक बल भरना है तथा नये तत्वों को प्रविष्ट करके उसे उज्जीवित करना है। रूस का इतिहास और जगत् में बहता समाजवादी विचार उनके सामने था। वे उससे प्रभावित हुए और यह कल्पना लेकर सामने आये कि राष्ट्रीय आंदोलन को सुदृढ़ और बलवान् बनाना है तो उसका कार्यक्रम शोषित जनवर्ग के वर्गहितों को स्पष्टतः समाविष्ट करके ही बनाना चाहिये क्योंकि उसी स्थिति में उनका संपूर्ण सहयोग संभव है।

कांग्रेस समाजवादी दल की दृष्टि और उसके विचारों तथा उसकी पद्धति के गुणदोष की विवेचना करना यहाँ संभव नहीं है। भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता के इतिहास की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए उसका उल्लेख करना अनिवार्य था। यह कहना आवश्यक है कि मार्क्सवाद की दृष्टि से गांधीजी की दृष्टि मूलतः भिन्न है। फलतः मार्क्सवाद को आधार बनाकर जो विचार और पद्धति मूर्त हुई उसका गांधीजी के दृष्टिकोण से भिन्न होना स्वाभाविक था। यह सच है कि मार्क्सवाद के आदर्श और गांधीवाद के आदर्श में कोई प्रकृत अन्तर नहीं है। गांधी जगत् में ऐसे समाज और ऐसी व्यवस्था का आकांक्षी है जिसमें प्रत्येक वर्ग का अकुंठित विकास हो पर वर्ग-हितों का सामंजस्य इस प्रकार स्थापित हो कि वर्ग भेद न रहे, वर्गमूलक शोषण और प्रभुता का अंत हो गया हो. हिंसा और दलन न हो। मार्क्सवाद भी वर्गहीन समाज को ही

अपना चरम लक्ष्य मानता है। पर आदर्श एक होते हुए भी जीवन और जगत् तथा इतिहास की ओर देखने की दोनों की दृष्टि अपनी-अपनी है जो मूलतः, स्वरूपतः और प्रकृत्या बिलकुल भिन्न है। परिणाम स्वरूप आदर्श तक पहुँचने का दोनों का पथ और दोनों की पद्धति भी बिलकुल भिन्न है। गांधी की विचार-धारा में व्यक्तिवाद और समाजवाद का समन्वय हुआ है और यह समन्वय तभी संभव है जब उसका आधार अध्यात्मवाद हो। जो विचार धारा अध्यात्मवाद के स्रोत से प्रवाहित होगी उसकी गति और ध्वनि सर्वथा उससे भिन्न होगी जो विशुद्ध भौतिकवाद से प्रभावित और प्रसूत हो। गांधी पर उस भारत का संस्कार है और वह उन तत्त्वों से निर्मित हुआ है जो युग युग से अध्यात्म के रंग में रँगा जाता रहा है। मार्क्स पर यूरोप का संस्कार है और वे उन तत्त्वों से निर्मित हुए थे जिनके द्वारा यूरोप महती भौतिकवादिनी संस्कृति को जन्म देने में समर्थ हुआ। फिर भी भारत सभी वाद-विवादों की ओर उदारता से देख सकता है, उन्हें बुद्धि और विवेचना की कसौटी पर कस सकता है, उनसे लाभ उठा सकता है पर उसके जीवन की रचना तथा निर्माण का पथ मूलतः उन्हीं प्रेरणाओं से अनुप्राणित होगा जिनका विकास सहस्राब्दियों के इतिहास और उनकी परंपरा के द्वारा हुआ है। बाह्य तत्त्वों को भी यदि पचाना है तो इसी भाँति उन्हें पचाना होगा।

कांग्रेस समाजवादी दल की दृष्टि यद्यपि नयी थी और बाह्य का प्रभाव भी उस पर स्पष्ट था फिर भी उसने अपने को राष्ट्रीय धारा से पृथक् नहीं किया। कांग्रेस में उसके उदय से भले ही कुछ मतभेद और कुछ बुद्धिभेद उत्पन्न हुआ हो पर यह मानना होगा कि राष्ट्रीय जीवन का अंग बने रहकर उसने कांग्रेस की राजनीति को कुछ व्यापक और उसके फलस्वरूप कुछ उज्जीवित करने में अवश्य सफलता प्राप्त की।

विभिन्न दृष्टियों और प्रवाहों को मिलाये रखकर सबको एकही धारा में संयोजित कर देने में गांधीजी का व्यक्तित्व और उनकी विशेषता सबसे बड़ा कारण था। गांधीजी अपनी मूल-भूत भित्ति पर रहकर भी कट्टर नहीं हैं। वे ग्रहण-शील व्यक्ति हैं,अतः परिस्थितियों का प्रभाव ग्रहण करते हैं। सत्य का पुजारी अपने अंतर-कपाट को कभी बंद नहीं किया करता। हृदय के वातायन को बंद करके सत्य की आलोकमयी रश्मियों के प्रकाश का भीतर प्रवेश करना वही रोकता है जो गति-हीन असत्य का पुजारी हो। यही अंध कट्टरता है जो जीवन को भी जड़ता प्रदान कर देती है। गांधी सजीव है क्योंकि सत्य का पुजारी है। सजीवता गति में अभिव्यक्त होती है और गति विकासशीलता का परिचायक होती है। फलतः गांधी विकास-शील है। वह प्रतिक्षण निर्मित होता चलता है और बढ़ता तथा विशाल होता जाता है। उसके जीवन में आप सदा इस विशेषता को पायेंगे। उसके विचार, उसकी धारणाएँ, उसकी दृष्टि, उसकी पद्धतियाँ किसी भौतिक तथ्य के अनुकूल रहते हुए भी समय और परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित, परिवर्धित और संशोधित होती गयी हैं। उस जराग्रस्त पिंजर में प्रतिष्ठित बुद्धि और स्वभाव की यह लचक अब तक बनी हुई है। फलतः भिन्न रुचि और दृष्टियों में से भी वे सद्भावों को खोज निकालते हैं, अपने से यथासंभव उसका सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं, परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन भी कर लेते हैं और इस प्रकार सभी तत्त्वों को एक बिन्दु की ओर आकृष्ट किये रखने में समर्थ होते हैं। कांग्रेस समाजवादी दल उत्पन्न हुआ पर वह कांग्रेस का ही अंग था। शान्तिमय उपायों से स्वराज्य प्राप्ति उसका लक्ष्य था, राष्ट्रीय संस्था में एक वाम-पक्ष का अभिनय करते हुए भी उसके नेतृत्व और उसकी पताका, उसके साध्य और साधन के अधीन और अनुकूल कार्य करता रहा।

इस प्रकार सन् १९३४ की विफलता देश में निष्क्रियता और अधः-पतन का सर्जन करने में दूर तक सफल न हुई। रचनात्मक कार्य-क्रम, गांधीजी का व्यक्तित्व, परिस्थिति के अनुकूल व्यूह बदलने में उनकी क्षमता, कांग्रेस में कुछ नये भावों का उदय, उसके प्रभाव से कार्य-क्रम का कुछ अधिक व्यापक होना देश की जनता में, मजदूर, किसान, निम्न मध्यम श्रेणी, विद्यार्थी और युवक समाज में उसका अधिकाधिक प्रवेश तथा उनका अधिकाधिक संपर्क राष्ट्र की राजनीति को सजीव बनाये रखने में समर्थ हुआ। नयी प्रवृत्तियों का प्रभाव उस पर पड़ रहा था, इसका प्रमाण सन् १९३५ की लखनऊ की कांग्रेस थी जिसकी अध्य-क्षता का छत्र पंडित जवाहरलालजी ने धारण किया। निकट भविष्य में और बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत का महान् राष्ट्रीय आंदोलन विफल नहीं हुआ था प्रत्युत विफल हुआ सरकार का भीषण दमन, जिसका आश्रय लेकर वह यह समझ रही थी कि भारत दशकों के लिए कुचल डाला गया। सन् १९३६ ईसवी में भारत शासन-विधान, जिसके निर्माण की घोषणा हो चुकी थी, देश में लागू कर दिया गया। उक्त विधान के अनुसार देश भर में प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं का निर्वाचन सन् १९३७ के आरंभ में हुआ। कांग्रेस ने चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया और उसके द्वारा जन-संपर्क में, सुदूर गाँवों और किसानों की झोपड़ियों तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की। यह निर्वाचन भारत की वास्तविक दशा पर प्रकाश डालने वाला आलोक सिद्ध हुआ। किसी ने यह सोचा न था कि देश की जनता के हृदय पर कांग्रेस और गांधीजी का ऐसा अक्षुण्ण प्रभाव है। वायसराय से लेकर चौकीदार तक, जितने भी सरकारी अधिकारी और अमले थे, यही समझ रहे थे कि कांग्रेस का मूलोच्छेद हो चुका है। बड़े बड़े राजे-महराजे, तालुकेदार, जमींदार, सामन्त और सरदार, पूँजीपति और महाजन, धर्मधुरीण बने

मौलवी और पंडित, अब तक इस मोह-निद्रा में पड़े हुए थे कि भारतीय समाज की चोटी पहले की भाँति अब भी उन्हीं के हाथों में है। उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी कि उनके चरणों के नीचे की धरती खिसक चुकी है और उनका ऐश्वर्य-स्तूप निराधार और पोला हो चुका है। निर्वाचन हुआ और शासन-सत्ता, स्थिर-स्वार्थी समाज, शासक समूह, सभी उस दिन हतप्रभ और स्तब्ध हो गये जिस दिन प्रांतों में उसका परिणाम प्रकट हुआ। उन्होंने देखा कि वे मदमत्त निद्रा में पड़े हुए थे और दुनिया इधर बदल रही थी जिसकी सूचना भी उन्हें नहीं मिली। कल तक वे अपने को समाज के शिखर पर समझते थे और आज अपने को उन्होंने गह्वर में पाया। देश की अपार जनता, शोषित और दलित जनता उस गरीब, खद्दरधारी, गांधी टोपीवाले व्यक्ति के पीछे थी जो कांग्रेस का छोटा-सा किन्तु दृढ़व्रती सैनिक था। ये ही सैनिक कल हाथ में झोला लटकाये और अपनी जेबों में कांग्रेस के परचे लेकर दर दर भटक रहे थे और उनपर उपहास तथा तिरस्कार-पूर्ण दृष्टि डालनेवाले श्रीमन्त मीलों की यात्रा मिनटों में तय करनेवाली मोटरों और विशालकाय हाथियों पर गश्त करते दिखाई दे रहे थे। आज वही सैनिक दर्शनीय था क्योंकि सहस्रों नर-नारियों के कंठ से यही आवाज आ रही थी कि वह हमारा प्रतिनिधि है। बड़े बाबुओं की मोटर, उनका धन-भंडार, उनकी क्रोध-पूर्ण भ्रुकुटियाँ, उनकी धमकियाँ, उनका रोब, उन गाँववालों को अपने पथ से विरत न कर सका जिन्हें वे संकेत मात्र पर नचाने की आशा करते थे। सरकारी कर्मचारियों की श्रृंखला उनकी सहायता कर रही थी। जात-पाँत, बड़ाई-छोटाई, रुपये-पैसे, सब काम में लाये गये, धर्म की आड़ ली गयी, कांग्रेस वाले विधर्मी, हिन्दू-हित के विरोधी, दुष्ट और पतित बखाने गये, पर सब व्यर्थ। देश के लाखों मतदाताओं ने आकाश में उड़ती तिरंगी पताका के सामने मस्तक झुकाया और संकेत

किया कि उनके हृदय, जीवन और आकांक्षा का प्रतिनिधित्व वही कर रही है, उसकी छाया में उनका हित सुरक्षित है। वास्तव में यह निर्वाचन केवल निर्वाचन ही न था, प्रत्युत राष्ट्रीय जागर्ति और लोक-चेतना का प्रतीक था। वह विश्वास प्रदर्शन था भारतीय जनता का कांग्रेस के प्रति और प्रमाण था इस बात का कि देश के हृदय पर वास्तविक शासन शस्त्र के बल पर टिके रहनेवाले प्रभुओं का नहीं किन्तु उस संस्था का है जो आज उस व्यक्ति के नेतृत्व में हैं जिसे जन-समाज अपनी आत्मा की प्रतिध्वनि समझता है।

भारतीय शासन-विधान का नया स्वरूप देश की आकांक्षा का स्पर्श दूर से भी नहीं कर सकता था। कांग्रेस ब्रिटिश सत्ता को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने का निर्णय कर चुकी थी। भला उसे यह विधान कब ग्राह्य हो सकता था? पर आज स्वातंत्र्य संग्राम के व्यूह को बदलना आवश्यक था। आवश्यक था जन-संपर्क में अधिकाधिक आने के प्रत्येक मार्ग का अवलंबन ग्रहण करना और सगर्व ब्रिटिश शक्ति को यह दिखा देना कि देश मरा नहीं है और कांग्रेस उस संघर्ष के द्वारा सबल हुई है जिसमें ब्रिटिश सरकार अपने को सफल हुआ समझती है। आज वह आँखें खोल कर देख ले कि देश की धरती में संगीनों की नोक भोंक कर वह कुछ दिनों तक भले ही टिकी रह जाय पर जन-समाज के हृदय से उसकी सत्ता मिट चुकी है। भारत का आदर्श, उसका संकल्प, उसकी आकांक्षा, उसकी आशा, उसका हृदय, आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक सुदृढ़ था। दमन की भयावनी आग में तप कर उपर्युक्त सभी भावनाएँ और अधिक शुद्ध तथा परिपुष्ट होकर निखर आयी थीं। दूसरी ओर ब्रिटिश सत्ता थी जिसका रोष, जिसकी प्रतिष्ठा, जिसका अधिकार और जिसका भय भारतीय जन-समाज के अंतर से मिट चुका था। दमन के आघात ने देश के हृदय

में उसके प्रति वह घृणा और प्रतिरोध की वह उद्दाम शक्ति तथा इच्छा उद्दीप्त कर दी थी जो आज के पूर्व कभी उद्भूत नहीं हुई थी। अब विचार कर लीजिये कि वास्तव में पराजय किसकी हुई थी? पैर किसके उखड़े और भविष्य किसका आपद्-ग्रस्त हुआ? स्वतंत्रता संग्राम यदि अविकल और अविच्छिन्न रूप से गतिशील रहा, तो तात्कालिक और क्षणिक विफलता की चिंता कहाँ रही? यदि राष्ट्र ने युद्ध का एक व्यूह बदलकर दूसरा ग्रहण किया तो उसे विफल कहने और समझनेवाले आत्म-वंचक हैं। निर्वाचन ने आज इन तमाम बातों को स्पष्ट कर दिया। फिर तो कांग्रेस ने आठ-आठ प्रांतों का शासन-सूत्र ग्रहण किया। गांधीजी ने बाध्य किया ब्रिटिश सरकार को कि वह मंत्रि-मंडलों के दिन प्रतिदिन के कार्य तथा उनकी नीति में हस्तक्षेप न करने के लिए वचन दे। ढाई वर्षों तक कांग्रेसी सरकारें देश में शासन करती रहीं। दो सौ वर्षों के इतिहास में यह पहला अवसर था जब भारत में भारतीय जनता के हाथों में अपने प्रबंध का सूत्र था। मंत्रि-मंडलों के अधिकार परिसीम थे, उन पर संरक्षणों के नाम से बंधन थे, भारत-शासन-विधान का निर्माण करनेवालों ने विधान का ऐसा निर्माण किया था कि मूलाधिकार ब्रिटिश पार्लमेंट के हाथों में ही सुरक्षित रहे। मानव-बुद्धि शब्द-जालों की रचना करके किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को छिपाने में जितनी दूर तक जा सकती थी उतनी दूर तक भारतीय-विधान की रचना करने में गयी हुई थी। यह सब होते हुए भी कांग्रेसी सरकारों ने वह वातावरण देश में उत्पन्न किया जिसकी गंध भी भारत की विताड़ित जनता ने शताब्दियों से नहीं पायी थी। वायु-मंडल में स्वतंत्रता का स्पंदन था, स्वाभिमान का सौरभ था, राष्ट्रीयता का राग था, आत्मोत्थान का आलोक था और उत्तरदायित्व का उल्लास तथा अधिकार की अनुभूति थी। देश को उपलब्ध इस

उचित अवसर ने भी जन-शक्ति की वृद्धि की, कांग्रेस की शक्ति बढ़ायी राष्ट्र में आत्म-विश्वास की अभूतपूर्व भावना भर दी।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने जिस अभिनंदनीय कार्य-क्षमता, प्रशंसनीय योग्यता और उन्नत चरित्र तथा निःस्वार्थ सेवा भाव का परिचय दिया उससे भारत और कांग्रेस का मस्तक ऊँचा हुआ। उनकी प्रशंसा करते हुए उनकी त्रुटियों के प्रति आँख मूँद लेने की इच्छा मुझे नहीं है। मेरी धारणा है कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल तथा साधारणतः कांग्रेस संघटन ने वह कल्पनाशीलता, दूरदर्शिता, परिस्थितियों की गति-विधि का ज्ञान, भविष्य के आवरित क्षेत्र में प्रवेश करने की वह शक्ति नहीं दिखायी जिसकी आशा उनसे की जा सकती थी। परिणामतः उपलब्ध अवसर से वे वह लाभ उठा न सके जो उठाया जा सकता था। यदि वे आत्म-विस्मृत नहीं थे तो आगत की पद-ध्वनि का श्रवण करने में भी समर्थ न थे। यही कारण है कि वे भविष्य के स्वरूप की कल्पना करने और तदनुसार इस देश को तत्पर करने में प्राप्त अवसर से यथेष्ट और आवश्यक लाभ न उठा सके। वास्तव में कांग्रेसी सरकार की स्थापना महती ऐतिहासिक धारा की एक लहर मात्र थी जिसका क्षणिक होना और प्रचण्ड धारा में विलीन हो जाना अनिवार्य था। वसुधा के अन्तर्गर्भ में सुलगते ज्वालामुखी का फूटना अनिवार्य था और उसके परिणाम-स्वरूप स्थापित बाह्य व्यवस्था का समूल विकम्पन तथा उत्पाटन भी अटल था। विश्व के इतिहास का वह क्षण उत्तरोत्तर निकट आता जा रहा था जब उसे प्रलयंकरी अग्नि में बलात् प्रवेश करना था। वह मुहूर्त अमिट था जब वर्तमान का भस्मीकरण होता। वर्तमान में लिप्त रहनेवाले यदि इस भविष्य के स्वरूप की आभा न पा सके और अपने को उस स्थिति के योग्य न बना सके तो उसे उनकी भूल ही मानना पड़ेगा। यह सच है कि भावी का स्वरूपाभास प्राप्त करना साधारण बात नहीं होती पर

इसी कारण तो इस असाधारण कार्य की पूर्ति की आशा उनसे की जाती है जो परिस्थितियों के द्वारा असाधारण बोझ उठाने के लिए नियत कर दिये जाते हैं। फलतः कांग्रेसी सरकारें अपने दिन प्रतिदिन के कार्य में रत ही थीं कि परिस्थिति के एक झटके ने उन्हें झकझोर कर उखाड़ फेंका। भारत शासन-विधान ने उनके जीवन की अवधि पाँच वर्ष नियत कर दी थी पर उसका आधा भी नहीं बीत पाया था कि जगत् की नियति का विधान पृथ्वी पर घहरा उठा। एक दिन संसार ने देखा कि वह युद्ध की दुर्दान्त विभीषिका के कराल जबड़ों में पहुँच गया है। फिर तो वह उथल-पुथल मची कि सारा भूमण्डल कन्दुक की भाँति एक-एक पल में उलटता-पलटता दृष्टिगोचर होने लगा। जो था वह सब हिलता-डुलता और काँपता दिखाई पड़ा मानो भयावना भूकम्प समस्त धरित्री को जड़ सहित उछाले दे रहा हो। न वैभव, न प्रभुता, न सत्ता, न सीमा, न जीवन, न व्यवस्था, न वर्तमान, न अतीत, न धारणा, न भावना, न आदर्श, न पथ, किसी में भी स्थिरत्व और स्थितित्व न रहा। उदन्वदाकाश और दिग् दिगन्त तक इस विराट् विप्लव की ज्वाला लपलपाती दिखाई देने लगी। मही का नभच्छत्र जलती मानवता की चिता से रक्त-रंजित और रोमांचक हो उठा। आज किसी का मद चूर हुआ तो कल ऐश्वर्याधिपति रौंद दिये गये। बड़ी-बड़ी सत्ताओं की धज्जियाँ उड़ीं, गौरव धूल में मिले, प्रभुओं की शक्ति और शासकों के मुकुट भूसे की तरह उड़ते नजर आये। आज जो था वह कल मिटा, पर कल के साथ-साथ क्या मिटेगा इसकी कल्पना करने की सामर्थ्य किसी में न थी।

(१४)

वर्तमान युद्ध और भारत

आक्षितिज वसुंधरा को पत्ते की तरह दोलायमान करनेवाले इस प्रचंड झंझावात से क्या भारत अछूता बचा रह सकता था? उसके

विक्षुब्ध जीवन में ऐसी हलचल और हिलोर का आना अनिवार्य था जो एक बार अपनी लंबी भुजा में वर्तमान को समेटती और उदरस्थ करती दिखाई देती और इतिहास का ही यह विधान था कि गांधी एक बार पुनः भारतीय नभ-मंडल में इस तूफान की सजीव प्रतिमा बन कर आविर्भूत हो। जगत् की समस्याओं की ओर भारत की अपनी एक दृष्टि थी और अपना ही मत था। वह दृष्टि और वह मत वर्तमान का विरोधी था और आकांक्षी था ऐसे विश्व का जिसमें मनुष्य स्वतंत्र हो और दासता तथा दोहन से सर्वथा मुक्त हो। उसकी इस दृष्टि ने उसे संसार की उन प्रगतिशील शक्तियों और प्रवाहों का साथी बना दिया था जो जगत् की आधुनिक व्यवस्था को विच्छिन्न और विघटित करने के लिए यत्नशील थे। भारत का स्वातंत्र्य संग्राम उस विश्वव्यापी विद्रोह का ही एक अवयव था जो वसुधा की मुक्ति और स्वतंत्रता के लिए पृथ्वी के अनेक प्रदेशों में दशकों से निरंतर परिचालित था। विज्ञान ने जब सारी धरती को एक सूत्रता प्रदान कर दी थी और जब मनुष्य समाज परस्पर निकट तथा संपर्क में आ गया था उस समय यह अनिवार्य था कि भारत विश्व का दर्शन एक ही चित्र में करता और सबके साथ ही अपने स्थान की अनुभूति करता। मानव जाति के आधुनिक इतिहास में जब विश्व-साम्राज्य की कल्पना एक ओर उदीयमान हो सकती थी तो यह स्वयं सिद्ध था कि विश्व-विद्रोह और विश्व-स्वातंत्र्य की कल्पना भी व्यक्त होती। भारत विश्व-स्वातंत्र्य की धारा में ही अवगाहन कर रहा था। उसने अपनी स्वाधीनता के संघर्ष को संकीर्ण राष्ट्रीयता नहीं प्रत्युत व्यापक और उदार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सद्भाव के आधार पर स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। वह न केवल अपनी पराधीनता का अंत करने के लिए अग्रसर हुआ था वरन् धरती के कोने कोने की स्वतंत्रता के लिए उस साम्राज्यवाद का अंत चाहता था जो

हिंसा और शोषण पर तथा मानव समाज की परतंत्रता और पद-दलन पर प्रतिष्ठित था। आज जब विश्व में वर्तमान के विघटन का प्रवाह बह चला तो उसका मार्ग और स्थान असंदिग्ध रूप से निर्धारित हो गया। वह उन लोगों, उन तत्वों और उन शक्तियों का साथी और सह-पथिक होने के लिए उत्सुक और उत्कंठित था जो भावी जगत् की स्वतंत्रता के लिए जीवन आहूत करने को सन्नद्ध थीं। जो क्षण उपस्थित था उसकी राह यह देश वर्षों से देख रहा था। युद्धारंभ के दस वर्ष पूर्व ही, क्या मद्रास के कांग्रेस अधिवेशन में भारत ने अपना यह दृढ़ निश्चय प्रकट नहीं किया था कि वह किसी ऐसे युद्ध में सहयोग नहीं कर सकता जिसका लक्ष्य साम्राज्यवाद को परिपुष्ट करने तथा इसी देश की परतंत्रता को स्थायी बना देना हो? क्या भारत ने उसके बाद समय समय पर आक्रमणशीलता और स्वातंत्र्यापहरण की चेष्टाओं का खुला विरोध नहीं किया था? कौन था जिसने सर्वप्रथम मंचूरिया पर जापान के आक्रमण के विरुद्ध आवाज उठायी? किसने चीन पर जापान की सेना के चढ़ दौड़ने पर अपनी घृणा और अपना विरोध प्रदर्शन किया? किसने अबिसीनिया और अलबानिया की भूमि के इटालियन फासिस्टी सैनिकों के घृणित बूटों से रौंदे जाने पर गहरा क्षोभ प्रकट किया? वह कौन सा देश था जो स्पेन में लोकतंत्र की हत्या होते देख कर विकल हो उठा था? किसने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया का विनाश देखकर उन लोगों की घृणित नीति की तीव्र निंदा की थी जो स्वतंत्रता और लोकतंत्र का ढोंग रचते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय उद्दंडता और अराजकता के संमुख नाक रगड़ने में लज्जित नहीं हो रहे थे? वह भारत नहीं था जो जापानी सैन्यवादियों के हाथ अस्त्र-शस्त्र बेंच कर चीनियों की हत्या और निर्दलन के जघन्य कर्म में सहायक हो रहा था। भारत वह भी नहीं था जिसने आस्ट्रिया की स्वतंत्रता की रक्षा की घोषणा

बार बार करने पर भी उसका विनाश चुपचाप हो जाने दिया। भारत वह भी नहीं था जो म्यूनिख में एक ओर चेकोस्लोवाक प्रतिनिधियों को उनके देश की स्वतंत्रता का आश्वासन दे रहा था और दूसरी ओर दूसरे हाथ से उसकी मौत के परवाने पर हस्ताक्षर करा रहा था।

भारत वह था जो फासिस्टवाद और नाजीवाद, सैन्यवाद और साम्राज्यवाद, हिंसावाद और प्रभुतावाद का कट्टर शत्रु तथा नैसर्गिक विरोधी था। वह हिटलरी प्रवृत्ति और योजना का शत्रु था, तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद और साम्राज्यवादी धूर्तता का भी विनाश चाहता था। नाजीवाद यदि हिंसा का प्रतिपादक है, यदि वह विश्व की दासता का समर्थक है, यदि वह जातिगत श्रेष्ठता और विद्वेष का जनक है और यदि वह निरंकुश तथा स्वच्छंद शासन प्रणाली में विश्वास करता है तो साम्राज्यवाद में भी वही सब प्रवृत्तियाँ पूर्णतः विकसित हैं। साम्राज्य-वाद क्या है, इसे पूछिये आफ्रिका और एशिया की उन अभागी जातियों से जो आज उसके पैरों द्वारा कुचली गयी हैं। उक्त प्रश्न का उत्तर पूछिये उस भारत से जिसकी छाती पर हिंसा और दासता, जातिगत श्रेष्ठता और भेद की भावना तथा स्वच्छंद, उद्दंड, निरंकुश और सदर्प शासन-सत्ता का अदम्य नर्तन होता रहा है। भारत जानता है कि नाजीवाद और साम्राज्यवाद में नाम और रूप के भेद के साथ एक ही आत्मा प्रतिष्ठित है। उसे पता है कि ये दोनों समानार्थ-वाचक तथा सहोदर हैं। फलतः भारत साफ साफ कहता रहा है और उसे मैं पुनः यहाँ दोहरा देना चाहता हूँ कि हमारा राष्ट्र उपर्युक्त दोनों के समूल विनाश का आकांक्षी रहा है और तब तक रहेगा जब तक वे प्रवृत्तियाँ जगत् में छायी रहेंगी। ऐसे समय जब उसने भूमंडल में उस आंधी का आगमन होते देखा जो प्रस्तुत वर्तमान को झकझोरती दृष्टिगोचर हुई तो स्वभावतः उसने यह निश्चय कर लिया कि उसके

मूलोत्पाटन में उसे अपनी सारी शक्ति लगा देनी है। उसकी स्वतंत्रता, जगत् का उद्धार, मानव जाति का कल्याण जब इसी में संभव था तो भारत उक्त निश्चय क्यों न करता ? पर उसके इस मार्ग में बाधक थी वह ब्रिटिश सत्ता, जो शताब्दियों से उसके गले को दबाये बैठी हुई थी। आज भी ब्रिटेन की सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करते हुए भारत को रण-संलग्न राष्ट्र घोषित कर दिया था। उसका यह व्यवहार स्पष्टतः द्योतक था उस साम्राज्यवादी और प्रभुतावादी मनोवृत्ति का जिसके विरुद्ध भारतीय राष्ट्र वर्षों से संग्राम छेड़े हुए था। भारत से बिना पूछे और बिना उसकी स्वीकृति प्राप्त किये उसे युद्ध-लिप्त बना देना यह घोषणा करना था कि ब्रिटेन इस देश को अपना आधीन प्रदेश जैसे मानता रहा है वैसे ही आज भी मान रहा है। ब्रिटेन को कैसे यह अधिकार था कि वह बिना इस देश से पूछे उसे समराग्नि में फेक देता, भारत का कौन मित्र हो और कौन शत्रु, तथा भारत किससे मित्रता करे और किससे शत्रुता इसका निर्णय भी ब्रिटेन कर रहा था। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं था कि जर्मनी के विरुद्ध शस्त्र उठानेवाला ब्रिटेन, पोलैंड की स्वतंत्रता के लिए, लोकतंत्र और न्याय के लिए शस्त्र उठाने की घोषणा करने वाला ब्रिटेन वही ब्रिटेन है जो स्वयं परतंत्रता का जनक है और जिसने जगत् की पंचमांश जनता को अपनी सत्ता के अधीन पीसते जाने का निश्चय कर लिया है। इस स्थिति में भारत कैसे इस ऐतिहासिक अवसर पर अपने महान् लक्ष्य की पूर्ति में अपनी आहुति डालता, कैसे वह इस अपमान-जनक और भारत तथा जगत् के लिए हानिकारक स्वतंत्रता और न्याय का गला घोटने वाले व्यवहार को चुपचाप पी जाता ? भारत यदि ब्रिटिश जाति के संमुख सिर झुका देता तो अपने आदर्श के प्रति, मानवता के प्रति, स्वतंत्रता की उत्तम भावनाओं के प्रति विश्वासघात करता और

वह पाप करता जिसके लिए इतिहास उसे कभी क्षमा न करता।

फलतः युद्धारंभ होने के बाद भारतीय राष्ट्र की उत्कृष्ट और उन्नत भावनाओं की प्रतिनिधित्व करनेवाली कांग्रेस कार्यसमिति ने अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए घोषणा की कि "भारतीय राष्ट्र फासिटीवाद या नाजीवाद का शत्रु है क्योंकि वे उसी साम्राज्यवाद के पर्याय और समकक्ष हैं जिसके विरुद्ध भारत निरंतर संघर्ष करता रहा है। यदि आज यह युद्ध जगत् की सामान्य और स्थापित वर्तमान व्यवस्था की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है, यदि उसका लक्ष्य साम्राज्यवाद और साम्राज्यवादी अधीन प्रदेशों, स्थिर स्वार्थों, विशेषाधिकारों को ज्यों का ज्यों बनाये रखने के लिए हो रहा है तो भारत उसमें सहयोग प्रदान नहीं कर सकता। पर यदि युद्ध का लक्ष्य लोकतंत्र की स्थापना और ऐसे विश्व की रचना करना हो जिसका आधार जन-स्वतंत्रता हो तो भारत ऐसे युद्ध में सहर्ष और उत्सुकतापूर्वक न केवल भाग लेना चाहता है प्रत्युत उसमें उसकी गहरी दिलचस्पी है। कांग्रेस कार्यसमिति की यह निश्चित धारणा है कि भारत की स्वतंत्रता और भारतीय लोकतंत्र का हित न तो ब्रिटिश लोकतंत्र के हित का विरोधी है और न विश्व की लोकतंत्रात्मक व्यवस्था का विरोधी है। यदि ग्रेट ब्रिटेन लोकतंत्र की रक्षा और विस्तार के लिए युद्धरत हुआ है तो स्वभावतः उसका यह कर्तव्य है कि अपने साम्राज्य का विघटन करके अधीन प्रदेशों को मुक्त कर दे और भारत में लोकतंत्र की स्थापना कर दे। भारतीय जनता को अपना भाग्य निर्णय करने का अधिकार मिलना चाहिये जिसमें वे विधान निर्मातृ-संमेलनके द्वारा अपने देश के शासन-विधान की रचना कर सकें। इस प्रकार स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक भारत प्रसन्नतापूर्वक संसार के समस्त प्रगतिशील, स्वतंत्र और जन-तंत्रोपासक राष्ट्रों के साथ सहयोग करेगा और उनके साथ मिलकर आक्रमणकारिता का विरोध और पारस्परिक सहायता तथा रक्षा में

संलग्न होगा। भारत जगत् में ऐसी व्यवस्था के निर्माण के लिए अपनी शक्ति लगा देगा जो स्वतंत्रता और लोकतंत्र के आधार पर स्थापित होकर समस्त मानव जाति की उन्नति, कल्याण और सुख-संवर्धन की साधिका होगी।" यह थी कांग्रेस की स्पष्ट घोषणा जो उसने न केवल ब्रिटेन अपितु जगत् की समस्त लोकतंत्रात्मक और प्रगतिशील शक्तियों को संबोधन करके उपस्थित की। कांग्रेस के सारे इतिहास पर दृष्टिपात कर डालिये, गत दो दशकों से उसने जो गति ग्रहण की थी उसकी विधि की ओर देखिये, जगत् तक की स्थिति और भारत की समस्या के संबंध में उसने वर्षों से जिस दृष्टि का आश्रय लिया था उसकी विवेचना कर डालिये और आप देखेंगे कि भारतीय राष्ट्र की ओर से कांग्रेस ने जो घोषणा की थी वह उसके ऐतिहासिक विकास, उसकी परंपरा, उसके आदर्श और उसकी भावना के सर्वथा अनुकूल थी। उसके उद्गार भारतीय राष्ट्र के हृदय से निकले थे जिनमें न संकीर्णता थी, न राजनीतिक लाभ उठाने की भावना थी, न ब्रिटेन के प्रति द्रोह था और न किसी भी प्रकार की क्रान्ति अथवा अस्थिरता थी। जो था वह स्पष्ट था, उदार और प्रगतिशील भावों से ओतप्रोत तथा मानव जाति के उत्थान की कामना से पूत और अनुप्राणित था। ब्रिटिश लोकतंत्र के नेतृत्व में जगत् की रचना के महान् कार्य में प्रवृत्त होने की उत्कंठा से भरा हुआ भारतीय हृदय आज भारत के प्रति ब्रिटेन के द्वारा किये गये अनेक जघन्य पापों और काले कारनामों को भूल कर सहयोग के लिए अग्रसर हुआ था। उसने ब्रिटेन से वही करने के लिए कहा था जिसे ब्रिटेन किये बिना गला फाड़ फाड़ कर कह रहा था। कांग्रेस का अनुरोध इस इच्छा से था कि उसके मार्ग से परतंत्रता की वह बाधा हट जाय जिसके रहते भारत ब्रिटेन तथा अन्य प्रगतिशील शक्तियों की भरपूर, वास्तविक और यथेष्ट सहायता करने में समर्थ नहीं हो रहा था।

क्या उपर्युक्त घोषणा करके कांग्रेस ने कोई अपराध किया ? क्या ब्रिटेन की न्याय-बुद्धि, उसकी इमानदारी और लक्ष्य के प्रति उसकी श्रद्धा की घोषणा में विश्वास करके उसने कोई पाप किया ? उसका यह समझना कि नाजीवादी पशुता के विरुद्ध जो ब्रिटेन अपने देश के युवकों की बलि चढ़ाने के लिए अग्रसर हुआ है वह भारत के प्रति किये गये अन्याय का परिमार्जन करके मानव-जाति के इस संकट काल में इतिहास की धारा को नया जीवन प्रदान करेगा, क्या कोई कुकर्म था ? अवश्य ही इतिहास का विद्यार्थी यह जानता है कि जगत् में कभी किसी राष्ट्र ने स्वेच्छापूर्वक केवल न्याय के लिए तब तक अपने अधीन प्रदेशों को मुक्त नहीं किया है जब तक बलपूर्वक वह ऐसा करने के लिए बाध्य न किया गया हो। औचित्य और न्याय की कल्पनाओं तथा नीति और उदारता के सिद्धान्तों ने भले ही व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित किया हो पर उन राष्ट्रों और वर्गों पर, जो स्वार्थान्ध होकर दूसरों के निर्दलन में संलग्न रहे हैं सामूहिक रूप से कभी उनका प्रभाव नहीं हुआ है। मानव समाज ने सदा से बड़े-बड़े आदर्शों और उन्नत भावनाओं को जन्म दिया है पर इतिहास का निर्णय तो यही है कि उसी मनुष्य ने न्याय और अधिकार का फैसला सदा शस्त्र और रक्त के द्वारा ही किया है। आधुनिक जगत् भले ही अपनी सभ्यता और संस्कृति पर गर्व करे परंतु मानव-समाज संप्रति भी उपर्युक्त प्रवृत्ति से ही संचालित हो रहा है। इस स्थिति में कदाचित् कांग्रेस ने अत्यधिक सभ्यता और मानवता का परिचय दिया। जो वास्तविकता के पुजारी हैं वे संभवतः कहेंगे कि मानव बुद्धि के सदांश में आवश्यकता से अधिक विश्वास करके ही कांग्रेस ने भूल की जिसका दंड उसे भोगना पड़ा। इस कथन में सत्यांश की मात्रा स्पष्टतः यथेष्ट दिखाई देती है क्योंकि भारत के साथ जो व्यवहार किया गया, जिस प्रकार उसकी उदात्त भावनाओं और सहयोग-प्रवृत्ति का तिरस्कार

किया गया, जिस प्रकार उसके सौजन्य से अनुचित लाभ उठाया गया तथा अंततः जिस प्रकार ब्रिटिश पशुता उल्लंग होकर असावधान राष्ट्र को चबा जाने के लिए उस पर टूट पड़ी, वह संकेत कर रहा है इसी बात की ओर कि ईमानदारी और सचाई, नैतिकता और विश्वास-प्रदर्शन कदाचित् वह अपराध है जिसका भयावना दंड भोगना ही पड़ता है।

पर यदि यह भूल ही थी तो भी भारत ने वह भूल अनजान में नहीं की थी। उसने जान-बूझकर वह भूल की थी क्योंकि उसे मानव जाति के भविष्य और उसकी नियति की उज्ज्वलता में विश्वास है। इतिहास के विरोधी निर्णय के होते हुए उसने इतिहास की उस धारा को भी देखा है जो यह सिद्ध करती है कि मानव जाति पशुता में संलग्न रहते हुए भी अपनी पशुता पर विजय प्राप्त करती हुई आगे बढ़ी है। यदि इतिहास की यह दूसरी धारा न होती तो मानवता लुप्त हो गयी होती अथवा मनुष्य पशु ही रह गया होता। आज भारत मानवता की रक्षा के ही महान् ऐतिहासिक पथ का पथिक होने के लिए अग्रसर हुआ था। उसने मानव-पशुता के विरुद्ध मानवता की पताका फहरायी थी और उसी के निमित्त अदम्य विद्रोह करने के लिए बद्धपरिकर हुआ था। उपर्युक्त घोषणा के द्वारा उसने उन दंभियों को परीक्षा के लिए ललकारा था जो स्वयं पशु होते हुए जगत् की आँखों में धूल झोकने के लिए देवत्व का बाना पहन कर उपस्थित हो रहे थे। भारत वह कसौटी बनने जा रहा था जिसपर ब्रिटेन के आदर्श, उसकी नेकनीयती, उसके कार्यक्रम और उसकी घोषणाओं को कसकर इतिहास उनकी खोटाई, झुठाई और नकली स्वरूप को प्रदर्शित करने में समर्थ होता। वह देख रहा था कि जगत् में एक ओर जहाँ हिंसा और शस्त्र-शक्ति के सहारे समाज के दलन का बोलबाला है वहीं संसार के प्रत्येक खंड, प्रदेश और भाग में जन-समाज का एक ऐसा वर्ग भी जागरित और

उत्थित हो रहा है जो पुरानी व्यवस्था और योजना से ऊबकर संसार में शांति, नीति और औचित्य की मर्यादा स्थापित करने के लिए उत्सुक हो गया है। जगत् में गत पचीस वर्षों से इस दिशा में भी जो व्यापक जागर्ति हुई है वह इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। यह जागर्ति मानव-जीवन के उस उज्ज्वलांश के उज्जीवन का ही प्रतीक है जिसमें विश्वास करना भारत ने गांधीजी के नेतृत्व में सीखा है। गांधीजी ने भारत को यही शिक्षा दी है कि हिंसा और पशुता के अंधकार से आच्छन्न धरती पर भी मानव-स्वभाव का उज्ज्वलांश है तो वह प्रकाशमयी किरण है जिसके सहारे मानवता को अग्रसर होना है। भारत को उसी में विश्वास करके, उसी की आभा से उद्दीप्त पथ पर अग्रसर होना है और त्रस्त मनुष्य-समाज के संमुख जीवन को सजीवता और आशा प्रदान करने वाले महान् आदर्श की स्थापना करना है। भारत ने आज ब्रिटेन के सामने अपना पथ चुन लेने का अवसर उपस्थित कर दिया। यदि अब भी, जब इतिहास का अति संकट-काल उपस्थित हो गया हो, जब धरती मनुष्य की पशुता की भयावनी ज्वाला में जल रही हो, ब्रिटेन का मानवांश यदि जागरित हुआ हो और वह सचमुच मानवता की रक्षा के लिए विकल हो रहा हो तो आवे और उस पथ को चुन ले जिसे भारत ने उसके सामने प्रस्तुत कर दिया है। उस स्थिति में भारत और जगत् की समस्त प्रगतिशील शक्तियाँ ब्रिटेन के नेतृत्व में अग्रसर होंगी और धरा के इतिहास की वह दूसरी धारा प्रवाहित होगी जो मनुष्य समाज को विकास के पथ पर ले बढ़ेगी। पर यदि ऐसा नहीं होता और ब्रिटेन का शासक-वर्ग जगत् में पशु-राज्य को बनाये रखने और मानवता के उन्मूलन का ही इच्छुक है तो फिर भारत का और उसका साथ नहीं हो सकता। फिर तो मानवता में विश्वास करनेवाले और उसी की अविकल आराधना में संलग्न भारत को उसी की विजय के लिए अपने

जीवन की बलि चढ़ानी होगी। पशुता, हिंसा और पाप के संमुख मस्तक न टेकना और मनुष्यता की उपासना में अपने जीवन को उत्सर्ग कर देना वह जाग्रत् महामंत्र है जिसकी साधना में भारत गत बीस वर्षों से संलग्न है। भारत अपने इसी पथ पर बढ़ेगा और अदम्य संकल्प के साथ जगत् की समस्त पशुता और हिंसा का सामना दृढ़ता-पूर्वक करेगा।

आज यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि ब्रिटेन ने अपने लिए किस पथ का चयन कर लिया। गत कुछ वर्ष की घटनाएँ इतिहास की वे अमिट रेखाएं होंगी जो सदा ब्रिटेन की पशुता और उसके पापकी ओर करती रहेंगी। ब्रिटेन के अदूरदर्शी राजनीतिज्ञों और स्वार्थान्ध शासकों ने यह न देखा कि भारत का भाग्यसूत्र आज एक ऐसे मनुष्य के हाथों में है जो किसी का द्रोही नहीं है और जिसमें यह सामर्थ्य है कि वह भारत और ब्रिटेन के संबंध की समस्त कालिमा और खेदजनक अतीत को मिटा कर नये और उज्ज्वल इतिहास की रचना कर सकता है। उन्होंने यह अनुभव न किया कि आज उनके सामने वह शुभ-मुहूर्त उपस्थित है जब सही कदम उठा कर वे न केवल ब्रिटेन और ब्रिटेन की भावी संतति के, न केवल भारत और भारत के भविष्य के, किन्तु सारे संसार और समस्त मानव जाति के जीवन की धारा को प्रभावित कर सकते और उसे नयी गति प्रदान कर सकते हैं। वे यह कल्पना भी न कर सके कि वज्र कुलिश से भी अधिक कठोर और कुसुम से भी अधिक कोमल है। उसे जगत् के एक एक प्राणी की पीड़ा सता देती है पर अनीति और अन्याय के संमुख वह आग हो जाता है। फिर चाहे कोई हो, वह उसका सामना करेगा भले ही उसकी धज्जियाँ क्यों न उड़ा दी जाँय। आज ऐसे व्यक्ति के सामने नीति और न्याय का परिचय देकर ब्रिटिश सत्ता भारत की अटूट मित्रता, अपरिमित स्नेह और अविचल विश्वास की अधिकारिणी हो सकती थी। पर उनकी दृष्टि

इतनी अन्तर्भेदिनी नहीं हो सकती थी। उस पर तो अहंकार और स्वार्थ, प्रमाद और मोह की मदिरा की मादकता छायी हुई थी। गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने ब्रिटेन को उचित पथ ग्रहण करने के लिए आवश्यकता से अधिक अवसर प्रदान किया। किसी पूर्वपृष्ठ में लिख चुका हूँ कि गांधीजी का कोई शत्रु नहीं है अतः वे। किसी पर आघात नहीं कर सकते। पर वे शत्रु हैं अनैतिकता और अन्याय के। फलतः यदि असंदिग्ध और निर्विवाद रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि अनीति और अपमान की पूजा की जा रही है तथा उसीकी प्रभुता की स्थापना का प्रयत्न हो रहा है तो वे स्वभावतः उससे टक्कर लेने के लिए अग्रसर हो जाते हैं। उस समय जगत् की शक्ति, कोई प्रलोभन, कोई शस्त्र और किसी प्रकार का भय उन्हें मार्ग से विपथ करने में समर्थ नहीं होता। भारतीय कांग्रेस में इतना धैर्य और इतनी सहनशीलता कदाचित् न होती कि इस अवसर पर जब जगत् में वर्तमान की अट्टालिका की दीवारें ढह रही हों वह वर्षों तक हाथ पर हाथ धरे बैठी रहती और यह आशा करती रहती कि अब भी संभवतः ब्रिटेन औचित्य की ओर उन्मुख होगा। पर गांधीजी के नेतृत्व में उसे यह धीरता प्रदर्शित करनी पड़ी।

स्मरण रखने की बात है कि कांग्रेस के सामने देश की स्वतंत्रता का प्रश्न सर्वोत्कृष्ट था। वह युद्ध की ओर भी राजनीतिक दृष्टि लेकर ही विचार करती थी। वह गांधीजी की नैतिकतामूलक अहिंसात्मक दृष्टि को उस सीमा तक ग्रहण करने में समर्थ न थी जिस सीमा तक स्वयं गांधीजी जाते हैं। गांधी केवल भारत की स्वतंत्रता के संग्राम का सेना-पति मात्र नहीं है। उसका व्यक्तित्व, उसकी दृष्टि और उसका कार्यक्षेत्र केवल यहीं तक परिसीम भी नहीं है। वह उन ऐतिहासिक महापुरुषों की पंक्ति में स्थान रखता है जो विकास की महती धारा में उत्ताल

तरंग की भाँति कभी कभी आ जाते हैं और मानव समाज के इतिहास का पथ प्रशस्त कर जाते हैं। गांधी किसी प्रकाशमय संदेश का वाहक और भावी युग का अग्रदूत होकर आया है जिसने मानवसमुदाय के विचार और कार्यक्षेत्र को नया आलोक और स्पंदन प्रदान किया है। भारत की स्वतंत्रता का प्रश्न और उसका स्वातंत्र्यसंग्राम वस्तुतः उसे इतिहास के द्वारा निमित्त रूप में प्राप्त हुआ है जिसके सहारे वह अपने अव्यक्त संदेश को साकार और व्यक्त करके जीवन के संमुख नया आदर्श और मापदंड स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है। फलतः गांधी जी के लिए यह युद्ध मनुष्य के हृदय में स्थित दानव का उत्थान था। युद्ध के रूप में उपस्थित विभीषिका उसके लिये उपहिंसा और पशुता के द्वारा दी गयी चुनौती थी जिसके उन्मूलन और विनाश का संदेश, आदर्श और पथ लेकर गांधी अवनी पर आया था। ऐसी स्थिति में किसी भी दशा में शस्त्र लेकर युद्ध में उतरना गांधी की दृष्टि में उचित नहीं हो सकता था। पर इतनी दूर तक वे कांग्रेस को अपने साथ नहीं ले जा सकते थे। साधक यदि प्रयोग के लिये अग्रसर होता है तो तदर्थ कुछ निमित्त और साधनों को ग्रहण करना पड़ता है। साधक के लिए यह आवश्यक होता है कि वह उन साधनों और निमित्तों की सीमा से अवगत हो जाय जिनका सहारा अपने प्रयोग के लिए वह ग्रहण करता है। जिस सीमातक साधन विशेष, काम दे सकते हों उसी सीमातक उनसे काम लेना चाहिये और आगे के प्रयोग के लिए तदनुकूल उचित साधनों को खोजना चाहिये। कांग्रेस आज अहिंसा के प्रयोग के लिए गांधीजी को प्राप्त थी। उसके द्वारा वे जगत् को अहिंसा का संदेश, उसकी शक्ति और सक्रियता का ज्ञान तथा उसके आदर्श तथा पथ को प्रदान करना चाहते थे। पर यह साधन एक सीमा तक ही काम दे सकता था।

अहिंसा और अहिंसक संघर्ष के द्वारा भारत की स्वतंत्रता के महान् प्रश्न को हल करके कांग्रेस द्वारा अहिंसा के प्रयोग की सार्थकता और अहिंसा के आदर्श की ओर जगत् का ध्यान आकृष्ट करने तक कांग्रेस सहायक हो सकती थी। पर इसके आगे जाने की शक्ति उसमें न थी। गांधीजी चतुर साधक की भाँति अपने साधन की मर्यादाओं से भली भाँति परिचित था। फलतः जिस सीमा तक वह काम दे सकता था उसी तक उससे काम लेने के लिए तैयार था। फलतः देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने को उत्सुक और उत्कंठित कांग्रेस को भी उसने तब तक धैर्य रखने के लिए रोक रखा जब तक यह स्पष्टतः सिद्ध न हो जाय कि ब्रिटेन का शासक समुदाय भारत के निर्दलन, शोषण और उसकी पराधीनता के सम्बन्ध में वहीं है जहाँ पहले था और लोकतंत्र तथा स्वतंत्रता की उसकी सारी डींग मिथ्या और विशुद्ध प्रवंचन है।

ब्रिटेन के लिए यह अवसर था कि वह अपनी ईमानदारी, नेकनीयती और सचाई का प्रमाण देकर न केवल गांधीजी के प्रभावशील नैतिक समर्थन प्राप्त करता बल्कि भारत की अपरिमित धन-राशि और विशाल जन-बल की सक्रिय सहायता उपलब्ध कर सकता था। पर यह न हुआ, क्योंकि इतिहास के रंगमंच पर दूसरा ही अभिनय होने वाला था। स्वतंत्रता और न्याय के नाम पर शस्त्र उठाने वाली ब्रिटिश सरकार ने स्वतंत्रता और न्याय के विरुद्ध भारत में एक नये मोर्चे की स्थापना कर दी। कोई संभव उपाय, कोई योजना और कोई नीति बाकी नहीं बची जिसका अवलंबन भारत की आकांक्षा को कुचलने में न किया गया हो। ब्रिटेन को स्वतंत्र भारत की सहायता की आवश्यकता नहीं थी और न थी जगतीतल पर प्रगतिशील लोकतंत्रात्मक व्यवस्था की स्थापना की इच्छा। वह चाहता था पतित और पराधीन भारत का

आत्मसमर्पण और जगत् के द्वारा अपनी पाद-पूजा। फलतः भारतीय कांग्रेस की घोषणा के बाद उसने वह सब करने का आयोजन किया जिससे भारत अधिक से अधिक अपयश, उपहास, तिरस्कार और घृणा का पात्र हो जाय। जितना झूठ बोला जा सकता था बोला गया, जितना मिथ्या प्रचार संभव था किया गया, भारतीय राष्ट्र की दुर्बलता का जितना अनुचित लाभ उठाया जा सकता था उठाया गया, भारत की स्वतंत्रता के मार्ग में जितने कांटे बोना संभव था बोया गया और अंत में पशुता, हिंसा, अमानुषी दमन का अवलंबन करना जिस सीमा तक संभव था, उस सीमा तक ग्रहण किया गया। सन् १९३९ ईसवी के सितंबर में यूरोप में युद्ध की दुन्दुभी बजी। उसी महीने में कांग्रेस कार्य-समिति ने वह घोषणा की जिसका अंशांश अन्यत्र उद्धृत किया गया है। तब से लेकर अब तक ब्रिटेन की नीति पर दृष्टिपात कीजिये। उसने एक के बाद दूसरा कदम उठाया और प्रत्येक कदम का लक्ष्य एकमात्र यही था कि किस प्रकार भारतीय कांग्रेस की उस अकाट्य, तर्क-संगत, न्याय-संमत और मानवोचित स्थिति को आहत किया जाय जिसकी घोषणा उसने अपने प्रस्ताव द्वारा की है। गांधी जी ब्रिटिश कुनीति के प्रवाह को धैर्य के साथ देख रहे थे और उसकी प्रत्येक कुचाल का उत्तर देते हुए सदा यह अपील करते गये कि समय रहते ब्रिटेन उस पथ का अवलंबन करे जिसमें न केवल उसका कल्याण है, न केवल भारत का कल्याण है प्रत्युत समस्त संसार का कल्याण है। कार्यसमिति की घोषणा के बाद ही ब्रिटिश पार्लमेंट में भारत-संबंधी जो वाद-विवाद हुआ उसी में यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटेन की नीति और नीयत क्या है और कहाँ तक वह सचमुच न्याय तथा नैतिकता की स्थापना का इच्छुक है। पार्लमेंट के उस वाद-विवाद में ही तत्कालीन भारत-सचिव लार्ड जेटलैंड ने कांग्रेस का तिरस्कार करते हुए यह घोषणा की कि भारत

ऐसा देश नहीं है जो एक राष्ट्र कहा जा सके। वहाँ के विभिन्न वर्गों और संप्रदायों के विभिन्न स्वार्थ हैं और कांग्रेस सारे देश का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वह हिन्दुओं के एक छोटे-से वर्ग की संस्था अवश्य है जिसकी आवाज सारे भारत की आवाज नहीं मानी जा सकती। युद्धारंभ के बाद यह पहली चाल थी जो भारत के विरुद्ध चली गयी। वही कांग्रेस, जिसने देश के ग्यारह में से आठ-आठ प्रांतों के शासन का उत्तरदायित्व उठाया था, जो आज से नहीं दशकों से राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती थी, जिसके एक इशारे पर लाखों नर-नारी ब्रिटेन जैसी शक्तिशालिनी सत्ता से टक्कर लेने के लिए सिर में कफन बाँधकर निकल पड़ते थे, जिससे स्वयं ब्रिटिश सरकार भारत के नाम पर समझौता करने के लिए बाध्य हुई थी, आज सहसा भारत की प्रतिनिधि संस्था नहीं रह गयी और उसकी आवाज देश की आवाज नहीं मानी गयी। भारतीय माँग की सबलता और औचित्य के सामने टिकने में अपने को असमर्थ पाकर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने यह नया तर्क ढूँढ़ निकाला जिसकी ओट में वे अपनी कुनीति को छिपाने के लिए यत्नशील हुए।

पार्लमेंट की इस बहस ने ही भारत की आँखें खोल दीं। स्वयं गांधीजी ने भी लिखा कि इस अवसर पर चुप रह जाना भारत और ब्रिटेन दोनों के कल्याण के लिए विघातक होगा। पार्लमेंट में जो ध्वनि ग्रहण की गयी है और कांग्रेस पर जो आक्षेप किया गया है उसे आज के अवसर पर सुनने की आशा मैं नहीं कर रहा था, मैं आज दावे के साथ कहना चाहता हूँ कि भारत में कांग्रेस ही एक मात्र संस्था है जो अनन्यतम भाव से इस देश की जनता का प्रतिनिधित्व करती है। उसी संस्था ने आज ब्रिटेन से यह पूछा है कि वह नीति और नीयत स्पष्ट कर दे। यदि सचमुच ब्रिटेन स्वतंत्रता और लोकतंत्र की रक्षा के

लिए युद्ध में संलग्न हुआ है तो उसके राजनीतिज्ञों को स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर देनी चाहिये कि युद्ध के उद्देश्य में भारत की स्वतंत्रता अनिवार्यतः सन्निहित है। स्वतंत्र भारत की ही सहायता का कुछ मूल्य हो सकता है। कांग्रेस को यह अधिकार है कि वह भारत की स्थिति का स्पष्टीकरण कर ले और उसी दशा में वह देश की जनता के सामने जाकर यह कह सकती है कि युद्ध के बाद भारत की स्वतंत्रता उसी भाँति निश्चित है जिस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन की। मैं ब्रिटेन के एक मित्र की भाँति उससे अनुनय करता हूँ कि उसके राजनीतिज्ञ साम्राज्यवादी उस पुरानी भाषा को छोड़ दें जिसमें वे अभ्यस्त रहे हैं और आज जगत् की दलित जातियों के इतिहास में नये अध्याय की सृष्टि करें। पर ब्रिटेन पर भला इस विनती का क्या प्रभाव पड़ सकता था। उसने तो दूसरा पथ चुन लिया था और अपने स्वार्थ के लिए भारत का सर्वनाश तक कर डालने का निश्चय कर लिया था। अपनी स्वार्थ-सिद्धि में उसे नीति-अनीति, उचित-अनुचित, सच-झूठ किसी की चिंता न थी। कांग्रेस का तिरस्कार यह कह कर किया जाने लगा कि वह भारत की ओर से बोलने का अधिकार ही नहीं रखती। इतने से संतोष न हुआ तो सांप्रदायिकता को उत्तेजन देने की चेष्टा की गयी। भारत की सांप्रदायिक समस्या इस राष्ट्र का वह मर्म-स्थल है जो पहले से ही आहत और विक्षत हो गया है। आज उस घाव में उँगलियाँ डालकर उसे कुरेदा जाने लगा। भारत में हिंदू-मुसलमान का प्रश्न भारत के गत इतिहास की ही देन है। इस देश के हिन्दू-मुसलमानों की यह त्रुटि थी, उनकी यह दुर्बलता थी कि वे उसे सुलझा नहीं पाये। पर सुलझाने का यत्न आरंभ हो गया था और कदाचित् भारत इसमें सफल हुआ होता पर परिस्थितियाँ बाधक हो गयीं। अंगरेजों के आगमन ने उस धारा का कुंठन कर दिया जो भारत के हिन्दू-मुसलमान को भारतीय बनाने के लिए प्रवाहित हो चली थी। पूर्व के

पृष्ठ में बताया जा चुका है कि किस प्रकार अंगरेजी राज ने हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक अविश्वास, द्वेष और पृथकता को जगाये रखने की चेष्टा आरंभ से ही की है। सन् १९२०-२१ ईसवी में गांधीजी ने खिलाफत की समस्या में वह अवसर देखा जब देश के उपर्युक्त दोनों वर्गों को परस्पर निकट लाकर एक दूसरे को समझने तथा परस्पर के विश्वास का सर्जन करने की संभावना दिखाई पड़ी, पर यह स्थिति अधिक दिनों तक न टिक सकी। शताब्दियों का दुर्भाव और आशंका दूर भी न हो पायी थी कि असहयोग आंदोलन के कारण उद्भूत जागर्ति ने दोनों को भयभीत कर दिया। हिन्दुओं का जागरन देखकर मुसलमान और मुसलमानों की जागर्ति से हिन्दू भड़क उठे। अंगरेजी सरकार ने पुनः इस स्थिति का लाभ उठाया। फिर तो राजनीतिक आंदोलनों के कारण जैसे जैसे दोनों वर्ग जागृत होते गये और अधिकार प्राप्ति की आशा जैसे जैसे बढ़ती गयी वैसे वैसे दोनों की प्रतिस्पर्धा और खींचातानी भी बढ़ती गयी। गोलमेज-संमेलन के बाद तो मरी हुई मुसलिम लीग पुनः जीवित हो उठी। मुसलिम समाज का उच्च तथा मध्यम वर्ग, जो राजनीतिक अधिकारों के बँटवारे का इच्छुक था, जनवर्ग के सांप्रदायिक मनोभावों का लाभ उठाकर उसे उभाड़ कर अपनी गोटी लाल करने की चेष्टा करने लगा। फलतः धीरे धीरे मुसलिम लीग, जो उनकी संस्था है, बलवती होती गई। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना हो जाने के बाद तो वह उग्र हो उठी। बहुसंख्यक हिन्दू-प्रांतों में शासनाधिकार अनिवार्यतः और स्वभावतः हिन्दुओं के हाथ में गया। अवश्य ही वे हिन्दू राष्ट्रवादी थे पर इससे मुसलमानों का उच्च और मध्यम वर्ग तुष्ट नहीं हो सकता था। वह स्वयं अल्पसंख्यक था और शासनाधिकार से वंचित था। फलतः उसका क्षोभ और रोष उग्र हो गया। फिर तो उसने जनवर्ग की सांप्रदायिक भावनाओं को प्रज्ज्वलित करके देश की

सांप्रदायिक समस्या को अलंघ्य बना डाला। मानना होगा कि राष्ट्र-वादियों की यह दुर्बलता थी कि वे अब तक इस समस्या को हल नहीं कर पाये थे पर उनकी असफलता का सबसे बड़ा कारण वह विदेशी सत्ता थी जिसके रहते उक्त समस्या का हल होना टेढ़ी खीर थी।

जिस अविश्वास और दुर्भाव तथा भय और शंका के गर्भ से पाकिस्तान तथा दो राष्ट्रों के सिद्धान्त का जन्म हुआ है वह तब तक मिट नहीं सकता जब तक भारत की सूत्र-धारिणी कोई तीसरी सत्ता है जिससे कुछ पाने की आशा की जा सकती है तथा सहायता के लिए जिसके मुख की ओर देखा जा सकता है। वह तब तक नहीं मिट सकता जब तक उन मनोवृत्तियों को उत्तेजित करके लाभ उठानेवाली हमारे मस्तक पर आसीन है। आज यह सांप्रदायिक प्रश्न भारत का जटिल प्रश्न है जिसे उसे सुलझाना है। पर युद्धारंभ के बाद ब्रिटेन ने इस प्रश्न को खोद-खोद कर उभाड़ने का पाप किया है और इस प्रकार न केवल भारत के वर्तमान को प्रत्युत उसके भविष्य को भी विषाक्त कर डालने की चेष्टा की है। आप सांप्रदायिकता को उत्तेजन प्रदान करें, उसे आवश्यकता से अधिक प्रमुखता प्रदान करें और फिर यह कहें कि जब तक सांप्रदायिक प्रश्न हल न हो जायगा तब तक भारत की स्वतन्त्रता की समस्या सुलझ नहीं सकती, और इस प्रकार भारत के राजनीतिक विकास पर प्रतिबन्ध लगा दें तो भला क्या त्रिकाल में भी उसका निपटारा कभी संभव हो सकता है? आज जानबूझ कर यह स्थिति उत्पन्न की गयी और जगत् में भारत को उपहास्य बनाने तथा इस देश को पराधीन बनाये रखने का एक अमोघ उपाय ढूँढ़ निकाला गया। गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय भारत सांप्रदायिक समस्या को सुलझाने के लिए उतनी दूर तक गया है जितनी दूर तक जगत् का कोई बहुसंख्यक समुदाय आज तक कभी गया नहीं था। गांधीजी भारत में

जिस विद्रोह का नेतृत्व कर रहे हैं वह दुनिया के अन्य विद्रोहों से भिन्न है। संसार में अब तक सशस्त्र क्रांतियाँ ही हुई हैं और जिस दल ने शस्त्र और शक्ति के द्वारा अधिकार-सत्ता पर अधिकार स्थापित किया उसने उसी के सहारे सब दलों को चाहे वह बहुसंख्यक रहा हो, अथवा अल्पसंख्यक, अपनी कल्पना, धारणा और आदर्श के अनुकूल बलपूर्वक ले चलने की चेष्टा की। भारत के विद्रोह का स्वरूप और आधार ही आज भिन्न है। अहिंसात्मक क्रांति देश के प्रश्नों को एक ही प्रकार से हल कर सकती है और वह यही है कि सब वर्गों, समुदायों और राष्ट्र के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विकास समान रूप से होने देने की कोई योजना उपस्थित करे और ऐसे व्यूह की रचना करे जिसमें सबके हितों का पारस्परिक सामंजस्य स्थापित हो सके। इस सन्तुलन और समन्वय के द्वारा ही निर्मित राष्ट्र और उद्भूत चेतना का संयोजन एक मात्र राष्ट्र के सामूहिक विकास की ओर हो सकेगा। गांधीजी की यही दृष्टि आरंभ से रही है और सांप्रदायिक प्रश्न की ओर उन्होंने और उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने सदा उसी के अनुकूल नीति ग्रहण की है। स्पष्ट है कि इस दृष्टि में किसी वर्ग, समूह या समुदाय या किसी दूसरे वर्ग, समूह या समुदाय के द्वारा दलन अथवा दोहन अथवा कुंठन संभव नहीं है। सारी नीति का आधार एक ही हो सकता है और वह यह कि वर्गों में परस्पर उस सौहार्द, उस विश्वास, उस स्नेह और उस सहयोगमूलक भावना की सृष्टि की जाय जिसके बिना वे एक दूसरे के निकट न आ सकते हैं और न उनके हितों का सामंजस्य स्थापित हो सकता है। फलतः सांप्रदायिक समस्या को हल करने के लिए कांग्रेस ने गांधीजी की प्रेरणा और प्रभाव से सदा ऐसी नीति ग्रहण की है जिससे विभिन्न समूहों का पारस्परिक सौहार्द बढ़े और ऐसा वातावरण उपस्थित हो जिसमें अविश्वास और दौर्मनस्य का लोप

हो जाय। स्पष्ट है कि इसका सर्वतोधिक उत्तरदायित्व उस समुदाय पर है जो बहुसंख्यक है। बहुसंख्यक वर्ग को हीअल्पसंख्यकों को यह आश्वासन देना होगा और अपनी नीति, कार्यक्रम तथा पद्धति से यह विश्वास कराना होगा कि उनके हित सदा सुरक्षित रहेंगे और उनके अधिकारों पर कभी कोई आघात न पहुँचेगा। भारत की राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करनेवाली कांग्रेस ने समय समय पर यही करने का यत्न किया है। जब उसने विधान-निर्माण-संमेलन की मांग की उस समय मुसलमानों से यहाँ तक कहा गया कि देश की बालिग जनता के द्वारा निर्वाचित यह संमेलन मुसलमानों के हित-संबंधी प्रश्न के विषय में वही बात स्वीकार कर लेगा जिसे मुसलिम प्रतिनिधियों का बहुमत उपस्थित कर देगा। गांधीजी ने यहाँ तक आश्वासन दिया कि मुसलमानों के संबन्ध में जो निर्णय होंगे वे दूसरे संप्रदायों के प्रतिनिधियों के मत से निर्णीत न होंगे। मुसलिम जनता के प्रतिनिधि बहुमत से जो निर्णय कर देंगे वही मान्य होगा। यदि कोई ऐसा प्रश्न होगा जिसे देश-हित की दृष्टि से स्वीकार करना संभव न होगा तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय पंचों की पंचायत के द्वारा हल करा लिया जायगा। जगत् में एक प्रमाण ऐसा नहीं मिल सकता जहाँ अल्पसंख्यक समुदाय के प्रति इतनी उदार दृष्टि व्यवहृत की गयी हो। पर मुसलिम समाज का वह स्थिर स्वार्थी-वर्ग जो जन-निर्वाचन से भयभीत होता है और किसी प्रकार अपना नेतृत्व बनाये रखने का इच्छुक है और जो सांप्रदायिक मनोभावों को उज्जीवित करके ही अपना काम साध सकता है ब्रिटिश सरकार की शह पा कर समस्या के हल करने की योजना मिट्टी में मिला देने में समर्थ होता है। ब्रिटेन जानता है कि भारतीय कांग्रेस यदि उन्मुक्त क्षेत्र प्राप्त करे, बाह्य हस्तक्षेप से त्राण पा जाय और देश के हिन्दू-मुसलमान यह समझ लें कि कोई तीसरी शक्ति अब न रही

और उन्हें अपने प्रश्न का निर्णय स्वयं करना ही है तो उक्त समस्या को अविलंब हल कर लेने में समर्थ होगी। पर यह जान कर भी भारत की पराधीनता के बंधन को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए वह सांप्रदायिकता की पीठ इस प्रकार ठोक रही है कि भारत का वर्तमान छिन्न-भिन्न और भविष्य अंधकाराच्छन्न होता जा रहा है। देश ने यह देखा और गांधीजी ने एक और प्रमाण तथा संकेत पाया ब्रिटेन की उस नीयत का जो भारत की पराधीनता की अनीतिमूलक और अन्यायाश्रित व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आज भी अनुचित और अनैतिक पथ का अवलंबन कर रही थी।

पर इतना ही अलम् नहीं था। ब्रिटेन की असत्यो-पासना, मिथ्या प्रचार और धूर्तता-प्रेम की पराकाष्ठा उस समय पार हो गयी जब भारत के हाथों में अधिकार समर्पण न करने के लिए गांधीजी की अहिंसा कारण बनायी जाने लगी! भारत को अहिंसा से प्रेम रहा हैं इसमें किसी को संदेह नहीं, पर उसका अहिंसा प्रेम अपराध था, जिसका दंड था देश की परतंत्रता—यह सिद्ध करते हुए ब्रिटेन को अपने भविष्य की भी चिन्ता न हुई। अहिंसा बुरी हो या भली, पर इतना स्पष्ट है कि इस अहिंसा ने भारत की राजनीतिक धारा को गांधीजी के नेतृत्व में रुधिर से रक्त-रंजिता होने से अवश्य बचा लिया। कौन कह सकता है कि यह लोकोत्तर पुरुष यदि भारत के राजनीतिक रङ्ग-मञ्च पर न आया होता तो भारत का इतिहास किधर प्रवाहित हुआ होता? ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और अधिकारी यह कदाचित् अनुभव नहीं करते कि भारत के अहिंसा प्रेम ने, भारत का कल्याण किया हो अथवा न किया हो, पर ब्रिटेन का कल्याण अवश्य किया है। उन्हें अपने भाग्य की सराहना करनी चाहिये कि गांधी की अहिंसा ने भारत की राजनीति और उसकी स्वतन्त्रता के सङ्घर्ष को द्वेष, घृणा, रक्त, हत्या और अमानुषी क्रूरता के

धरातल से ऊँचा उठाकर मानवीय, नैतिक, और शैव स्तर पर पहुँचा दिया। आज उसी का यह परिणाम था कि भारत में वह वर्ग, जो उसकी पराधीनता का कारण था, निर्भयतापूर्वक सुख की बंसी बजा रहा था। अँग्रेज क्या भूल गये आयरलैण्ड के इतिहास को? क्या वे भूल गये अमेरिकन स्वातन्त्र्य के युद्ध को? फ्रांस की राज्यक्रांति, रूस की बोलशेवी उथल-पुथल, तथा जगत् की अन्य अनेक क्रांतियों की स्मृति क्या उनके मानस-पट से मिट चुकी है? कौन कह सकता है कि भारत की धारा उसी ओर प्रवाहित न हुई होती और भारत-भू शोणित से लाल न हो गयी होती। उन्हें धन्यवाद देना चाहिये अपने नक्षत्रों को और यदि मानवता का लेश भी बाकी हो तो कृतज्ञ होना चाहिये गांधीजी के प्रति जिनकी कृपा से महान् भारतीय संघर्ष संघर्ष होते हुए भी अहिंसक बना रहा जो धरित्री के अतीत और वर्तमान के लम्बे इतिहास में अनन्यतम और अनुपम है। आज उसी अहिंसा का उपहास? क्या ब्रिटेन यह चाहता है कि भारत अहिंसा का त्याग करे? क्या वह आकांक्षी है इस बात का कि भारतीय खड्ग अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करे? यदि नहीं, तो उसके द्वारा अहिंसा का मखौल उड़ाये जानेका क्या अर्थ? क्या उसमें कल्पना और दूरदर्शिता की इतनी शक्ति भी बाकी नहीं बची थी कि वह कह क्या रहा है और कर क्या रहा है तथा उसके भविष्य पर उसका परिणाम क्या हो सकता है, यह सोचने में भी समर्थ होता? यह विडंबना है इतिहास की जो लाभान्वित हुआ है अहिंसा से और जो जगत् से हिंसा तथा आक्रमणकारिता को मिटा देने के लिए ही यत्नशील होने का दावा करता है वही अहिंसा की हँसी उड़ाने में प्रवृत्त हुआ। कहा जाने लगा कि गांधी अहिंसक है, शान्ति का उपासक है अतः इस बात का समर्थक है कि भारत जर्मनी अथवा जापान के सामने आत्म समर्पण कर दे और उनकी अधीनता स्वीकार कर ले।

जगत को यह समझाया जाने लगा कि गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस यदि भारत के अधिकार-सूत्र को प्राप्त कर लेगी तो नाजी या फासिटी या सैन्यवादी आक्रमणकारियों के हाथ भारत को समर्पण कर देगी क्योंकि उसकी नीति अहिंसा की है जो द्योतक है पराजित मनोवृत्ति की। ऐसे घृणित असत्य और कुत्सित निराधार प्रलाप का दूसरा प्रमाण भला कहाँ मिल सकता है ?

गांधी की अहिंसा पलायनात्मक है या सजीव और संघर्षात्मक, इसका प्रमाण तो स्वयं वह ब्रिटेन है जो उसकी शक्ति और ओज के सामने एकाधिक बार समूल प्रकंपित हो चुका है। उससे बढ़कर कौन है जो इस बात को जानता है कि गांधी अहिंसा-जगत् की समस्त पशु-शक्ति, प्रचंड शस्त्र बल और उत्कट निरंकुशता के विरुद्ध खुली चुनौती है जो कभी उनके संमुख सिर झुकाना जानती ही नहीं। वह अहिंसा तलवार के सामने घुटने टेकने को निकृष्टतम और घृणिततम हिंसा समझती है, क्योंकि कायरता से बढ़कर पाप उसकी दृष्टि में दूसरा है ही नहीं ! जिस अहिंसा के द्वारा भारत ने दिग्विजयी और परम-दर्पिणी ब्रिटिश शक्ति के मद को विचूर्ण करने का प्रयास किया है उसे पलायन-मुखी और पराजित मनोवृत्ति का द्योतक कहना, और जान-बूझकर कहना क्या महान ब्रिटिश राष्ट्र के गौरव और उसकी शुभ्र-कीर्ति के अनुकूल था ? अहिंसा को शस्त्र बनाकर भारत ने स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए अनवरत युद्ध क्या इसलिए किया था कि वह अपनी मातृभूमि को किन्हीं दूसरे पैरों के द्वारा रौंद दिये जाने के लिए असहाय छोड़ दे ? यह कल्पना ही इतनी उत्क्लेदक और क्षोभ-जनक है कि भारतीय उसे सुनना भी सहन नहीं कर सकता। हमारे रोष की सीमा नहीं रह जाती जब हम यह सोचते हैं कि किसीने हम पर यह आरोप भी लगाने का साहस किया है ! यह अभियोग नहीं अपमान करना है भारतीय

राष्ट्र का जिसे कभी यह देश क्षमा नहीं कर सकता ! अंगरेज जाति को इतना समझने की क्षमता होनी ही चाहिये थी कि भारत के राष्ट्रीय पुनरुत्थान की लहर अब उस विंदु पर पहुँच गयी है, जहाँ वह अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त किये बिना शांत नहीं रह सकती। गांधीजी के रूप में भारत की प्रबुद्ध और सत्याभिपूत आत्मा अपनी मुक्ति के लिए अहिंसा को शस्त्र बनाकर अग्रसर हुई है। भारत का यह अभिनव प्रयोग संसार के इतिहास में अनूठा है। इस प्रयोग की सफलता में न केवल भारत का कल्याण है प्रत्युत ब्रिटेन और जगत् के कल्याण का पथ भी प्रशस्त हो जाता है। पर यदि मानवता के दुर्भाग्य से और ब्रिटेन के पाप से भारत कहीं इस प्रयोग में असफल हुआ तो अंगरेज यह न समझें कि भारत की स्वतंत्रता का प्रश्न बिना सुलझे पड़ा रह जायगा। यह ध्रुव है कि यह देश तब भी स्वतंत्रता प्राप्त करके ही रहेगा, पर निस्संदेह उस स्थिति में वह आग लगेगी जिसकी कराल ज्वाला न केवल भारत किंतु ब्रिटेन को भी भस्मसात् करके छोड़ेगी। भारत लघुता और पशुता से ऊँचे उठकर अपना पथ चुनने में समर्थ हुआ है, पर अब अवसर था ब्रिटेन के लिए कि वह भी अपना मार्ग निर्धारण कर ले। आज उसकी गति देखकर यदि हम यह समझें कि उसने भयजनक अनुचित पथ का निर्वाचन कर लिया है तो वह अकारण न होगा। यदि ऐसा न होता तो फूट और प्रवंचन का आश्रय लेकर वह भारत की अहिंसा का उपहास न करता।

यह कहना नितान्त झूठ था कि शान्तिवादी गांधी का अहिंसावाद विदेशी आक्रमणकारी के प्रतिरोध का विरोधी है। गांधीजी यूरोप के शान्तिवादियों के समान नहीं हैं। उनका अहिंसावाद जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनवरत संघर्ष तथा तप और बलिदान में व्यक्त होता है। फिर भी यदि अंगरेजों को उससे भय था तो कांग्रेस की नीति से उस

भय का निराकरण हो जाना चाहिये। इतिहास साक्षी है इस बात का कि कांग्रेस ने आरंभ से लेकर अंत तक सदा एक ही नीति ग्रहण की है और वह यह कि स्वतंत्र भारत शस्त्र उठाकर उन प्रगतिशील शक्तियों के साथ युद्ध में प्रवृत्त होगा जो जगत् में स्वतंत्रता और लोकतंत्र के आधार पर नयी व्यवस्था को जन्म देने के लिए यत्नशील होंगी। युद्धारंभ होने के बाद कांग्रेस कार्यसमिति ने जो घोषणा की थी उसमें क्या यही बात नहीं थी ? सन् १९४० ईसवी में पूना में सर्व भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपने प्रस्ताव द्वारा क्या स्पष्टतः यह घोषणा नहीं कर दी थी कि भारत में यदि स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर दी जाय तो भारत मित्रराष्ट्रों के साथ युद्ध में अपने सारे धन-जन का उपयोग करेगा ? क्या क्रिप्स के आगमन के बाद कांग्रेस कार्यसमिति ने साफ साफ यह नहीं कहा था कि भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होते ही देश युद्ध के सारे बोझ को सहर्ष उठा लेगा ? और अंत में क्या सन् १९४२ के अगस्त में सर्वभारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपने उस प्रस्ताव में जिसने भारत के इतिहास को अकल्पित रूप से प्रभावित कर दिया है पुनः यह घोषणा नहीं की थी कि "इस देश में ब्रिटिश शासन का अंत करना वह मुख्य और जीवित प्रश्न है जिस पर युद्ध का भविष्य और स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र की सफलता निर्भर करती है। स्वतंत्र भारत लोकतंत्र और स्वतंत्रता तथा युद्ध की सफलता को नैश्चित्य प्रदान कर सकता है क्योंकि उस स्थिति में वह नाजीवाद, फासिटीवाद और साम्राज्यवाद की आक्रमणकारिता के विरुद्ध अपनी समस्त शक्ति और सारे साधनों के साथ जुट पड़ेगा'। क्या आज यह पूछा नहीं जा सकता कि इसमें कहाँ उस शान्तिवाद का समावेश है जिसके कल्पित भय से ब्रिटिश अधिकारी काँप रहे थे ? और फिर क्या यह पूछा नहीं जा सकता कि गांधीजी ने कांग्रेस की इस नीति में कहाँ बाधा खड़ी की ?

कह चुका हूँ कि गांधी वह दूरदर्शी और कुशल साधक है जो प्रयोग के लिए प्राप्त अपने साधनों और निमित्तों का उतना ही उपयोग करता है जितना काम देने की शक्ति उनमें होती है। वह जानता था कि कांग्रेस का उपयोग अहिंसा के प्रयोग में भारत की स्वतंत्रता की प्राप्ति तक ही संभव है क्योंकि इससे आगे जाने की क्षमता ही कांग्रेस में नहीं है। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद विदेशी आक्रमणकारियों का प्रतिरोध शस्त्र के द्वारा करने के लिए उसने न केवल कांग्रेस को स्वतंत्र कर दिया प्रत्युत कांग्रेस ने बार बार स्पष्ट और निश्चित शब्दों में उसकी घोषणा की। और गांधीजी न केवल कांग्रेस की इस नीति के विरोधी थे प्रत्युत उसे उनका आशीर्वाद और सहयोग प्राप्त था। अवश्य ही भारत आक्रमणकारियों का प्रतिरोध यदि शस्त्र उठाकर करता तो गांधी भी अपने पथ, प्रकार और पद्धति का अवलंबन करके अहिंसक प्रतिरोध के व्यूह की रचना करता। अवश्य दोनों प्रकार और दोनों दिशा से जो प्रतिरोध आरंभ होता वह देश की और जगत् की प्रतिरोधात्मक शक्ति को अधिकाधिक सबल और परिपुष्ट ही करता।

पर प्रश्न के इन समग्र अवयवों और अंग-उपांगों पर आवरण डालकर ब्रिटेन ने अपने समस्त प्रचार यंत्रों, विपुल साधनों, और अपरिमित उपायों का अवलंबन भारत के विरुद्ध प्रचार करने में लगा डाला। जगत् के कोने कोने में कांग्रेस और गांधीजी को आक्रमणकारियों के सामने आत्म-समर्पण का समर्थक घोषित किया गया। भारत के धन से परिपालित सरकारी अहलकार, सिविल सर्विस के सदस्य तथा भारत की लूट से पलनेवाले गवर्नरों ने देश में घूम-घूम कर अहिंसा की हँसी उड़ायी और भारत के उचित अधिकार का अपहरण कर रखने के लिए उसे बहाना बना डाला। ब्रिटेन द्वारा की जानेवाली इस असत्य पूजा और अनैतिक अनर्गल प्रलाप को भी गांधीजी पीते

गये। वे ब्रिटेन की हेय मनोवृत्ति और कुत्सित नीति से क्षुब्ध थे, फिर भी संकटग्रस्त ब्रिटेन को अधिक संकटापन्न करने के लिए उनकी उज्ज्वल, पूत और प्रदीप्त आत्मा तैयार न थी। सन् १९४१ ईसवी में उन्होंने भारत के क्षोभ को प्रकट करने और जगत् का ध्यान भारत के प्रश्न की ओर आकर्षित करने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ किया, पर निष्पक्षदर्शी यह जानता है कि उसमें भी उन्होंने अपनी सदाशयता, उदारता और उन्नत हृदयता का ही परिचय दिया। वह आंदोलन भी निरंकुश और उद्दंड ब्रिटिश सरकार द्वारा उपहास्य हुआ। अदूरदर्शी, कल्पना-विहीन तथा मदमत्त ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने उसे भारत की निर्बलता और निर्जीवता समझी। उनमें इतनी उच्चता कहाँ थी कि वे किसी दूसरे के द्वारा किये गये अपने उपकार की अनुभूति करते। गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के आंदोलन को सांकेतिक बनाये रखा। उसे उन्होंने भारतीय राष्ट्र के प्रति किये गये ब्रिटेन के दुर्व्यवहारों का प्रतिरोध करने के लिए एक प्रतीक के रूप में उपस्थित किया क्योंकि साम्राज्यवादी दुष्ट नीति के रहते हुए भी उस समय वे ब्रिटेन पर वार करना नहीं चाहते थे जब वह संकट से आच्छन्न था। गांधीजी के लिए ही यह संभव था कि वे देश की तत्कालीन मनः स्थिति में भी इतनी धीरता और संयम का परिचय देते। ब्रिटिश सरकार एक ओर भारतीय आकांक्षाओं का हनन कर रही थी, राष्ट्र का तिरस्कार कर रही थी और दूसरी ओर युद्धकालीन योजनाओं के द्वारा भारत को पीसे डाल रही थी। युद्ध की आवश्यकता के नाम पर शक्ति और अधिकार का भयावना केंद्रीकरण तो स्वभावतः सर्वत्र हो जाता है। लोक-तंत्रात्मक देशों में जहाँ प्रतिनिधि-मूलक शासन-सत्ताएँ स्थापित रहती हैं वहाँ भी युद्ध के सफल संचालन के लिए वे समस्त अधिकारों का केंद्रीकरण कर लेती हैं। पर जिन देशों में निरंकुश और अनुत्तरदायी राजशक्ति

हो वहाँ की तो बात ही मत पूछिये। भारत दुर्भाग्य से ऐसा ही प्रदेश था। इस देश में निरंकुश नौकरशाही सदा से मनमाना नर्तन करती रही है। फासिटी शासन की कल्पना यहाँ सजीव और सक्रिय रूप में पहले ही स्थित थी। आज युद्ध के नाम पर वह विकराल हो उठी थी। तिस पर वह सत्ता विदेशी थी। तितलौकी जब नीम पर चढ़ गयी तो भला क्या पूछना? भारत का दोहन इस प्रकार आरंभ हुआ मानो सारा राष्ट्र जीवन-रस से हीन पीला बना दिया जायगा। दरिद्र भारत, अन्न और वस्त्र के अभाव में भूखा और नंगा भारत, भयावने युद्ध-व्यय के भार से त्राहि त्राहि कर रहा था। कहीं चंदे की वसूली, कहीं ऋण-पत्रों की बिक्री, कहीं अन्न की जबर्दस्ती खरीद। कल-कारखाने युद्ध सामग्री बनाने में संयोजित। जीवन का भयावना नियंत्रण। चतुर्दिक् अभाव ही अभाव का एकमात्र हाहाकार! शासन-पद पर जन-सत्ता नहीं जो देशवासियों की आवश्यकताओं का कुछ ध्यान रखती। परि-स्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुईं जिनमें असंतोष और विक्षोभ का उदय स्वाभाविक था। यदि सरकार अपनी होती, यदि भारतीय जनता यह अनुभव करती होती कि यह युद्ध उसका युद्ध है, यदि उसमें यह भाव होता कि वह अपने देश की स्वतंत्रता के लिए, राष्ट्रीय गौरव के लिए, अपनी संतति के कल्याण के लिए, अपने चूल्हे-चक्की के लिए अथवा जगद्धित में किसी महान् आदर्श की संसिद्धि के लिए लड़ रही है तो निस्संदेह महान् कष्टों, अपरिमित बलिदानों और कठोर त्याग के लिए हृयद में उल्लास और भावुकता लिये अग्रसर होती। पर आज उसमें इन बातों की कोई अनुभूतिन थी। धमनियों का रक्त वैसे ही सूख रहा था, हृदय का स्पंदन वैसे ही मंद था, जीवन की गति में वैसी ही निश्चेष्टता थी, जो अनुभूति हो रही थी वह यही कि आज वह व्यर्थ पीसी जा रही है। यह सब सहन करने के बाद भी उसका भविष्य

अंधकाराच्छन्न ही रहेगा। फलतः देश में सर्वत्र प्रतिवाद और क्षोभ फैल रहा था और विदेशी सत्ता इस रोष के मूल कारण को दूर करने के स्थान पर उसे बलपूर्वक कुचलने में लगी हुई थी। देश में ऐसे व्यापक कानूनों की रचना कर दी गयी, निरंकुश सरकार के हाथों में ऐसी अपरिमित शक्ति और अधिकार केंद्रीभूत कर दिया गया कि वे निस्संकोच राष्ट्र का कंठावरोध करने में समर्थ हो गये। भारत में मानो सैनिक विधान जारी हो गया। जिस प्रकार किसी पराजित शत्रु-देश में विजयी सेना जब जमकर बैठ जाती है और उस समय पराभूत देश की जनता के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है, ठीक वैसा ही व्यवहार भारत के प्रति आरंभ कर दिया गया।

जनाधिकार से जनता वंचित तो पहले से ही थी पर अब उसकी रही सही मौलिक स्वतंत्रता भी अपहृत हो गयी। प्रेस के अधिकार छिने, मिलने जुलने और सभा करने के अधिकार छिने, बोलने और मत व्यक्त करने के अधिकार छिने। किसी का जीवन, किसी की संपत्ति, किसी का संमान भी सुरक्षित न रहा। किसी के गले से यदि चीख भी निकल जाय तो निरंकुशता की निष्ठुर अँगुलियाँ उसे धर दबोचने के लिए वहाँ पहुँची दिखाई देतीं। कल्पना कर लीजिये भारत की दयनीय परिस्थिति का। युद्ध उसके लिए नहीं, पर वह युद्ध का बलि-पशु बलपूर्वक बना दिया गया। युद्ध के संचालन में उसका अधिकार नहीं, सरकार में अधिकार नहीं, देश में अधिकार नहीं, मनुष्यता में अधिकार नहीं, अपने घर में भी अधिकार नहीं। शेष था केवल कर्तव्य ही कर्तव्य जिसके निर्धारण में भी उसका अधिकार नहीं। आज उसका काम केवल इतना था कि वह पराधीन रहे, पैरों तले रौंदा जाय, प्रभुओं के चरणों में सर्वस्व अर्पण कर दे, ठोकर के बाद ठोकर खाता जाय पर अपनी स्थिति पर आँसू भी न बहाये। विचार कीजिये कि

भारत की स्थिति नाजियों द्वारा पददलित किस अभागे राष्ट्र से अच्छी थी। किस पोलैंड, किस फ्रांस, किस यूनान से भारत की अवस्था अच्छी थी। यह स्थिति दिन दिन गंभीर होती जा रही थी, राष्ट्र अपना धैर्य खोता जा रहा था, और भारत के वे वामपक्षी दल जिनके लिए देश की दशा असहनीय हो रही थी एक बार ही जलकर भस्म हो जाना अच्छा समझ रहे थे; पर इस अपमान और उस निर्दलन के द्वारा सिसक सिसक कर मरना व्यर्थ समझ रहे थे। यह आश्चर्य की बात है कि इतने पर भी गांधीजी ने अपनी धीरता न खोयी। युद्धारंभ हुए तीन वर्ष बीत चुके थे, कांग्रेस ने ब्रिटेन की सरकार को आवश्यकता से अधिक अवसर प्रदान कर दिया था, उसकी नीति और दृष्टि को कसौटी पर भली भाँति कस लिया था, उसने यह समझ लिया था कि इतने महान् संकट ने भी ब्रिटेन के हृदय को न परिवर्तित किया और न अपने पापों का प्रायश्चित करने की उसे उत्प्रेरणा प्रदान करने में समर्थ हुआ। यह सब देखते और सुनते गांधीजी अविचल थे। वे प्रतिरोध की सजीव प्रतिमा हैं, महान् संघर्षों का सर्जन करने में पटु हैं, बड़े से बड़े संकट का सामना करने का साहस रखते हैं। देश पर उनका असाधारण प्रभाव है, राष्ट्र के एक कोने से दूसरे कोने तक विद्रोहानल सुलगा देने की शक्ति रखते हैं और उनके एक एक संकेत पर लाखों सर कटने के लिए तैयार हो जा सकते हैं। यह सब होते हुए भी वे धीर-गंभीर और उदार बने हुए थे यह उनके ही लिए संभव था। जो व्यक्ति एक मात्र नैतिक दृष्टि से संचालित होता है, जिसकी दृष्टिधारा साधारण सांसारिक हानि-लाभ, यश-अपयश, पद-प्रतिष्ठा की परिधि का भेदन करके कहीं दूर उस पार बहती रहती है वही बाह्य परिस्थिति और तात्कालिक क्षोभ या प्रलोभन की उपेक्षा करके तथा अपने को उसके प्रभाव से बड़ी सीमा तक अछूता रखने में समर्थ होता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि गांधीजी परिस्थिति से प्रभावित नहीं होते। इसके विपरीत वे उससे अत्यधिक प्रभावित होते हैं, उसके द्वारा कालात्मा का दर्शन करते हैं, उसकी पुकार को सुन लेते हैं। यह सबहोते हुए भी वे कर्तव्याकर्तव्य का दर्शन अपनी प्रबुद्ध आत्मा के उस ज्योतिर्मय अंतराल में करने में समर्थ होते हैं जहाँ उनकी चिन्मूलक नैतिक दृष्टि प्रवेश करने में समर्थ हो जाती है। फलतः वे यह समझ रहे थे कि ब्रिटेन के अनीति-घट का वह विन्दु अभी नहीं पहुँचा है जब संकट से आच्छन्न होते हुए भी उससे भिड़ना ही धर्म हो जाता है। मानव समाज के उत्तमांश और उज्ज्वलांश में गांधीजी का अविचल विश्वास उन्हें निराश नहीं होने देता। वे अंतिम क्षण तक यह आशा करते रहते हैं कि अनीति-पथ का यात्री कदाचित् अब भी सँभल जायगा और शुभ दिशा की ओर उलट पड़ेगा। ब्रिटेन कदाचित् अब भी उचित पथ का अनुगामी हो जाय और यदि नहीं होता तो कम से कम तब तक उसे अवसर प्रदान किया जाय जब तक वह विन्दु नहीं पहुँच जाता जिसके बाद चुप रहना नीति की ही हत्या हो जाने देना है। सन् १९४२ ईसवी का आरंभ हो गया था, पर गांधीजी ब्रिटेन से निराश नहीं हुए थे। जापान का आक्रमण पृथ्वी की प्राची में प्रशान्त के वक्षस्थल को फाड़े डाल रहा था। यह नया संकट कदाचित् ब्रिटेन की आँखें खोल दे। जापान का आघात प्रचंड वज्रपात की सदृश सहसा हुआ। पर्लहार्बर में स्थित अमेरिकन जलसेना उसकी मार से छिन्न भिन्न हो गयी। फिर तो जापानी शक्ति बड़वानल की भाँति समस्त प्रशान्त को आगर्भ विक्षुब्ध करने लगी। अनाम गया, फिलिपाइन्स गया, चीन के ब्रिटिश प्रदेश हाँगकाँग में उड़ती ब्रिटिश ध्वजा टूट कर समुद्र में जा गिरी। जापानी सेना एक के बाद दूसरे प्रशान्तीय टापुओं को उदरस्थ करती आस्ट्रेलिया के नाके तक चढ़ बैठी। इधर मलाया में उसने

पदार्पण किया। उस प्रायद्वीप को रौंदती हुई सिंगापुर पर जा धमकी। सुनते थे सिंगापुर अभेद्य दुर्ग है। ब्रिटिश शक्ति का पूर्व का जिब्रालटर है, सारे पूर्वी भूखंड को नाथे रखने का सूत्र है। पर जापान के प्रचंड आघात से वह ऐसा गिरा मानो बालू की दीवार ढह रही हो। देखते देखते उसकी सारी अभेद्यता लुप्त, दृढ़ता चूर और अभिमान धूल में मिल गया। 'रूल ब्रिटानिया रूल दि वेव्जा' की कल्पना में मस्त रहनेवाली ब्रिटिश शक्ति को आज आत्मसमर्पण करते जगत् ने देखा। ब्रिटिश सैनिक सिंगापुर से भगे और ऐसे भगे कि उलट कर पीछे देखने का साहस न हुआ। जापानी रण-वाहिनी उन्हें खदेड़ती हुई ब्रह्म प्रदेश में घुसी और बर्मा का आज एक, कल दूसरा और परसों तीसरा नगर जापानियों का चरण चाटता दिखाई देने लगा। धीरे धीरे वह बर्मा जिसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने सुदृढ़ दंतों से बल पूर्वक पकड़े हुए थे, अंगरेजी सत्ता से रहित होकर जापानी-सैन्यवाद के शिकंजे में जा फँसा। अँगरेज बर्मा से भगे और अंततः उस प्रसिद्ध टापू को भी छोड़ते आये जिसकी भूमि न जाने कितने भारतीय देशभक्तों के चरणों की पावन रज से पूत हो चुकी थी। मेरा तात्पर्य अंडमन से है, जहाँ न केवल अपराधियों की बस्ती थी प्रत्युत जहाँ भारतीय देशभक्तों की हड्डियाँ और भस्मावशेष भारतीय पराधीनता के अंत की राह अब तक देख रहे हैं। विचारा बर्मा अब तक ब्रिटिश दासता की आग में जल रहा था। आज उस पर जापानी विमानों का प्रलयंकर नभानल वर्षण हो रहा था और दूसरी ओर भागती ब्रिटिश सेना बर्मा के ही पेट्रोल और मिट्टी के तेल का प्रयोग करके बर्मा को ही भभकती अग्नि में समर्पण करती हुई लौटी। बर्मा यदि ब्रिटिश अधिकार में नहीं रहा तो जापानी भी उससे कुछ न पा सकें और पावें तो उस देश की धधकती चिता पावें। यह था पराधीनता

का मूल्य जो बर्मा को चुकाना पड़ा। युद्धारंभ होने पर बर्मी नेता ब्रिटेन से अनुनय विनय करते करते थक गये कि उसकी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी जाय और बर्मा अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए पूरी शक्ति के साथ ब्रिटिश नेतृत्व में युद्ध में भाग लेने के लिए उठ खड़ा हो। पर प्रगतिशीलता के तथोक्त पुजारी, मानव स्वतंत्रता के रक्षक और पोषक बननेवाले, न्याय के अवतार होने का दावा करनेवाले ब्रिटिश राज-नीतिज्ञ बर्मा के उस प्रस्ताव को उद्दंडतापूर्वक ठुकराने में लज्जित न हुए। पर असहाय और निहत्थे तथा मित्रता के आकांक्षी बर्मी राष्ट्र का अपमान किया जा सकता था और उसका गला धर दबाने की योजना परिचालित की जा सकती थी किन्तु इतिहास की धारा का अवरोधन करना किसकी शक्ति की बात थी? वही बर्मा आज हाथ से निकल गया और अनेक दशकों से स्थापित ब्रिटिश सत्ता सप्ताहों में लुप्त हो गयी। अंततः भारत ने देखा कि जापान भारत के पूर्वी द्वार पर पहुँचा हुआ उसे खटखटा रहा है। उसने आँखें उठाकर ब्रिटेन की ओर देखा। सोचा कि कदाचित् अब भी ब्रिटिश सरकार भारत के ऊपर दया करे। साम्राज्यवाद की इमारत भर-भरा कर गिर रही थी। जगत् ब्रिटिश शक्ति के पलायन का दृश्य देख रहा था। आज भारत अपनी पराधीनता के कारण असहाय, निहत्था और परावलंबी हो गया था। आज भारत संकटाच्छन्न था, क्योंकि पराधीन था। उसपर दोहरा संकट मँड़रा रहा था। विदेशी आक्रमण का संकट था, पर उससे भी बड़ा संकट था देश की वह निर्बलता जिसके फलस्वरूप भारतीय जनता अपनी मातृभूमि की रक्षा करने में भी असमर्थ थी।

अब राष्ट्र के संमुख सब प्रश्नों का प्रश्न यह था कि इस स्थिति में भी ब्रिटेन क्या करता है? क्या अब भी वह भारत की स्वतंत्रता स्वीकार करके न केवल इस देश की अपितु जगत् की उस कोटि कोटि

जनता की आत्मा का उज्जीवन करेगा जो आज दलित और शोषित, प्रताड़ित और प्रवंचित होकर जीवन की सारी आशा छोड़कर मूर्च्छित पड़ी हुई है। आक्रमणकारियों का मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए नयी शक्ति और नयी स्फूर्ति तो नितान्ततः अपेक्षित थी। वर्तमान के उपासक इस नवाघात का सामना करने में पूर्णतः अशक्त और असमर्थ हो रहे थे यह स्पष्ट था। आज आवश्यकता थी इतिहास की नव-धारा के लिए मार्ग उन्मुक्त करने का। प्रतिशोध, प्रतिहिंसा और प्रतिक्रिया का जो भयावना प्रवाह उमड़ चला था उसे मध्य में ही रोक रखने की शक्ति जगत् के उस विराट लोक-समूह में थी जिसका कुंठन स्वार्थान्ध साम्राज्यवाद और जातिगत प्रभुता कर रही थी। लोक-शक्ति का आश्चर्य-जनक प्रदर्शन हुआ था चीन में, जहाँ वर्षों से चीनी जनता प्रबल सैन्यवादी जापानियों से लोहा ले रही थी। लोक-बल का आशाजनक, स्फूर्तिवर्धक और तेजस्वी प्रमाण मिला था रूस में, जहाँ का जनवर्ग उस नाजी तूफान में सफलतापूर्वक अटल खड़ा था जिसने यूरोप की धरती पर विशाल-शक्ति-संपन्ना राजसत्ताओं का ध्वंस देखते देखते कर डाला था। आज भारत में उसी लोक-देव के जागरण की अपेक्षा थी। स्मरण रखने की बात है कि जन-प्रभु की मूर्च्छा भंग करके उसे चैतन्य करने का एक मात्र उपाय था स्वातंत्र्य-सूर्य की उन प्रखर किरणों का उदय जो जीवन को गति और रक्त को उष्णता प्रदान करती। आज भारत की स्वतंत्रता न केवल भारत के जीवन-मरण का प्रश्न था प्रत्युत जगत् के भावी इतिहास का मेरुदंड और निर्णायक था। इस देश की स्वतंत्रता की घोषणा संकेत होता उस विनाशक साम्राज्यवाद के विघटन का जो जगत् की करोड़ों जनता के लिए साक्षात् मृत्यु के तुल्य था। विश्व की समस्त और विशेषकर आफ्रिका और एशिया की उत्पीड़ित जनता भारत में नये अध्याय के प्रवर्तन मात्र से विश्व के स्वरूप को बदलते और

भविष्य पर पड़े परदे को उठती देखते। फिर क्या यह ध्रुव नहीं था कि उनमें नया जीवन, नया ओज, नया तेज और नयी स्फूर्ति का उदय हो जाता? बेड़ियों के बन्धन से उन्मुक्त यह जन-समाज यदि उठ खड़ा होता तो जगत् की कौन-सी शक्ति थी जो उसके हुँकार मात्र से भस्म होती दिखाई न देती। लोकतन्त्रवादी मित्र-पक्ष की विजय को निश्चित बना देने के लिए इससे बढ़ कर दूसरा कौन सा आयोजन होता? भारत के लिए तो सिवा इसके दूसरा मार्ग ही नहीं था। उसकी अपरिमित शक्ति का जागरण उसी दशा में संभव था जब वह यह देखता कि उसका वर्तमान मर चुका है और आज उसे अपने रक्त से अपने भविष्य का चित्रांकन करना है।

भारत का नेतृ-वर्ग अपने देश की दशा देख कर विकल था। वह देख रहा था कि भारत उस भयावनी मनःस्थिति के पंजे में पड़ा हुआ है जिसका निराकरण न हुआ तो उसका विनाश हुए बिना बाकी न रहेगा। अँगरेज अधिकारी नहीं जानते थे कि भारत की गली-गली, नगर-नगर, एक-एक झोपड़ी और एक-एक व्यक्ति चुपचाप सोये रहने में ही तुष्ट था। उस पर आधिपत्य था आज उस नैराश्य पूर्ण मनोवृत्ति का जो यह समझती है कि हमारी स्थिति किसी भी दशा में आज से तो खराब हो ही नहीं सकती। एक-एक भारतीय नर-नारी, बाल-वृद्ध यही समझ रहा था कि जो युद्ध हो रहा है उससे हमारा कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता क्योंकि हार हो या जीत, हम जहाँ हैं वहीं रहेंगे। इस जड़ता और विषमय प्रभाव का सर्जन हो रहा था परतन्त्रता के द्वारा और ब्रिटिश सरकार उसके लिए उत्तरदायी थी। भारत का नेतृवर्ग विकल था यह देख कर कि इस परतंत्रता के फलस्वरूप भारत का सर्वनाश हुआ चाहता है। भारत के साथ साथ जगत् की स्वतंत्रता, उत्थान और भविष्य का भी संहार होने जा रहा है। इस स्थिति में परिवर्तन

का एक ही और केवल एक ही अमोघ उपाय यह था कि भारत स्वतंत्र हो और देश की रक्षा के उत्तरदायित्व की अनुभूति से उज्जीवित हो। अब वह अवसर आ गया था जब स्वार्थ और मद में अंधी ब्रिटिश नीति परिवर्तित होती। यदि अब भी उसकी गति नहीं बदलती तो उसे ज्यों का त्यों परिचालित होने देना देश के प्रति, मानवता के प्रति, जगत् की स्वतंत्रता के प्रति और भविष्य के प्रति, तथा नीति-न्याय की समस्त भावनाओं के प्रति विशुद्ध विश्वासघात करना होगा। फलतः कांग्रेस ने एक बार ब्रिटिश सरकार की ओर पुनः आशा से देखा और इधर देश में देश की रक्षा की भावना, स्वावलंबन की शक्ति और संकट का सामना करने का भाव उत्पन्न करना आरंभ कर दिया।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने अनुभव किया कि भावी परिस्थिति भारत की अधिकाधिक सहायता की अपेक्षा करती है। युद्ध के प्रति भारतीय राष्ट्र की उदासीनता के परिहार की इच्छा उसमें भी उत्पन्न हुई और वह इच्छा सर स्टेफर्ड क्रिप्स के भारतागमन में सक्रिय रूप से व्यक्त हुई। देश ने अनुमान किया कि कदाचित् इस अंतिम क्षण में भी ब्रिटेन की सद्बुद्धि जागरित हुई हो। बड़ी भूमिका बाँधते और बड़ी घोषणाओं और बड़ी सद्भावनाओं को व्यक्त करते हुए सर स्टेफर्ड भारत पहुँचे। वे स्वयं भारतीयों के लिए अपरिचित नहीं थे। ब्रिटेन के वामपक्षीय दल में उनका ऊँचा स्थान था, वे समाजवादी समझे जाते थे, ब्रिटेन के राजदूत के रूप में मास्को में निवास कर चुके थे। रूस को युद्ध में लाने का श्रेय उन्हें दिया जा रहा था। रूस में उनकी सफलता ने उन्हें ब्रिटेन के राजनीतिक अंतरिक्ष का उज्ज्वल नक्षत्र बना दिया था। युद्ध में बार बार की असफलता और यूनान में, क्रीट में, उत्तर आफ्रिका में, मलाया और बर्मा में ब्रिटेन की पराजय ने उस समय चर्चिल के ग्रहों को मंद कर दिया था। चर्चिल की सरकार के प्रति स्वयं ब्रिटिश

जनता का क्षोभ बढ़ रहा था। ऐसे समय जब सर स्टेफर्ड मास्को से लंदन वापस पहुँचे और मास्को में ब्रिटिश नीति की सफलता का श्रेय लिये हुए पहुँचे तो सहसा न केवल ब्रिटिश जनता का प्रत्युत जगत् का ध्यान उनकी ओर केन्द्रित हो गया। लोगों का कहना है कि सर स्टेफर्ड इतने लोकप्रिय हो गये थे कि यह समझा जा रहा था वे चर्चिल के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में अवतरित हुए हैं और कोई आश्चर्य न होगा यदि एक दिन ब्रिटेन के प्रधान मंत्रित्व का मुकुट उनके ही मस्तक पर सुशोभित दिखाई दे। भारत में तो सर स्टेफर्ड अपनी वाम-पक्षीयता और भारत-प्रेम के लिए प्रसिद्ध थे। समय समय पर इस देश की आकांक्षा के समर्थन में वे अपनी आवाज उठाया करते थे। भारतीय नेताओं और विशेषकर जवाहरलालजी से उनकी प्रगाढ़ मित्रता समझी जाती थी। फलतः जब यह घोषणा हुई कि ब्रिटिश सरकार सर स्टेफर्ड को भारत की समस्या हल करने की योजना लेकर भेज रही है तो एक बार सारे देश में आशा का संचार हो उठा। सारा भारतीय राष्ट्र उत्सुकतापूर्वक आगत मुहूर्त की ओर देखने लगा। फलतः एक दिन समाचार मिला कि सर स्टेफर्ड भारत पहुँच गये। भारत आने के बाद उन्होंने एक घोषणा भी कर दी जिसमें ब्रिटेन की प्रस्ताव की रूपरेखा स्थूल रूप से अंकित थी। क्रिप्स की योजना की विस्तृत विवेचना करना यहाँ संभव नहीं है, पर एक शब्द में यह कह सकता हूँ कि उसमें ऊपर से नीचे तक साम्राज्यवादी मनोवृत्ति, आकांक्षा और प्रवंचकता भरी हुई थी। वही वाक्जाल, मुख्य प्रश्न को टालने और आवरित करने की वही चेष्टा, काल की पुकार की वही उपेक्षा, वास्तविकता और परिस्थिति की आवश्यकता के प्रति वही उदासीनता और कल्पना तथा दूरदर्शिता का वही अभाव था जो साम्राज्यवादियों की विशेषता हुआ करती है।

आज ब्रिटेन में यदि बुद्धि होती और वह सचमुच जगत् के इतिहास की धारा को नयी दिशा प्रदान करने का आकांक्षी होता तो यह भली-भाँति देख सकता था कि संप्रति वह मुहूर्त उपलब्ध है जिससे लाभ उठाकर वह मानवता के इतिहास में अमर तथा परम पूज्य स्थान प्राप्त कर सकता है। गत ढाई वर्ष की घटनाओं ने भारत को धीरे धीरे ब्रिटेन के प्रति अपने सारे विश्वास को खो देने के लिए बाध्य किया था। कांग्रेस की एक के बाद दूसरी माँग की उपेक्षा की जाती रही है। क्षोभ और प्रतिवाद की भावना व्यक्त करने के लिए देश ने अब तक जो भी कदम उठाया था वह यद्यपि अति संयत और कोमल था, पर ब्रिटेन ने उससे लाभ उठाने के स्थान पर उसका उद्दंड तिरस्कार किया था। देश के विभिन्न स्थानों में प्रतिष्ठित कांग्रेसी सरकारों ने दो वर्ष पहले ही पद-त्याग कर दिया था पर ब्रिटेन पर उसका क्या प्रभाव पड़ा? लोकतंत्र का दंभ रचनेवाली ब्रिटिश सत्ता स्वयं लोकतंत्र का निष्ठुर हनन करने में संलग्न हो गयी। जनमत का आदर करना तो दूर रहा, उसने भारत के अधिकतर प्रांतों में अनुत्तरदायी गवर्नरों के हाथ में सर्वाधिकार समर्पित करके निरंकुश नौकरशाही को खुल खेलने का वह अवसर प्रदान कर दिया था जिसके सामने घृणित हिटलरी उद्दंडता भी झख मारती। कांग्रेस ने ब्रिटेन के इस व्यवहार को भी चुपचाप पी लिया था। इसके बाद एक नहीं, अनेक बार कांग्रेस ने युद्ध में भाग लेने की, ब्रिटेन के पक्ष में, जगत् की स्वतंत्रता के लिए, आक्रमणकारिता का विरोध करने के लिए शस्त्र उठाने और देश का सर्वस्व अर्पण कर देने के लिए, उत्सुकता प्रकट की। भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की उसकी माँग इसीलिए उपस्थित की गयी थी कि वही एकमात्र औषध था जिसके द्वारा भारतीय जनता जीवनाहुति के पथ पर सोत्साह अग्रसर होने के लिए उत्प्रेरित की जा

सकती थी। पर भारत की इस माँग का न केवल उपहास किया गया प्रत्युत उसके भविष्य को सदा के लिए कंटकाकीर्ण कर देने की चेष्टा की गयी थी। सांप्रदायिकता को उत्तेजित करके उसके विक्षत मर्म पर आघात किया गया, कांग्रेस के पद, उसकी प्रतिष्ठा और उसके अधिकार का मूलोच्छेद करने की चेष्टा की गयी और भारतीय नेताओं का अपमान किया गया। इसके बाद भी कांग्रेस ने केवल सांकेतिक आंदोलन के द्वारा भारत की ओर जगत् का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की। पर उसका भी कोई प्रभाव न हुआ। अहिंसा की हँसी उड़ायी गयी और यहाँ तक कह डाला गया कि भारत को आक्रमणकारियों के सामने आत्मसमर्पण कर देने की शिक्षा दी जा रही है। ये समस्त परिस्थितियाँ ब्रिटेन और भारत को पृथक् करनेवाले गह्वर को अधिकाधिक गहरी ही करती जा रही थीं। पर यह सब होते हुए भी आज ऐसा क्षण उपस्थित था जब भारत को अपना अनुगामी, कृतज्ञ और मित्र बनाया जा सकता था। रूस पर हुए जर्मन आक्रमण ने, जापान द्वारा चीन की दुर्दशा ने और भारत पर जापानी विभीषिका के टूट पड़ने की आशंका ने भारतीय राष्ट्र के हृदय में उदार भावना संचारित कर दी थी। देश उत्सुक था रूस की सहायता करने के लिए, चीनी राष्ट्र की रक्षा के महान् प्रयत्न में भाग लेने के लिए और भारत पर मँड़राती जापानी विभीषिका का संहार करने के लिए। वह उत्कंठित था देश में उस परिस्थिति के शीघ्रोदय के लिए जिससे संभूत वातावरण भारतीय राष्ट्र को जगत् के इतिहास के अति महत्वपूर्ण अवसर पर अपना सफल अभिनय करने का संयोग प्रस्तुत कर देता। आज यदि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को देखने की शक्ति और समझने की क्षमता होती तो वे भारत की मनोदशा का आभास भलीभाँति प्राप्त करते और उस गहरी उत्कंठा, तीव्र उत्सुकता तथा प्रबल आकांक्षा की अनुभूति करते जो देश में सर्वत्र व्याप्त हो रही थी।

भारत का नेतृवर्ग ब्रिटेन से किसी प्रकार का समझौता हो जाने की इच्छा से अभिभूत था। उसकी जो माँग थी, भारत का जो मानवता से मत और न्यायानुमोदित अधिकार था, जिसकी प्राप्ति के लिए देश दशकों से संघर्ष करता आया था और जिस संघर्ष से उसने अपार कष्ट उठाया था, असीम त्याग किया था और अपूरणीय क्षति उठायी थी उससे नीचे उतर कर भी यदि संभव हो तो समझौता करने के लिए वह तैयार था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ऐसे तेजस्वी और वाम-पक्षी नेता भी आज इसी भावना से अभिप्रेरित और प्रभावित थे। जब यह थी भारतीय परिस्थिति की आधार-पीठिका तो क्या ब्रिटेन के लिए सुंदर सुयोग उपस्थित न था? थोड़ी उदारता, कल्पना और दूरदर्शिता से काम लेकर क्या वह सदा के लिए भारत की समस्या हल करने में समर्थ न होता? निर्विवाद समझिये कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों में यदि बुद्धि होती तो वे भारत की समस्या न केवल हल कर देते, उसकी कृतज्ञता और मित्रता की प्राप्ति करते पर उस समस्या को स्पष्टतः अपने पक्ष में और अपने स्वार्थ के अनुकूल हल कर लेते। न केवल युद्धकाल में प्रत्युत युद्धोत्तर विश्व और तत्काल उत्पन्न होनेवाली परिस्थिति में ब्रिटेन को भारत की कितनी आवश्यकता पड़ेगी यह राजनीति का साधारण विद्यार्थी भी समझ सकता है! सीधी सी बात है कि युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटेन के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित होगा। उसके सामने एक नहीं अनेक जटिल और विकट समस्याएं उत्पन्न होंगी। युद्धोत्तर विश्व में न आज की शक्ति-तुला रहेगी, न आज की व्यवस्था रहेगी और न आज का अवसर रहेगा। आज के न जाने कितने प्रबल राष्ट्र चूर हुए रहेंगे और दूसरे जो अबतक पीछे पड़े थे चमकते दिखाई देंगे। युद्धकाल की आवश्यकताओं और अनुभूतियों के फलस्वरूप राष्ट्रों की आज की पारस्परिक मित्रता और बंधन छिन्न-भिन्न हुए रहेंगे।

विभिन्न राष्ट्रों की नयी-नयी आवश्यकता उदीयमान हुई रहेगी जिसके अनुसार नयी मित्रताओं और शत्रुताओं तथा स्वार्थों का प्रजनन हुआ रहेगा। व्यापारिक और व्यावसायिक, राजनीतिक और अंतर्राष्ट्रीय, प्रादेशिक तथा आधिकारिक क्षेत्रों में नये-नये प्रतिद्वन्द्वी और दावेदार उत्पन्न हुए रहेंगे। इस उलट-पलट में आज की व्यवस्था और स्थिति भला कहाँ टिकी रह सकेगी? न किसी का कोई व्यापार-क्षेत्र, न अधिकार क्षेत्र, न किसी के व्यवसाय के लिए आज की बाजार और न आर्थिक क्षेत्र वैसे ही रह जायेंगे जैसे आज हैं ?

ब्रिटेन भलीभाँति इस स्थिति से परिचित है। वह जानता है कि स्वयं उसके आजके मित्र, रूस और अमेरिका कल प्रबल प्रतिस्पर्धी के रूप में सामने खड़े होंगे। युद्धकाल में अमेरिका ने देश में विशाल कल-कारखानों की सृष्टि की है, उत्पादन की मात्रा कई गुना अधिक बढ़ा दी है, और युद्धकालीन सामग्रियों के निर्माण में देश की कोटि-कोटि जनता को लगा रखा है। करोड़ों नर-नारी सैनिक और युद्धावश्यकता के लिए अपेक्षित पदार्थों के निर्माण-कार्य में लगे हुए हैं। कल युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका क्या करेगा? जब सेना का विघटन होगा तो लाखों बेकार होनेवाले नवयुवक क्या भूखों मरने के लिए बेकार छोड़ दिये जायँगे? आज के बड़े बड़े कल कारखाने जो चौबीसों घंटे वर्षों से चल रहे हैं वे क्या बंद कर दिये जायंगे? क्या लाखों मजदूर बेकार बनाये जायँगे? यदि नहीं ता जो विशाल उत्पादन उस समय होगा उसकी स्थिति क्या होगी? क्या अमेरिका धरती के कोने कोने में अपने पदार्थ पाट न देगा? स्मरण रखने की बात है कि इस युद्ध में जगत् के समस्त राष्ट्र जो मित्र पक्ष में सम्मिलित हैं अमेरिका के ऋणी हैं। अमेरिकन पूँजी, धन-जन इस युद्ध की विजय में सर्वतोधिक सहायक हुआ है। क्या यह सब केवल परोपकार के लिए ही है? क्या

अमेरिकन जनता, पूँजीपति और व्यवसायी युद्ध के बाद यों ही ब्रिटेन के लिए दुनिया की बाजार छोड़कर घर बैठ रहेंगे ? फिर आज अमेरिका का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। आफ्रिका और मध्यपूर्व में, प्रशान्त और चीन में, स्वयं ब्रिटेन के साम्राज्य आस्ट्रेलिया और कनाडा में उसका प्रवेश होता जा रहा है। अमेरिकन पदार्थों के लिए ये ही प्रदेश अब उसके बाजार बनते जा रहे हैं। इस स्थिति में ब्रिटेन क्या करेगा ? उसे युद्ध के बाद अपने विनष्ट व्यवसाय का पुनर्निर्माण करना है, मटिया-मेट हुए कल-कारखानों को खड़ा करना है, सेना में लगे लाखों नवयुवकों को काम देना है, उत्पादन की आज की मात्रा को न केवल बनाये रखना है प्रत्युत बढ़ाते जाना है, कच्चे माल की प्राप्ति करनी है और उत्पन्न पदार्थ को गोदामों में भरकर सड़ाना नहीं बेचना है जिसके लिए अनुन्नत और अनुद्योगिक प्रदेशों की बाजार अपेक्षित है। यदि यह नहीं होता तो उद्ध्वस्त हुए इंग्लैंड की पुनर्रचना नहीं हो सकती। स्पष्ट है कि ब्रिटिश साम्राज्य में भारत ही ऐसा प्रदेश है जिसे वह निरापद समझता है और जिसे अपना बाजार बनाये रखने की इच्छा रखता है। अतः ब्रिटेन को भारत की अनिवार्य आवश्यकता है, इसमें संदेह नहीं। न केवल युद्धकाल में वरन् विजय के बाद युद्धोत्तर विश्व में भी। पर प्रश्न यह है कि ब्रिटेन क्या उस भारत से अपनी आवश्यकता पूर्ण कर सकेगा जो उसका शत्रु हो, जो उसके विरुद्ध खड्गहस्त हो, जो उसके द्वेष में जल रहा हो और जो प्रतिशोध तथा असंतोष में भभक रहा हो ? क्या क्षुब्ध, असंतुष्ट और विद्रोही भारत से वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि करने में समर्थ होगा ? क्या निरंकुश, अंध और प्रमत्त पशुशक्ति से भारत को कुचल कर अपना काम निकालने की आशा वह करता है ? क्या इतिहास पुकार-पुकार कर यह शिक्षा नहीं देता कि केवल शस्त्र से किसी जीवित राष्ट्रका निर्दलन वह भयावनी आग

दहका देता है जिसमें आततायी का समूल नाश भी असंभव नहीं हुआ करता। क्या ब्रिटेन इस ऐतिहासिक सत्य से सर्वथा अपरिचित है ? यदि नहीं, तो क्या यह आवश्यक न था कि ब्रिटेन अपने ही हित और स्वार्थ के लिए एक ऐसे राष्ट्र की मित्रता प्राप्त करने की चेष्टा करता जिसके रक्तमें ही कृतज्ञता और सरलता तथा उदारता भरी हुई है।

(१५)

क्रिप्स-योजना और गांधी

आज वैसी चेष्टा करने का उपयुक्त क्षण उपस्थित हो गया था, पर ब्रिटेन उससे लाभ न उठा सका। क्रिप्स-योजना के रूपमें भारत के सामने वह प्रस्ताव आया जो आमूल-शिखर खोखला था। देखने और सुनने में जो थोड़ा-बहुत आकर्षण पहले था वह भी वैसे-वैसे लुप्त होता गया जैसे-जैसे उसकी पोल खुलती गयी। गांधीजी की तीव्र दृष्टिने उक्त योजना का सारा स्वरूप सर स्टेफर्ड से दो घण्टे की हुई बातचीत में ही समझ लिया। उन्होंने देख लिया कि जो है वह विशुद्ध शब्दाडंबर के कुछ नहीं है। गांधीजी ने अपने अधिक समय का अपव्यय व्यर्थ समझा और दिल्ली से वर्धा के लिए रवाना हो गये। दिल्ली छोड़ने के पूर्व एक अमेरिकन पत्रकारके पूछने पर यह कहते गये कि "सर स्टेफर्ड क्रिप्स यद्यपि बड़े भले व्यक्ति हैं पर आज वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बुरे यंत्र में प्रविष्ट हो चुके हैं। सर स्टेफर्ड यह आशा करते हैं कि वे इस यंत्रका सुधार करने में समर्थ होंगे, पर मैं समझता हूँ कि अन्त में वह यंत्र ही सफल होगा और सर स्टेफर्ड से जितना लाभ उठाना संभव होगा उठा लेगा।" इन वाक्यों में गांधीजी ने न केवल वास्तविकता प्रकट कर दी प्रत्युत भविष्य के चित्रका चित्रण भी कर दिया। यद्यपि वे

समझ चुके थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद जहाँ था वहीं है, फिर भी कांग्रेस कार्यसमिति को सर स्टेफर्ड से समझौते की बातचीत स्वतन्त्र रूप से चलाने के लिए मुक्त छोड़ कर वे वर्धा वापस हुए। फिर तो कार्यसमिति लगातार दो सप्ताहों तक इस विमर्ष और मन्त्रणा में पड़ी रही। जिस उत्साह, आशा किन्तु सतर्कता से वह बढ़ी उसी तीव्रता के साथ दिन प्रतिदिन उसे वास्तविकता का ज्ञान होने लगा। इतने पर भी ब्रिटेन से समझौता करने के लिए कांग्रेस नेतृ-वृन्द कितना उत्सुक था इसका पता उस एक निष्ठ और एकाग्र प्रयत्न से मिल जाता है जो उसने लगातार चौदह दिनों तक किया। अंत में उसने देखा कि क्रिप्स-योजना प्राणहीन है। वह न राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करती है, न देश की रक्षा के उत्तरदायित्व में भारतीयों को अधिकार प्रदान करती है और न रत्ती भर शासनाधिकार का समर्पण करती है। वर्तमान को ज्यों का त्यों छोड़कर भारत के भविष्य की ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत करती है जिसमें देश की एकता और राष्ट्रीयता की कोमल लतिका स्वयं झुलस कर नष्ट हो जाय। अंततः कांग्रेस कार्यसमिति बाध्य हुई यह घोषणा करने के लिए कि वह क्रिप्स-योजना को स्वीकार नहीं कर सकती।

सप्ताहों के विचार, विवेचना और चिंतन के बाद कांग्रेस कार्यसमिति उसी निर्णय पर पहुँची जहाँ गांधीजी पहले ही पहुँच गये थे। देश ने देखा कि गांधीजी की कल्पना और उनका निर्णय ही सत्य था। क्रिप्स-योजना की अस्वीकृति के बाद गांधीजी ने 'हरिजन' में उस पर टीका करते हुए लिखा कि "यह दुर्भाग्य की बात है कि ब्रिटिश सरकार भारत के लिए ऐसा उपहास्य प्रस्ताव उपस्थित करे जिसे देश का कोई वर्ग स्वीकार ही नहीं कर सकता था। उससे भी बढ़कर दुख की बात यह है कि उस प्रस्ताव को लेकर एक ऐसा व्यक्ति आया जो उग्र पंथियों में उच्च स्थान रखता है और भारत का मित्र है। मुझे सर स्टेफर्ड की

नीयत में अविश्वास नहीं है, पर उन्हें कम से कम इतना तो विचार करना चाहिये था कि कांग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य की किसी ऐसी योजना को स्वीकार नहीं कर सकती जिसमें ब्रिटेन से संबन्ध-विच्छेद करने का अधिकार ज्यों ही प्रदान किया गया हो त्यों ही वापस ले लिया गया हो। वे यह भी जानते थे कि भारत को तीन भागों में विभक्त कर देने का प्रस्ताव किया गया है और तीनों भागों को अपने अपने हित तथा आदर्श के अनुकूल विभिन्न सरकार बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है। योजना में पाकिस्तान स्वीकार किया गया है पर वह पाकिस्तान मुसलिम लीग के पाकिस्तान से भी भिन्न है। अंत में देश की रक्षा के संबंध में भारत को किसी प्रकार का उत्तरदायित्व प्रदान करने से भी अस्वीकार कर दिया गया है। सर स्टेफर्ड क्रिप्स ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंग बन जाने के कारण आज अज्ञात भाव से उसके भावों से प्रभावित हो गये हैं।"

उपर्युक्त थोड़े से शब्दों में गांधीजी ने राष्ट्रीय भारत की भावना और प्रतिक्रिया व्यक्त कर दी। इस देश का यह अनुभव रहा है कि ब्रिटेन के समस्त राजनीतिक दल, चाहे वे कितने भी प्रगतिशील क्यों न हों, भारत के संबंध में प्रायः समान दृष्टिकोण रखते हैं। जब तक लंबी लंबी बातों की डींग हाँकने का समय रहता है वे भारत के सम्बन्ध में बड़े उग्र और प्रगतिशील भाव व्यक्त करते हैं, पर जब अवसर व्यावहारिक क्षेत्र में उपस्थित होता है तो कट्टरपंथी हों या उदार दल, मजदूर दल हो समाजवादी, सब प्रायः एक ही ढंग से काम करते हैं। आज सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने भारत के उस कटु अनुभव पर अपनी मुहर लगा दी। देश में ब्रिटेन के इस व्यवहार से जो नैराश्य और क्षोभ उत्पन्न हुआ उसकी कोई सीमा न रही।

अब भला ब्रिटिश सरकार से आशा करने का साहस कौन करता?

इस अवसर पर भी जब उसका यही भाव है तो फिर कभी वह उचित नीति का अवलंबन कर सकता है यह बात भी कल्पना के परे हो गयी। जब भारत पर इतना संकट आया हुआ हो, जब मित्र-राष्ट्रों का पक्ष इतनी कठिनाई में पड़ा हुआ हो, जब जगत् का भविष्य, उसकी स्वतंत्रता और न्याय का प्रश्न इतना आपदापन्न हो गया हो, जब भारत समझौते और सहयोग के लिए इतना उत्सुक रहा हो, जब ब्रिटेन को उसकी मित्रता इतनी लाभजनक रही हो, उस समय भी साम्राज्यवादी दृष्टिकोण, मनःस्थिति, स्वार्थ और उद्दंडता यदि उसकी नीति का आधार बनी हुई हो तो भविष्य में क्या होगा, यह सोचना भी दुखद हो गया। भारत के लिए तो ब्रिटिश कुभाव को देखते हुए अब चुप रहना असंभव दिखाई देने लगा। आज उसके सामने असाधारण प्रश्न था। भारत की परतंत्रता का वह क्षण आ गया था जब उसके अंत पर ही देश का जीवन अवलंबित था। यदि भारत को अपना अस्तित्व बचाये रखना है तो उसकी पराधीनता का अंत होना ही एक मात्र मार्ग था। ब्रिटेन उसमें बाधक होकर आज भारतीय राष्ट्र के अस्तित्व के लिए भी भयावह हो रहा था। अनीति और स्वार्थान्धता का वह पात्र जो क्रमशः भरता चला जा रहा था आज आकंठ परिपूर्ण होता दिखाई दिया। गांधीजी ऐसा व्यक्ति जो अनीति से विरत होने का अवसर अंतिम क्षण तक प्रदान करता है, जो मनुष्य के सद्भाव और सदांश में विश्वास करता है अब अनुभव करने लगा कि अनीति का वह विंदु पहुँचा चाहता है जिसके बाद मौनावलंबन करना पाप की विजय होने देना और पशुता के संमुख आत्मसमर्पण करना है। यही नहीं, प्रत्युत इस ऐतिहासिक अवसर पर ब्रिटिश उद्दंडता के सामने मस्तक झुकाना वास्तव में भारतीय विद्रोह की धारा को, भारतीय आकांक्षा और भावना को, भारतीय पौरुष और उसकी नैतिक शक्ति

को सदा के लिए मटियामेट कर देना है। भारतीयता के अपमान का जो घृणित अध्याय वर्षों से चल रहा था उसने देश की प्रतिरोध-शक्ति को यों ही मलिन और मंद कर दिया था; चुपचाप अपमान सहन कर लेना उस कायरता और अधः पतन का सूचक है, जो जीवन को म्रियमाण बना कर ही दम लेता है।

फिर ऐसे समय जब स्वयं अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया हो भाग्य के भरोसे बैठे रहना अपने भविष्य की हत्या अपने हाथों कर देना है। तत्कालीन भारत की मनोदशा का अनुभव उन लोगों को नहीं हो सकता जो जन-जीवन से अलग आकाश में बैठे हुए निरपेक्षतापूर्वक पृथ्वी की ओर कभी कभी दृष्टिपात कर दिया करते हैं। उस मानसिक दशा के संबन्ध में पूछिये उनसे जो जनता के साथ थे, जन-संपर्क में थे और वास्तविकता का साक्षात्कार कर रहे थे। राष्ट्रीय जीवन में एक ओर निराशा तो दूसरी ओर क्षोभ, भविष्य के प्रति अनास्था तो वर्तमान के प्रति घृणा के भाव भयावनी महामारी की भाँति फैलते जा रहे थे। सारा देश यह समझने लगा था कि ब्रिटेन से किसी प्रकार की आशा नहीं है। पर साथ साथ सब यह समझ रहे थे कि वर्तमान स्थिति से कोई भी दूसरी स्थिति स्पृहणीय होगी। ये भाव इस सीमा तक जा रहे थे कि भारतीय जनता जापानियों की विजय और प्रभुता को भी वर्तमान अवस्था से अधिक अपेक्षित मानने लगी थी। क्या जानती है ब्रिटिश सरकार और ब्रिटेन के अंधे राजनीतिज्ञ कि भारतीय जनवर्ग यदि अवसर मिलता तो जापानियों के संमुख स्वेच्छा-समर्पण करता क्योंकि ब्रिटिश सत्ता, ब्रिटिश नीति और व्यवहार ने उसे उस वृत्ति में पहुँचा दिया था जो "यह नहीं, दूसरा चाहे जो" को स्वीकार करने के लिए अग्रसर हो जाती है। उन्हें क्या पता है कि भारत की एक एक झोपड़ियाँ विदेशी आक्रमणकारी के

घृणित चरणों का स्वागत करने के लिए तैयार हो रही थीं। क्योंकि उसके अस्थि-पिंजर को विचूर्ण करनेवाले भयावने ब्रिटिश बूटों का बोझ उसे असह्य हो गया था। अँगरेजों की बुद्धि पर तो वज्रपात हो गया था जो बर्मा की दशा देखकर भी विचार करने के लिए तैयार न थी। जगत् जानता है, अंगरेज जानते हैं और भावी इतिहासकार स्वीकार करेगा कि वह भी राष्ट्र ब्रिटिश विरोधी भावों की आग में जलता हुआ जापानियों का स्वागत करने के लिए उत्सुक हो उठा। बर्मा में ब्रिटेन का पराजय और पलायन का एक मुख्य कारण उन बर्मियों का असंतोष और असहयोग भी था जो आज ब्रिटेन के विरुद्ध प्रतिशोध की आग में सुलग रहे थे।

क्या आज भारत में भी उसी की आवृत्ति होने दी जाय? ब्रिटेन भले ही उसकी उपेक्षा करे, पर भारत का वह जाग्रत् वर्ग कैसे उपेक्षा कर सकता था जो देख रहा था कि यह मनोदशा देश का सर्वनाश सदा के लिए करके छोड़ेगी। वह वर्ग भारत की स्वतंत्रता चाहता था पर स्वतंत्रता के अभाव में प्रभुओं का परिवर्तन नहीं चाहता था। वह प्रतिरोध चाहता था उन समस्त शक्तियों का जो आज भारत का मस्तक कुचल रही थीं अथवा जो भविष्य में उसका मस्तक कुचलने का आयोजन कर रही थीं। पर कहाँ आज यह भाव था? ब्रिटिश कुनीति के गर्भ से उपजा हुआ ब्रिटिश विरोधी भाव नैराश्य की लहरी से मिलकर देश को विनाश की ओर लिये चला जा रहा था। तिसपर देश में घटनेवाली घटनाएँ उन भावों को परिपुष्ट कर रही थीं। बर्मा से भागे हुए भारतीय शरणार्थियों के साथ ब्रिटिश सरकार का भेदमूलक व्यवहार उसके उन काले कारनामों में अग्रणी स्थान रखता है जो सदा के लिए ब्रिटेन के सुनाम पर कलंक के धब्बे के रूप में रहेगा। उसकी रोमांचक कहानियों से भारतीय हृदय विदीर्ण हो गया। भारतीयों का

सर्वनाश, भूख और प्यास से उनका तड़प तड़प कर मरना, भारतीय महिलाओं का सैनिकों द्वारा अपमान, अपने देश में आने पर उनका अनाथों की तरह इधर-उधर भटकना, भारत-भू के एक कोने से दूसरे कोने तक असंतोष का सर्जन कर रहा था। तमाशा यह था कि इस स्थिति की शिकायत करना अपराध घोषित कर दिया गया। सारे देश में स्थापित सैनिक अड्डों के कारण भारतीय जनता जीवन यापन के लिए नितान्त आवश्यक सामग्रियों के अभाव में योंही मर रही थी, बाजार से अन्न और वस्त्र तक गायब होता जा रहा था, पुलिस का अत्याचार बढ़ा हुआ था, अधिकारियों की उद्दंडता असह्य होती जा रही थी, अपने दुःख और अपनी पीड़ा को व्यक्त करना भी अपराध हो रहा था, रुदन और आर्तनाद पर भी कोई ध्यान देनेवाला न था, तिस पर भारतीयों के साथ यह भेद-मूलक व्यवहार ब्रिटिश नीति और ब्रिटेन के स्वरूप को भारत के सामने अनावृत करके उपस्थित किये दे रहा था। भला ब्रिटेन से और उसके युद्ध से भारत को कैसे और क्यों सहानुभूति होती ? क्या इसी प्रकार किसी देश की जनता के रक्त में वह गति, हृदय में वह बल, आत्मा में वह ओज और जीवन में वह तेज उत्पन्न किया जाता है जो उसे अपने प्राण, अपनी संतति और अपनी संपत्ति तक को उत्सर्ग कर देने के लिए उत्प्रेरित करती है ? क्या आज भारत में इसी की आवश्यकता नहीं थी ? क्या ब्रिटिश सरकार इसी में बाधक नहीं हो रही थी ? देश में यत्र-तत्र विदेशी और कामातुर नृशंस सैनिकों के द्वारा भारतीय नारी की पवित्रता पर आघात होना भारत कब सहन कर सकता था ? और जो देश इसे सहन करके भी चुप बैठा रहे उसके पतन की सीमा की क्या कल्पना भी की जा सकती है ? भला वह क्या अपने देश की रक्षा का भार उठावेगा ?

आज भारत में यही अवस्था उत्पन्न हो रही थी। देश का जागरूक वर्ग सारी स्थिति से, प्रस्तुत वायुमंडल से और जो प्रवाह बहता दिखाई दे रहा था उससे विक्षुब्ध होने लगा। राष्ट्रीय जीवन के अंतर्गर्भ में स्पष्टतः ज्वालामुखी सुलगता दृष्टिगोचर होने लगा। ब्रिटिश सरकार को इसकी रंचमात्र भी चिंता न रही। वह अपने पथ से ही जा रही थी और उसी पर चलते जाने का निश्चय प्रकट कर रही थी। अब इस बात की आशा का लेश भी नहीं रह गया था कि उसमें किसी प्रकार का भी सुधार होनेवाला है। क्रिप्स-प्रयास विफल हुआ, पर धीरे धीरे स्पष्ट होने लगा कि ब्रिटिश सरकार उसकी विफलता के लिए ही उत्सुक थी। उसकी सारी चेष्टा, सारा आयोजन और सारा कुचक्र इसलिए था कि उससे जगत् की प्रगतिशील जनता और विशेषकर अमेरिकन जनता प्रवंचित की जा सके। ब्रिटिश सरकार की योजना इसलिए थी ही नहीं कि वस्तुतः उससे भारतीय समस्या हल की जाय। उसके पीछे नीयत यह काम कर रही थी कि संसार में यह प्रचार करने का अवसर मिल जाय कि ब्रिटेन उत्सुक है भारत की रक्षा और स्वतंत्रता के लिए, पर भारतीय स्वयं न उसका हल चाहते हैं और न उनमें इतनी योग्यता, क्षमता तथा एकता है कि वे देश के शासन का और उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व उठा सकें। ब्रिटेन यह सिद्ध कर देने की चेष्टा कर रहा था कि मित्र-पक्ष की विजय के लिए और नाजीवाद तथा जापान की पराजय के लिए अभीष्ट है कि भारत में उसकी सत्ता स्थापित रहे। ब्रिटिश पार्लमेंट में ब्रिटिश राजनीतिक अमेरिका में ब्रिटिश राजदूत तथा समस्त ब्रिटिश-प्रचार-क्षेत्र, ब्रिटेन के प्रायः सभी समाचार-पत्र एक स्वर से भारत के विरुद्ध प्रचार करने लगे। जगत् में इन लोगों ने मिलकर ऐसा प्रचंड कोलाहल मचाया कि विचारे भारत की आवाज नक्कार खाने में तूती की आवाज ही रह गयी। ब्रिटेन के सारे क्रोध और सारे क्षोभ के लक्ष्य-

विंदु गांधीजी बन गये। उसके राजनीतिज्ञों ने यह समझा कि यही एक व्यक्ति है जिसे मूर्ख बनाकर काम निकालने में उनकी सारी धूर्तता असफल होती है। क्रिप्स-योजना की विफलता का सबसे बड़ा कारण वे गांधीजी को समझने लगे। यद्यपि सत्य यह है कि गांधीजी ने कांग्रेस कार्य-समिति को क्रिप्स-वार्ता में भाग लेने के लिए, उनके प्रस्तावों को तौलने और समझने के लिए तथा उचित निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया था तथापि वे ही ब्रिटेन के दुर्भाव और दौर्मनस्य के लक्ष्य-विंदु बना दिये गये। यह सच है कि गांधी भारत का सर्वोत्कृष्ट प्रभावशाली और बलशील व्यक्ति है। यह भी नितांत सच है कि वह कांग्रेस का प्राण है, आज के कांग्रेस का निर्माता है और सारे राष्ट्र का अनन्यतम निर्देशक है, पर जहाँ यह सब सच है वहीं यह भी सच है कि वह प्रकृत्या लोकतंत्रवादी और मानव-व्यक्तित्व की स्वतंत्रता तथा विकास का प्रबल परिपोषक है। आज जगत् का एक भी महान् व्यक्ति ऐसा नहीं है जो हाथों में शक्ति और अधिकार रखते हुए अपनी सनक तथा अपने मत को दूसरों पर न लादने में इतना उदार हो जितना गांधी। भारत का इतिहास जानता है कि अनेक बार ऐसे अवसर आये हैं जब गांधीजी का कांग्रेस कार्यसमिति से गहरा मतभेद हुआ है। भारत का एक-एक बच्चा यह भी जानता है कि गांधी में यह सामर्थ्य थी कि वह अकेले समस्त उद्भट नेताओं का विरोध रहते हुए भी यदि चाहता तो कांग्रेस और देश को अपने साथ ले जा सकता था। गांधी के इतना राष्ट्र का विश्वास प्राप्त करने में कौन समर्थ हुआ? कौन समर्थ है भारतीय जन-समाज के हृदय पर वह अक्षुण्ण अधिकार स्थापित करने में जो आज गांधी के नाम ने स्थापित कर रखा है? पर यह भी गांधी की ही विशेषता और महत्ता है कि उसने कभी अपने इस अधिकार का दुरुपयोग नहीं किया।

अपना विरोध होते देख कर वह मौन हुआ है और कांग्रेस कार्यसमिति को न केवल स्वतंत्र निर्णय करने के लिए छोड़ दिया है प्रत्युत उसके निर्णय के सामने सिर झुकाया है और तदनुकूल उसे आगे बढ़ने में सहायता प्रदान की है।

क्रिप्स-योजना के पीछे कौन-सी धारा थी, क्या कुचक्र रचा जा रहा था यह समझने में और सारे आयोजन का साक्षात् आभास पा जाने में गांधीजी को देर अवश्य नहीं लगी। यह उनकी प्रतिभा, सूक्ष्म दृष्टि तथा वास्तविकता को समझ लेने की शक्ति की विशेषता है कि कूटनीति, प्रवंचन और श्वेत को कृष्ण बना देने में पारंगत ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की एक-एक चाल गांधी के सामने स्पष्ट हो रही थी और वे उसे फँसाने में असफल हुए। यही कारण है कि कुछ घंटों में ही उस व्यक्ति ने क्रिप्स-प्रस्ताव पर अपना निर्णय दे डाला और अपने पथ का निर्धारण कर डाला। इसके बाद दिल्ली में रहना भी उसे समय का अपव्यय करना प्रतिभासित हुआ। पर अपने निर्णय को उसने कांग्रेस कार्य-समिति पर नहीं लादा। यदि किसी में सत्य का प्रेम, न्याय की भावना तथा निष्पक्ष दृष्टि का लेश भी बाकी हो, तो वह देख सकता है कि गांधीजी ने दिल्ली छोड़ा यह सोच कर कि कार्यसमिति उनके मत और व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय कर सके। गांधीजी को कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों की बुद्धिमत्ता, देश-प्रेम, निर्भीकता तथा विवेचनात्मक शक्ति में अदम्य विश्वास था। वे जानते थे कि कार्यसमिति आज उन महान् व्यक्तियों के हाथों में है जो आधुनिक मानव-जगत् की विभूति हैं। यह कार्यसमिति स्वयं गांधीजी की देन है, उन्हीं की रचना है, उन्हीं से प्रसूत है जो गत पचीस वर्षों से भारत के भाग्य की सूत्रधारिणी बनी हुई है। आज एक-एक भारतीय कांग्रेस कार्यसमिति में एकत्र नेतृ-मण्डल पर गर्व कर सकता है

क्योंकि उसे गर्व करने का अधिकार है। भारतीय कांग्रेस की कार्यसमिति उज्ज्वल विभूति है भारत की और इस राष्ट्र के लिए गौरव की वस्तु है। वह शानदार चीज है जिसकी मिसाल दुनिया में नहीं मिल सकती। जरा आँख उठा कर संसार पर दृष्टिपात कीजिये। एक एक देश को देख जाइये और ढूँढ निकालिये कहीं ऐसा नेतृमंडल! जगत् के विभिन्न देशों में हम ऐसे नेताओं को पावेंगे जिनकी बुद्धि की विशालता और मस्तिष्क की प्रखरता असाधारण है। हम ऐसे नेताओं को भी पावेंगे जिनका देश-प्रेम उज्ज्वल है। राजनीति में पटु, कूटनीति में निष्णात, शासन-कला में पारंगत, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीति के संचालन में दक्ष नेताओं की कमी जगत् में नहीं है। पर किसी देश के शासक-मंडल, मंत्रि-मंडल, नेतृ-मंडल को आप ऐसा ढूँढ निकालिये जिसने लगातार पचीस वर्षों तक देश का वही विश्वास, राष्ट्र का वही प्रेम, वही आदर और वही अनुगमन प्राप्त किया हो जो भारतीय कांग्रेस कार्यसमिति को प्राप्त रहा है। फिर ऐसा नेतृ-मंडल खोज निकालिये जिसके हाथों में तलवार न रही हो, जो केन्द्रीभूत शस्त्र-शक्ति का पुंज न रहा हो। शासन अथवा अधिकार-सत्ता से वंचित रहा हो और फिर भी जिसने छोटे-मोटे नहीं प्रत्युत चालीस करोड़ नर-नारियों से आकीर्ण भारत के समान विशाल भूखंड का नयन केवल उँगलियों के संकेत पर किया हो। कांग्रेस कार्यसमिति ने भूल की होगी, परिस्थितियों को समझने में भ्रान्त हुई होगी और संभव है उसने एकाधिक बार गलत कदम भी उठाया हो, वे हमारे नेता मनुष्य हैं और भूल करना मानुषी है; फलतः भूल की होगी और भूल करने की संभावना सदा बनी रहेगी पर एक बात निर्विवाद है। कांग्रेस कार्यसमिति के प्रबलविरोधी, उसके शत्रु और अवसर पावें तो उसे खा जाने की इच्छा रखनेवाले भी उसपर एक दोष तो नहीं ही लगा सकते। जगत में कोई उत्पन्न नहीं

हुआ है जो गत पचीस वर्षों के इतिहास में एक भी प्रमाण ऐसा उप-स्थित कर सके जिसके द्वारा यह सिद्ध किया जाय कि भारतीय कांग्रेस की कार्य-समिति ने कभी अपने व्यक्तिगत अथवा दलगत हित के लिए, पद, प्रतिष्ठा अथवा प्रभुता और ऐश्वर्य की लोलुपता में प्रमत्त होकर राष्ट्र के हित, उसके गौरव और आदर्श को रंचमात्र भी ठेस पहुँचाने का अपराध किया हो। जगत् का कोई प्रलोभन, कोई आकर्षण उन्हें भ्रष्ट करने में समर्थ नहीं हुआ है। चरित्र की यह उज्ज्वलता, यह कठोर तप, आदर्श से अनुप्राणित जीवन की उत्सर्गता, भय और प्रलोभन के संमुख यह अटलता, जो आज कांग्रेस कार्यसमिति में मूर्त है वह किसी भी अन्य देश के नेतृ-मंडल में खोजे कहाँ मिलेगी।

अपनी मूढ़ता का परिचय देना है। यह दृष्टि वस्तु-स्थिति और मूल कारण को आवरित करने की कुचेष्टा के सिवा और कुछ नहीं है। क्रिप्स-प्रस्ताव की विफलता का कारण था ब्रिटेन की कुनीति, कुभाव और प्रवंचकता। उसकी विफलता का कारण यह था कि ब्रिटेन भारतीय समस्या का वास्तविक हल चाहता ही न था। उसकी विफलता का कारण यह था कि जान बूझ कर ऐसा प्रस्ताव किया गया जो निर्जीव था और जिसे भारतीय राष्ट्र स्वीकार ही नहीं कर सकता था। उसकी विफलता का कारण यह था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी और कट्टरवादी ब्रिटिश नौकरशाही के सदस्य तथा ब्रिटिश सिविलियन, जिनका स्वार्थ भारत मे ब्रिटिश शासन के बने रहने में स्थिर था, किसी प्रकार अपने शिकंजे को ढीला करने के लिए तैयार न थे। उसकी विफलता का कारण कदाचित् यह भी था कि चर्चिल-गुट चर्चिल के प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे अवतरित होनेवाले सर स्टेफर्ड क्रिप्स को एक झटके में उस ऊँचे स्थान से उखाड़ कर नीचे पटक देना चाहता था, जहाँ परिस्थितियाँ उनको पहुँचाती दिखाई दे रही थीं।

(१६)

सन् उन्नीस सौ बयालीस

असत्य की यह भयावनी पूजा, अनीति का यह प्रचण्ड अधिकार-स्थापन, धूर्तता और प्रवंचकता की यह पराकाष्ठा, वस्तुस्थिति पर यह अभेद्य व्यवधान, एक महाराष्ट्र के प्रति यह भीषण अन्याय, संकटापन्न धरती के ऊपर यह महा अनर्थ, अब भारतीय राष्ट्र के लिए असंभव हो गया। जिस राष्ट्र के हृदय में अभी स्पन्दन बाकी रहा हो उस पर यदि इस स्थिति की प्रतिक्रिया न हुई होती तो आश्चर्य ही हुआ होता।

गांधीजी की उँगलियाँ देशकी नाड़ी पर थीं। वे भारतीय जागरण, उसकी आकांक्षा और आदर्श के ही प्रतीक थे। वे भारतीय इतिहास की ही लहर और राष्ट्र की सूत्रात्मा की पुकार के प्रतिनिधि थे। आज पुनः भारत की अन्तर्ध्वनि की अभिव्यक्ति उन्हीं के द्वारा हो सकती थी। देश एक कोने से दूसरे कोने तक विक्षोभ की उत्ताल तरंग से आलोड़ित हो रहा था। वह विकल था अपने वर्तमान से, उस वर्तमान से जो उसके अपमान का सूचक था, जो उसके मृत्यु का कारण होता दिखाई दे रहा था, जो असत्य और अनीति से ओतप्रोत और उसी पर आश्रित था, जो उसके भविष्य को अन्धकाराच्छन्न किये दे रहा था। जब सारे जगत् में वर्तमान की सत्ता ढहती और बिखरती दिखाई दे रही थी, तो भारत ही उसके शवालिंगन में क्यों संलग्न रहे? आज वर्तमान के विनाश की अपेक्षा उससे अधिक और किसे थी? कौन ऐसा था जो उससे अधिक सताया हुआ था? जगत् के सभी राष्ट्र संप्रति एकमात्र अपने स्वार्थ की दृष्टि से संचालित हो रहे थे। किसी की दृष्टि विपन्न और विक्षत हुई धरित्री की ओर नहीं थी, यद्यपि सभी महान् आदर्शों और उज्ज्वल सिद्धांतों की घोषणा गला फाड़-फाड़ कर रहे थे। भारत दलित और त्रस्त था, पर किसी को उसकी स्थिति की ओर देखने की फुर्सत न थी। वह कसौटी था मित्र राष्ट्रों की सिद्धांतवादिता के लिए, पर वह सिद्धांतप्रियता कहाँ तक खरी उतरी—इसका पता अब अच्छी तरह चल गया है। भारत स्वयं रूसकी विजय के लिए इच्छुक था, चीन की विजय के लिए व्याकुल था और लोकतन्त्रात्मक देशों की विजय के लिए उत्सुक था। फासिटीवाद और हिंसावाद के पराभव के लिए वह उस समय से अपनी आवाज उठा रहा था जब दूसरे उनकी पद-पूजा में संलग्न थे। आज वही भारत अपनी स्वतंत्रता

चाहता था इसलिए कि नाजी-विरोधी मोर्चे को सुदृढ़ कर सके और जगत् से निरंकुशता को मिटा कर मानव जाति की स्वतंत्रता की स्थापना में अपना सर्वस्व अर्पण कर दे। पर आज उसी भारत की स्वतंत्रता न केवल अस्वीकृत हो रही थी प्रत्युत उसे कलंकित किया जा रहा था और उसके नाम पर कीचड़ उछाला जा रहा था। ऐसे कतिपय राष्ट्र थे जो अपने को मित्र पक्ष का सदस्य कहते हुए भी मित्र पक्ष के शत्रुओं के साथ युद्ध-घोषणा नहीं कर रहे थे। अमेरिका स्वतंत्रता का हिमायती था, नाजीवाद का शत्रु था, पर तब तक युद्ध में न उतरा जब तक जापान ने उस पर आक्रमण न कर दिया। रूस पहले जर्मनी से अनाक्रमण की संधि में आबद्ध था और यूरोप के अनेक देशों का सत्यानाश देखता रहा। जब रूस-जर्मन युद्ध आरंभ हुआ तो वह मित्र पक्ष का सदस्य बना। अमेरिका और ब्रिटेन जापान से युद्ध-लिप्त थे पर रूस और जापान की अनाक्रमण की संधि इन पंक्तियों को लिखने तक बनी हुई है यद्यपि तीन वर्ष बीत चुके हैं। जापान की पराजय रूस की युद्ध-घोषणा से कितनी निश्चित हो जाती यह बताने की आवश्कता नहीं है पर रूस के अभयदान पर कोई रूस को दोष नहीं देता। मिश्र के दरवाजे तक जर्मन सेनाएँ पहुँच गयीं पर मिश्र ने युद्ध घोषणा न की। ब्रिटिश अधिकारियों ने मिश्र को न पंचमांगी कहा और न अपना शत्रु! पर विचारा भारत, वह भारत जो फासिटीवाद के सहोदर साम्राज्यवाद के मुख में था, जो अपनी स्वतंत्रता चाहता था न केवल इसलिए कि स्वयं स्वतंत्र हो प्रत्युत इसलिए भी कि मित्र-पक्ष के नेतृत्व में नाजी-विरोधी और जापानी आक्रमणकारिता-विरोधी व्यूह में बलपूर्वक सम्मिलित हो सके, अपनी स्वतंत्रता माँगने के लिए ही क्रोध का पात्र बना। उसकी प्रगतिशीलता, उसका लोकतंत्र-प्रेम, मित्रराष्ट्रों के प्रति

उसकी सहानुभूति, चीन और रूस की विजय के लिए उसकी उत्कंठा, नाजीवाद और फासिटीवाद के प्रति उसकी अप्रतिहत शत्रुता, उसके लिए अपराध हो गया। आज वह उपेक्षा और दमन, अपमान और विरोधी प्रचार का शिकार बनाया गया। ऐसी उलटी रीति और ऐसा महा अनर्थ क्या कहीं और देखने को मिल सकता है। उसके विरुद्ध प्रचार करने के लिए अमेरिका में करोड़ों रुपये प्रति वर्ष खर्च किये गये, उसका दमन करने के लिए शस्त्र द्वारा कानून का घृणित आश्रय लिया गया, उसे अपमानित करने और कुचल देने के लिए भारत में सैनिक शासन के समान निरंकुश सत्ता स्थापित कर दी गयी।

जगत् में कोई न था जो इस निर्लज्ज स्वार्थपरता और अनीतिपूर्ण उद्दंडता के विरुद्ध एक आवाज भी उठाता। फिर क्या भारत को भी मनमारे बैठे रहना चाहिये था। निश्चय समझिये कि उसका बैठा रहना धरती से मिट जाने के लिए तैयार बैठे रहना होता। फलतः वह विक्षुब्ध हुआ, आंदोलित हुआ और विकल हुआ; वर्तमान को सर्वथा मिटा देने के लिए कृतसंकल्प हुआ, अपनी दयनीय स्थिति के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उत्कंठित हुआ। 'भारत छोड़ो' की प्रचंड ध्वनि में भारत का वही भाव व्यक्त हुआ। वह आवाज उठी थी उपर्युक्त परिस्थितियों के गर्भ से, वह प्रतिक्रिया थी परिस्थिति की, पुकार थी कालात्मा की, स्वर था राष्ट्र के हृदय का। उसमें उस विक्षुब्ध समुद्र के गड़गड़ाहट की प्रतिध्वनि थी जिसके तल में आज बड़वानल दहक रहा था। उसे गांधी का कोई 'फारमूला' समझनेवाले अज्ञ हैं जो इतिहास की गति से, जीवन के प्रवाह से और वस्तुस्थिति के स्वरूप से अपरिचित होंगे। वे नहीं समझते कि 'भारत छोड़ो' की गुहार गांधी नहीं प्रत्युत उसके मुख से भारतीय राष्ट्र की आत्मा लगा रही थी। वह गुहार थी भारत के चालीस करोड़ नर-नारियों के उत्तप्त हृदय की, जिसे

कान होता वह सुनता कि भारत के दिगदिगन्त, तथा इस भूमि के एक एक पावन रजकण से वही आवाज आ रही थी। आज भारत का युग, भारत की आकांक्षा और भारत की वेदना सजीव भारत के द्वारा व्यक्त हो रही थी। 'भारत छोड़ो' इसलिए कि भारत का वर्तमान मिटे, उसके अपमान और निर्दलन का अंत हो, उसका भविष्य निरापद हो, वह अपने इतिहास का निर्माण कर सके, वसुधा की छाती पर होनेवाले इस अनर्थ और अनीति का लोप हो तथा भावी जगत् के लिए इतिहास में नूतन, सुंदर, शिवमय तथा मानवीय अध्याय के पृष्ठ जोड़े जा सकें। 'भारत छोड़ो' इसलिए कि बिना इसके भारत की मृत्यु निश्चित दिखाई दे रही है। फिर 'भारत छोड़ो' की आवाज से सारा भारत आलोड़ित हो उठा हो तो इसमें आश्चर्य नहीं।

यद्यपि 'भारत छोड़ो' की भावना सारे राष्ट्र के हृदय की कामना थी तथापि यह निश्चित है कि उपर्युक्त शब्दों का उच्चारण करना साहस का ही काम था। इस स्वर में झंकार थी विद्रोह की, जिसे आज की स्थिति में झंकृत करने की हिम्मत कौन कर सकता था। भारत के वक्ष पर प्रचंड विदेशी शक्ति आसीन थी। वह शक्ति, जो भारतीय बंधन को राई बराबर भी ढीला न करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थी, वह शक्ति जो स्वार्थ में अंधी थी और नीति-अनीति का विचार लागू कर भारत को अपनी पराधीनता में कसे रहने के लिए बद्धपरिकर थी। उसे भारत पर विश्वास नहीं था, क्योंकि अतीत के अपने कुकर्मों की स्मृति उसके मानस-पटल पर अंकित थी। वह उलटे ही यह समझ रही थी कि भारत की पराधीनता में ही उसका जीवन है। युद्ध के बाद ब्रिटेन के पुनर्निर्माण के लिए, अपनी विनष्ट संपत्ति का पुनस्संकलन करने के लिए वह ऐसे प्रदेश चाहती थी जिनका शोषण करना संभव हो। आज भारत ही उसे अपनी उक्त लक्ष्य-पूर्ति में साधक दिखाई

दे रहा था। ब्रिटेन युद्ध में इसलिए नहीं उतरा था कि वह सचमुच साम्राज्यशाही का विघटन करके जगत् के विकास का नया पथ प्रशस्त करना चाहता था। वह युद्ध-लिप्त हुआ था अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए, जगत् में अपनी अक्षुण्ण प्रभुता बनाये रखने के लिए और मार्ग से उन प्रतिस्पर्द्धियों को मटियामेट कर देने के लिए जो उसके स्वार्थ में बाधक तथा उसकी अबाध सत्ता में भागीदार बनने की चेष्टा कर रहे थे। ब्रिटिश नवयुवकों का रक्त परोपकारार्थ नहीं बहाया जा रहा था और अतुल ब्रिटिश संपत्ति केवल आदर्श के लिए स्वाहा भी नहीं की जा रही थी। अभी मानव समाज विकास के उस स्तर पर नहीं पहुँचा था जब केवल मानवता की रक्षा के लिए मानव अग्रसर होता। ऐसी स्थिति में 'भारत छोड़ो' की आवाज कंठ में ही दबोचने की चेष्टा क्यों न की जाती ? भारत में आज सैनिक शक्ति का प्रचंड केन्द्रीकरण हुआ था। युद्ध-स्थिति की आवश्यकता के नाम पर अकल्पित अस्त्र-शस्त्र संग्रहीत थे। महती सेना खड़ी की जा चुकी थी। अधिकारियों के हाथ में अपरिमित अधिकारों का अभूत-पूर्व समर्पण हो चुका था। ऐसी स्थिति में 'भारत छोड़ो' की ध्वनि का निर्गत होना भी अपने मस्तक पर क्रूर वज्रपात का आवाहन करना था। इसके सिवा अन्य कतिपय महासंकट सामने प्रस्तुत थे। जापानी विभीषिका भारतीय द्वार पर मुँह बाये खड़ी थी। भारतीय विक्षोभ और उलट-पलट का क्या लाभ उठाने में वह समर्थ होगी, यह कौन सोच सकता था ? भय था इस बात का कि जगत् में भारत के विरुद्ध प्रचार किया जा सकता है ! यह भी आशंका थी कि भारत की नीति, नीयत और कदम के संबन्ध में गहरी भ्रान्ति सारे संसार में विशेष कर उस प्रदेश में जहाँ से भारत सहानुभूति प्राप्त करने की आशा करता है, फैलायी जा सकती है। भारत के विरोधी इस स्थिति से लाभ उठा सकते हैं,

युद्ध-स्थिति के नाम पर भारतीय आकांक्षा और जागर्ति को कुचल देने का बहाना पा सकते हैं और पुंजीभूत शक्ति का उपयोग करके भारत के प्रतिरोधात्मक बल को सदा के लिए धूल में मिला दे सकते हैं।

इस स्थिति में 'भारत छोड़ो' की पुकार लगाना तलहीन और तम-पूर्ण जल में कूदने के समान हो जा सकता है। संभव है, भारत दशकों के लिए भी पीस दिया जाय, संभव है उसका सर्वनाश कर देने की चेष्टा की जाय, संभव है उसके इतिहास की ही दूसरी गति हो जाय। किस में शक्ति, सामर्थ्य और साहस था जो इस अवसर पर इतना बड़ा खतरा और इतना महान् उत्तरदायित्व उठाने के लिए आगे बढ़ता ? स्पष्ट है कि वह व्यक्ति गाँधी ही था जिसमें यह हिम्मत थी जो उपर्युक्त समस्त संकट पूर्ण परिस्थितियों के समक्ष भी राष्ट्र के अंतर्नाद को प्रतिध्वनित करने के लिए आगे बढ़ सकता था। राष्ट्रों के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब उन्हें महान् निर्णय करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। संकट की घड़ी सामने रहती है, विघ्न-बाधाओं की भीड़ लगी रहती है, भयावना खतरा मुँह बाये खड़ा रहता है, पर देश का जीवन गहरी बाजी लगा देने के लिए अभिप्रेरित होता है। महान् राष्ट्र इसी प्रकार जीवन-मरण की समस्या हल करते हैं, इतिहास का निर्माण कर जाते हैं और भावी संतति के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है। जिनमें संकट की आग के मध्य से यात्रा करने का साहस नहीं होता और जो जीवन को हथेली में लेकर 'स्वाहा' का उच्च घोष करना नहीं जानते वे निसर्ग की गतिशील तेजस्विनी धारा में टिकने में समर्थ भी नहीं होते। जीवन-संघर्ष में वे ही विजयी होते हैं और उन्हें अस्तित्व का अधिकार प्राप्त होता है जो समय पर जीवन का मूल्य चुकाना जानते हैं। बिना इसके कोई महान् नहीं होता और न इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। जीवन का धर्म संघर्ष है, जिससे

पलायन मृत्यु का आवाहन करना है। संघर्ष में आहत होकर गिरना और मिट जाना भयग्रस्त पलायन और जीवन से कहीं अधिक श्रेयस्कर हुआ करता है। भारत के सामने आज ऐसा ही महत्वपूर्ण मुहूर्त उपस्थित था। परिस्थिति महान् निर्णय की अपेक्षा कर रही थी। संघर्ष में खतरा था, पर संघर्ष से भागने में उससे भी बड़ा खतरा था। लड़ते-लड़ते यदि मिट जाने की आशंका थी तो बिना लड़े अपमान-जनक तथा कायरतापूर्ण मृत्यु निश्चित थी। गांधीजी ने परिस्थिति का तुलन कर डाला और अपने सहज तेजस्वी स्वभाव के अनुसार अपना निर्णय भी कर डाला। यदि मरना ही है तो भारत गौरवपूर्ण मृत्यु का, सत्य और न्याय की आराधना में रत मृत्यु का, भावी पीढ़ियों के लिए स्फूर्तिदायक मृत्यु का आलिंगन क्यों न करे ? इतिहास की शिक्षा तो यह है कि वे राष्ट्र, जो मृत्यु से भयभीत नहीं होते, वे अमर-पथ के यात्री हो जाते हैं। फिर जिसके पक्ष में धर्म हो, न्याय और सत्य हो, इतिहास और मानवता हो वह मृत्यु से भयभीत क्यों हो ? यदि इनकी विजय भव-प्रपंच का नैतिक विधान है तो भारत की विजय अनिवार्य है। वह गांधी जिसका जीवन नीति की आराधना में बीता है, सत्य और धर्म में जिसकी अचलनिष्ठा है, शुभ और शिव की विजय में जिसकी अटल आस्था है, समय आ जाने पर कहाँ पीछे रह सकता था ? आज भारत की, भारत के पौरुष की, भारत के आदर्श की, गांधी की, गांधी के विश्वास की परीक्षा का काल आ पहुँचा था। फलतः जगत् के समस्त शस्त्र-बल और पशु-शक्ति, स्वार्थान्ध आततायियों की उग्र उद्दंडता और रोष, रक्त पिपासु-शासकों की टेढ़ी भृकुटि और क्रोधाग्नि के संमुख गांधी को निर्भय खड़ा होना था।

गत पचीस वर्षों से यही उसका मंत्र और यही उसकी दीक्षा रही है। अनीति और अत्याचार के संमुख सिर न झुकाना और

हँसते-हँसते अग्नि-पथ पर बढ़ चलने की शिक्षा उसने राष्ट्र को दी थी। अशस्त्र और प्रत्याघात की भावना से रहित होकर प्रचंड हिंसा और घोर पशुता का अविरल प्रतिरोध अक्षय आत्मबल के द्वारा करने का मार्ग गांधी की महती देन रही है। आज वर्षों से इस अकल्पित और अनुपम महान् प्रयोग में वह लिप्त रहा है। संप्रति सारा जगत् दुर्दमनीय हिंसानल से भस्म होता जा रहा था। भारत के कलेजे पर वही आग भयावनी विभीषिका बनकर दहक रही थी। फिर आज से बढ़कर उस पथ और प्रयोग की उपयुक्तता की परीक्षा का समय दूसरा कौन हो सकता था? अहिंसक मार्ग से भारत ने अब तक जितना बल संचय किया था, जिस आदर्श की पूजा उसने इतने दिनों तक की थी, उन सबका उपयोग करके परिस्थिति की माँग और राष्ट्र की ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करने के प्रयास का अवसर आ गया था। बस गांधी ने निर्णय कर लिया और उसके निर्णय में राष्ट्र का संकल्प अभिव्यक्त हो गया। आठ अगस्त सन् उन्नीस सौ बयालिस ईसवी भारत के इतिहास में अमर हो गयी, जिस दिन शताब्दियों के अपमान और निर्दलन का बोझा सिर पर लादे भारतीय महाराष्ट्र मरने या कुछ कर जाने का अदम्य निश्चय करके उठता और खड़ा होता दिखाई पड़ा।[1] यह निर्णय निर्णय मात्र नहीं था, प्रत्युत भारत के अतीत वर्तमान और भविष्य का सजीव इतिहास मूर्त हो रहा था। सन् १८५७ से लेकर आजतक भारत जिन प्रवृत्तियों और परंपराओं के संस्कार से सिंचित हुआ था, राष्ट्र ने जितना बल संचित किया था, उन सबका विकास आज उक्त निर्णय में परिस्फुटित हुआ था। एक बार पुनः गांधी के मुख

---

१ बंबई के अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन का वर्णन लेखक की 'बन्दी की चेतना' में देखिये।

से भारतीय विप्लव के अंगारे झरते दिखाई दिये। महासागर के तट से लेकर नगाधिराज के चरण तक एक बार पुनः गांधी के विद्युत् स्पर्श और आवेग से भारत भूमि झंकृत हो उठी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के विशद मंच पर आसीन दृढ़ता और निर्भयता, विराग और अनुराग, मृदुल मंजरियों की मंजुलता और वज्र-सी कठोरता की साक्षात् प्रतिमा वास्तव में भारतीय राष्ट्र का धधकता ज्वालामुखी था जो आगत महाविस्फोट की सूचना दे रहा था। चालीस करोड़ नर-नारियों की उत्सुक दृष्टि उसी पर केन्द्रित थी, विप्लव की उग्र धारा उसी की अपेक्षा कर रही थी, भारत का इतिहास उसी के संकेत की राह देख रहा था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने निर्णय किया, भारत के उपस्थित जन-प्रतिनिधियों ने प्रचंड करतल-ध्वनि और उच्च जयघोष से उक्त निर्णय पर स्वीकृति की मुहर लगायी और देश ने आदर तथा विश्वास के साथ अपने जीवन का सारथ्य आज उसी भाँति गांधीके हाथों में सौंपा जैसे पार्थ ने कुरुक्षेत्र में अपनी बागडोर जनार्दन के चरणों में अर्पित कर दी थी।

पर युद्ध का संकल्प करते हुए भी भारत अपने उच्च धरातल से विचलित नहीं हुआ। आज वह क्षुब्ध था, रुष्ट था, पीड़ित और दलित था पर किसी की पशुता, स्वार्थपरता और दुर्नीति उसे उसी प्रकार अपने उज्ज्वल पथ और आदर्श से विमुख नहीं कर सकती थी जिस प्रकार किसी की शक्ति, किसी का भय, कोई संकट और किसी की टेढ़ी भृकुटियाँ उसे विरत नहीं कर सकती थीं। जगत् की उन प्रगतिशील शक्तियों से उसे शिकायत करने का आधार था जो आज बड़े-बड़े आदर्शों की घोषणा करते हुए भी भारत में होनेवाले अनर्थ को चुपचाप देख रही थीं और फिर यह आशा कर रही थीं कि भारत उनके हित के लिए अपनी बलि चढ़ा देगा। मानवता के नाम पर,

नीति और न्याय के नाम पर, जगत् की स्वतन्त्रता के नाम पर, मित्र पक्ष की विजय के नाम पर और भारत के चालीस करोड़ नर-नारियों के नाम पर भारत ने उनसे बार-बार अपील की थी। उसे अधिकार था कि वह उनसे आदर्श और सिद्धांत के लिए नहीं तो कम से कम अपनी विजय के लिए, रूस और चीन की जनता की रक्षा के लिए, यूरोप और एशिया की उन जातियों के लिए जो आक्रमणकारी के पदाघात से धराशायी होकर विलख रही थीं, कुछ आशा करता। पर उसकी सारी आशा, सारी अपील, सारा रुदन और समस्त सद्भाव-प्रदर्शन व्यर्थ गया था। भारत को आज अधिकार था कि प्रतिशोधकी भावना से, केवल अपने स्वार्थ को सामने रखकर अपनी नीति निर्धारित करता। जब सभी स्वार्थ में, संकीर्णता में और एकमात्र अपने हित की कामना में अन्धे हो रहे थे तो क्या भारत को वह अधिकार नहीं था कि वह भी वैसा ही करता ? पर भारत पराधीन और दलित होते हुए भी इतना गिरा हुआ नहीं था। उसकी उस आत्मा का हनन अभी नहीं हुआ था जो जीवन को दूसरे ही आलोक में देखने का अभ्यस्त थी। आज भी उसका नेतृत्व एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में था जिसे विश्व का कोई प्रलोभन, कोई आकर्षण और कोई परिस्थिति नीति-पथ से विचलित नहीं कर सकती। फलतः भारत अपने उज्ज्वल नैतिक स्तर से उस समय भी नहीं हटा, जब परिस्थितियों के भार और वस्तु-स्थिति के प्रकाश में उसका वैसा करना भी सहज सांसारिक और व्यावहारिक दृष्टि से अनुचित नहीं कहा जा सकता था। आप बंबई के निर्णय पर दृष्टिपात करें और देखें कि इस देश ने क्या 'अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः' के उत्कट आदर्श की रक्षा नहीं की। वह प्रस्ताव, जिस पर ब्रिटिश सरकार प्रेताविष्ट उन्मत्त की भाँति व्यवहार करने लगी, भारत की उन उच्चतम

भावनाओं की अभिव्यक्ति है जिससे अंधकाराच्छन्न आधुनिक धरती पूत हुई है।

प्रस्ताव कहता है कि 'कमेटी बड़ी पीड़ा के साथ रूस और चीन की युद्धस्थिति की निराशाजनक स्थिति को देख रही है और चीन तथा रूस की जनता के प्रति जो असाधारण वीरता के साथ अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा में संलग्न है आदर प्रकट करती है। जगत् की स्वतंत्रता के प्रति बढ़ते हुए खतरे को देखकर आज उन लोगों को अपनी नीति और उपाय की समीक्षा करनी चाहिये जो स्वतंत्रता और लोकतंत्र के लिए जीवन की बलि चढ़ा रहे हैं। मित्र पक्ष ने आज अपनी नीति स्वतंत्रता की भित्ति पर नहीं, वरन् परतंत्र और अधीन जातियों को दबाये रखने तथा साम्राज्यवादी परंपरा को स्थायित्व प्रदान करने के आधार पर आश्रित कर रखा है। भारत आधुनिक साम्राज्यवाद का वीभत्स प्रमाण उपस्थित कर रहा और आज मित्रपक्ष की नीयत की कसौटी हो गया है। ब्रिटेन और मित्रपक्ष की परीक्षा भारतीय समस्या के ही द्वारा हो रही है और एशिया तथा आफ्रिका की जातियाँ उसी के द्वारा उनके संबंध में निर्णय प्रदान करेंगी"। प्रस्ताव में आगे भारतीय राष्ट्र के हृदय की पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि "कांग्रेस कार्यसमिति ने ब्रिटेन तथा अन्य मित्र-पक्षीय राष्ट्रों से बार बार हार्दिक विनती की है, अनुनय विनय किया है पर अब तक उसका कोई परिणाम नहीं निकला। इसके विपरीत विभिन्न देशों में भारतीय समस्या के संबन्ध में जो आलोचनाएँ की जाती रही हैं तथा जो मत व्यक्त किया जाता रहा है वह न केवल विश्व की आवश्यकता और भारतीय परिस्थिति से खेदजनक अज्ञान का सूचक है प्रत्युत उस मनोवृत्ति को भी प्रकट करती है जो दूसरों पर प्रभुता बनाये रखने तथा जातिगत श्रेष्ठता

की भावनाओं से ओतप्रोत होती है। एक ऐसा महाराष्ट्र जिसमें स्वाभिमान बाकी है और जो अपनी शक्ति तथा अपने पक्ष की न्यायानुकूलता से परिचित है कभी इस प्रकार की मनोवृत्ति को सहन नहीं कर सकता। कांग्रेस जगत् की समस्त जातियों की स्वतंत्रता का परिपोषक है और चाहती है कि मानव समाज हर प्रकार की आक्रमणशीलता से मुक्त हो। भारत जगत् की समस्त स्वतंत्र जातियों के एक विश्वसंघ का इच्छुक है और चाहता है कि समान-पदस्थ होकर नय व्यवस्था की रचना में अपना भाग पूरा कर सके।"

"आज अंतिम बार कांग्रेस पुनः विश्व की स्वतंत्रता की इच्छा लेकर ब्रिटेन तथा समस्त मित्र राष्ट्रों से विनती करती है। वह अनुभव करती है कि अब वह समय आ गया है जब राष्ट्र को अपनी तथा मानव समाज की स्वतंत्रता के हित में उस सरकार के विरुद्ध अपनी इच्छा की पूर्ति कराने के प्रयास से रोका नहीं जा सकता जो निरंकुशता और उद्दंडतापूर्वक भारत के पथ का अवरोधन कर रही है। फलतः समिति स्वतंत्रता की प्राप्ति के अपने अपरिहार्य अधिकार की स्थापना के लिए देश को अहिंसा के आधार पर महान् जनसंघर्ष को आरंभ करने का अधिकार देती है जिसमें भारत गत बीस वर्षों में शान्तिमय आंदोलनों से प्राप्त अपने समस्त बल का उपयोग कर सके। ऐसे संघर्ष का नेतृत्व गांधी जी ही कर सकते हैं अतः सर्व भारतीय कांग्रेस कमेटी उनसे प्रार्थना करती है कि वे सूत्र ग्रहण करें और देश का पथ प्रदर्शन न करें।" जगत् देखे और वे देखें जिन्हें अपनी प्रगतिशीलता पर गर्व हो कि भारत की इस ऐतिहासिक घोषणा में कहीं प्रतिशोध की गंध नहीं है। प्रतिहिंसा की भावना नहीं, संकीर्ण स्वार्थपरता का लेश नहीं, सौदा पटाने की मनोवृत्ति नहीं। भारत की भौगोलिक सीमा से ऊँचे उठ कर भारतीय राष्ट्र मानवता के उच्चस्तर से

अपना उद्घोष करता है और इतना ऊँचा उठता है जितना जगत् की कोई जाति, कोई राष्ट्र, चाहे वह लोकतंत्रात्मक हो अथवा समाजवादी, नहीं उठता। जगत् के राष्ट्रों में यदि हृदय होता, मानवता होती, भावना और भावुकता होती तो वे भारत की इस घोषणा का अभिनन्दन करते। वे अनुभव करते कि भारत के समान आदर्शवादी राष्ट्र, जिसने सदा व्यक्तित्व की सत्ता की सार्थकता विराट् के लय में देखी है, आज की दुनिया में जहाँ सर्वत्र हिंसा और पशुता, प्रभुता और कामना, भोग और स्वार्थ का डंका पिट रहा है, नीति और सत्य, अहिंसा और उत्सर्ग, मानवता तथा नैतिकता की पताका फहरायी है। वह बर्बरता के अंधकार से अछूता, हीन वृत्तियों के प्रभाव से वंचित, आज उस मानवी प्रवृत्ति और प्रतिभा का प्रबोधन कर रहा है, जिसके प्रकाश के बिना मानव समाज पथभ्रष्ट होकर विनष्ट हो जायगा। वे देखते कि विमर्दित मेदनी की वेदना पूर्ण कराह आज उस गांधी के रूप में सजीव हुई है। पर किसके हृदय में आज कोमल रागिनी की लहरी बाकी बची थी। जहाँ मिले वहीं मानव-रक्त का पान करने के लिए उत्सुक आज का मनुष्य भारत पर टूट पड़ा। उसे लज्जा न थी, नीति-अनीति, उचित-अनुचित की चिंता न थी। हिताहित का ज्ञान भी उसे विस्मृत हो चुका था।

फलतः कांग्रेस द्वारा भारत के संकल्प और उसकी आकांक्षा की अभिव्यक्ति होनी थी कि पशुता की मदिरा पीकर प्रमत्त हुई ब्रिटिश सत्ता उन्मत्त हो उठी। फिर तो ९ अगस्त से भारत में जो लीला आरंभ हुई उसका विस्तृत वर्णन उपस्थित करने का समय अभी नहीं आया है। ८ अगस्त बीतते बीतते ब्रिटिश सरकार ने भारत पर आक्रमण आरंभ किया। वह आघात आघात नहीं था, पुंजीभूत शक्ति-सत्ता का विक्षिप्त और प्रलयंकर नर्तन था। सारे देश में ज्वाला भभक उठी।

दमन की आग के अंगारे बरसे, लोहे की संगीने नर-देह में घुसीं, निहत्थों का शरीर फाड़कर खून पी लिया गया। भारत के साथ वह किया गया जो हिटलर की क्रूर सेना परास्त देश की अभागी जनता के साथ करती रही होगी। भारत की आत्मा, इस देश की विभूति, गांधी, कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों तथा सहस्रों कांग्रेसवादियों सहित कारा के कठोर लौह-गढ़ों में बन्द कर दिये गये। फिर क्या क्या हुआ, इसका इतिहास लिखेगा भावी इतिहासकार। वह चित्रण करेगा इस युग का, भारत के उस पवित्र रक्त से जिसके द्वारा इस देश की भूमि लाल कर दी गयी। पर पिशाचिनी दमनात्मक-विभीषिका को उन्मुक्त करनेवालों ने कदाचित् स्वप्न में भी यह न सोचा होगा कि उनकी समस्त क्रूरता और उद्दंडता भी भारत के महा-विक्षोभ का कुंठन करने में समर्थ न होगी। उसने आक्रमण किया था यह सोच कर कि निरस्त्र और असहाय तथा जगत् द्वारा उपेक्षित भारतीय राष्ट्र क्षण-मात्र में धूल में मिला दिया जायगा। उसने सोचा था कि भयावने वज्र की भाँति सहसा राष्ट्र के मस्तक पर टूट कर वह उसे स्तब्ध, निश्चेष्ट तथा चरण-चुंबी बना देगा। उसने कदाचित् सोचा था कि गांधीजी और कांग्रेस कार्यसमिति का अपहरण भारतीय संकल्प और उत्थान का अवरोधन तत्काल कर देगा। उसे ज्ञात नहीं कि जब राष्ट्र उठते हैं तो उस आंतरिक स्फूर्ति के लिए उठते हैं जिसे जगत् की कोई भौतिक शक्ति दबाने में समर्थ नहीं होती। यह भारत का गर्भस्थ विक्षोभ था, जिससे उस भीषण भूकंप का प्रसव होना ही था जो एक बार दिगदिगंत सहित सारे देश को विकंपित कर देता। वह विकंपन था वर्तमान की प्रचंड अट्टालिका को अपनी समस्त व्यवस्था और योजना-सहित उखाड़ फेंकने के लिए। अधिकारियों ने यह समझा था कि जो होने जा

रहा है, वह केवल किसी राजनीतिक दल का आयोजन अथवा षड्यंत्र है। वे नहीं जानते कि उनकी यह भ्रान्त धारणा परिस्थितियों के प्रति उनके प्रकांड अज्ञान की सूचक है। भारत में जो हुआ वह न षडयंत्र का परिणाम था, न उसका कोई आयोजन था और न उसकी कोई तैयारी थी। वह किसी राजनीतिक दल द्वारा संचालित आंदोलन या क्रान्ति भी नहीं थी। वह था केवल और विशुद्ध महाजन-क्षोभ जो शताब्दियों की ब्रिटिश कुनीति, राष्ट्रीय अपमान और निर्दलन के द्वारा प्रसूत हो गया था। राष्ट्र की कुचली हुई आकांक्षा और ठुकरायी गयी वेदना आज विप्लव की भयावनी आग बनकर उद्भूत हुई थी। ऐसे सर्वव्यापी उथल-पुथल की योजना या आयोजन न हुआ करता है और न होना संभव है। वह तो उमड़ पड़ता है किसी निश्चित किन्तु अज्ञात मानसिक विंदु से और प्रवाह बन चलता है इतिहास का। वह आ जाता है बहुधा पूर्व-सूचना के बिना और ऐसे समय, जब उसकी आशा भी नहीं की जा सकती। भला तूफान का निश्चित मुहूर्त कब ज्ञात हो पाता है ?

बंबई में एकत्र उन प्रतिनिधियों ने भी जो उपर्युक्त प्रस्ताव के जनक थे कब यह सोचा था कि बारह घंटे भी बीतने न पावेंगे और भारत अवनी-अंबर सहित विप्लव की ज्वाला में जलता दिखाई देने लगेगा। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का आयोजन करने में कौन दल सफल हुआ था ? सन् १९१७ में रूस में हुई मार्च की क्रान्ति का आयोजन कब किसने किया था जब सहसा जार का सिंहासन शताब्दियों की स्मृति लिये दिये धूल में मिल गया ? आज भारतीय विप्लव का भी कोई आयोजन नहीं था। युग में उसकी लहर थी, वातावरण में गंध था, परिस्थिति में स्पंदन था, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। ऐसा न होता तो गांधी के मुख से विद्रोह की धारा न बहती, उसकी लेखनी आग की

चिनगारियाँ न उगलती। ब्रिटिश अधिकारियों में बुद्धि और दूरदर्शिता होती तो युग की पुकार के अनुसार अपने को ढाल कर इतिहास को दूसरी गति प्रदान करते। पर इसके अभाव में उनकी समझ में यही आया कि राष्ट्र के स्वाभिमान को, उसकी आकांक्षा को, परिस्थिति की मांग को तलवार के द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। उसकी दृष्टि में गांधी और कांग्रेस ही अपराधी दिखाई दिये और उन्हें राष्ट्र के जीवन से अलग करके आगत धारा को सोख जाने की उन्होंने आशा की। यही भूल थी जिसमें विस्फोटमुखी परिस्थिति में आग लगा दी। उन्होंने यह नहीं समझा कि प्रतिरोध के लिए कृत-संकल्प राष्ट्र गांधीजी या नेताओं के अभाव में चित नहीं लेट जा सकता। उसके लिए तो यह चुनौती थी जिसे वह यदि स्वीकार न करता तो सदा के लिए अपना स्वाभिमान, अपना भविष्य और अपनी आत्मा खो बैठता। फलतः प्रचंड दमन और अकल्पित बल-प्रयोग तथा जगत् की प्रबल बलशीला ब्रिटिश शक्ति का सामना, प्रतिवाद और प्रत्युत्तर भारत ने उपस्थित कर दिया। उस भारत ने जो अशस्त्र था, जो आज अपने नेताओं की सहायता और निर्देश से वंचित था, जिसकी छाती पर युद्ध-स्थिति के कारण नख शिख से सुसज्जित विकराल सैनिक शक्ति जमी बैठी हुई थी। जगत् के इतिहास में कहीं आप ऐसे युद्ध की मिसाल खोज तो निकालिये! एक ओर शासन-शक्ति हो, उसकी अपार सेना हो, उसके अकल्पित अस्त्र-शस्त्र हों, निरंकुशता, निष्ठुरता और उद्दंडता उसकी नीति हो और दूसरी ओर दबाया हुआ, सताया हुआ, निहत्था और शताब्दियों से पराभूत तथा पराधीन राष्ट्र हो। दोनों की तुलना कहाँ हो सकती है? भारत की असम शक्ति और विषम तथा प्रतिकूल परिस्थिति की कल्पना कीजिये और देखिये उसके उस प्रचंड प्रतिरोध को, उसके उत्सर्ग और त्याग को, उसके बलिदान और आत्मबल को

जिसका प्रदर्शन उसने किया। आज प्रत्येक भारतीय अपने राष्ट्र पर गर्व करने का अधिकारी है। देश का बच्चा-बच्चा और आनेवाली संतति तत्कालीन भारतीय इतिहास पर गर्व करेगी।

ब्रिटिश अधिकारियो ने यह नहीं समझा था कि गांधी को देश का नेतृत्व करने से रोकने के लिए बंदी बनाया जा सकता है पर उस भावना, उस आदर्श और उस स्फूर्ति तथा उस उत्प्रेरणा को कौन बंदी बना सकता है जिससे गांधी गत पचीस वर्षों से भारतीय राष्ट्र को अनुप्राणित करता रहा है। उसने भारत को अपना क्षेत्र बनाकर वर्षों से एक महान् प्रयोग किया था। प्रबलतम शस्त्र-शक्ति और निरंकुश अत्याचार के सामने शस्त्र न रहते हुए भी सिर उठाने और उसके लोहे को हृदय पर ग्रहण करके प्रचंड प्रतिरोध करने का एक पथ उपस्थित कर दिया था। अहिंसा और तप के द्वारा जगत् की समस्त हिंसात्मिका प्रवृत्ति और नीति का प्रतिकार और प्रतिवाद करने की शिक्षा भारत वर्षों पहले ग्रहण कर चुका था तथा उस पथ पर अग्रसर हो कर उसकी शक्ति और सार्थकता की अनुभूति भी उसने कर ली थी। ऐसी स्थिति में गांधी रहता या न रहता, राष्ट्र उसके मार्ग पर चलने में कैसे रोका जा सकता था? फलतः भारत विप्लव की हुँकार लिये सवेग बढ़ा, निरस्त्र अहिंसा के पथ द्वारा बढ़ा और ब्रिटिश शक्ति के प्रचंड आघात और उन्मत्त नर्तन के होते हुए बढ़ा। भारतीय राष्ट्र के विक्षोभ की तीव्र धारा से ब्रिटिश सत्ता एक बार समूल उखड़ती नजर आयी। ब्रिटिश अधिकारियों का हृदय जानता होगा कि इस उथल-पुथल में कितना बल था। आज वह अनुभव कर रही हो या न कर रही हो, पर भविष्य साक्षी होगा इस बात का, तथा इतिहास सिद्ध कर देगा इस बात को कि भारत की पराधीनता और इसके प्रतीक ब्रिटिश शासन के पैर भारत से उखड़ चुके हैं। जानता हूँ कि बाह्यतः ब्रिटिश सरकार

भारत के वक्षस्थल पर और अधिक अकड़ कर बैठी दिखाई दे रही है। यह भी सच है कि उसकी निरंकुशता और उद्दंडता आज अपनी सीमा नहीं रखती। वह जगत् और भारत को यह दिखाना चाहती है कि उसने इस देश का मस्तक भलीभाँति कुचल दिया है। पर ब्रिटेन अपनी भ्रान्त धारणाओं में आज तक अनेक भूल कर चुका है और यह धारणा उसकी भूल की परंपरा का सुमेरु बिन्दु है। उखड़ी हुई सत्ता में संगीनों की नोक की चाँड़ लगाकर यदि कोई यह समझे कि वह अपने को स्थायित्व प्रदान कर चुकी है तो इसे उसका आत्मवंचन ही मानिये। यह स्थिति ही अवास्तविक, अप्राकृतिक, ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध तथा मरणासन्नत्व की द्योतिका है। फलतः भारत की पराधीनता के अवशिष्ट चिन्हों का लोप निकट भविष्य में अनिवार्य है, यह असंदिग्ध है। अपनी भूल न देखकर ब्रिटिश अधिकारी प्रतिहिंसा में जलते हुए जो चाहें कह लें और कर लें। आज कहा जाता है कि भारत में जो हुआ उसके लिए दायी कांग्रेस तथा गांधीजी हैं। भला कोई पूछता ब्रिटिश सरकार से कि सत्य पर परदा डालने तथा ज्वलंत वास्तविकता की उपेक्षा करने में लाभ किसका है? भारत में जो हुआ उसके लिए उत्तरदायी वह ब्रिटेन है जिसने सहयोग के लिए उत्सुक और मित्रता के आकांक्षी भारत को अपनी संकीर्ण स्वार्थान्धता तथा अदूरदर्शी और कल्पनाहीन नीति से विक्षुब्ध कर दिया। आज अपनी भूल न देख कर दूसरे पर दोष लादना भारत के हृदय में यों ही केंद्रित विक्षोभ में और वृद्धि कर देना है। अवश्य ही जो हुआ उसका उत्तरदायित्व एक दूसरे प्रकार से गांधीजी पर अवश्य है। भारत की आत्मा का पुनरुज्जीवन यदि न हुआ होता, यदि उसके प्राण में ओज न भर गया होता, यदि उसमें चरित्र-बल का विकास न हुआ होता तो आज वह अपने स्वाभिमान की रक्षा में संलग्न न हुआ

होता। उसमें यदि प्रतिरोध और संघर्ष की शक्ति जागरित नहीं हुई होती, यदि आदर्श पर मर मिटना उसने न सीखा होता, यदि अत्याचार के संमुख मस्तक टेकने को पाप समझने वाली भावना उसमें न जगी होती, यदि भारत के गौरव, अपने कर्तव्य और अधिकार का आलोक उसे न मिला होता तो वह ब्रिटिश उद्दंडता, अनीति और देश के अपमान के प्रति विद्रोह करने में समर्थ न हुआ होता।

मैं मानता हूँ और गर्व के साथ मानता हूँ कि यह देन गांधीजी की है जिसके लिए यह राष्ट्र उनका चिर-ऋणी रहेगा। इस दृष्टि से वे उसके लिए उत्तरदायी हैं और इसी दृष्टि से वे जगत् के इतिहास में अमर हो गये। गांधीजी को अभिमान छू नहीं गया है पर अपनी तपस्या और अपनी देन पर सन्तुष्ट होने का उन्हें सर्वथा अधिकार है। भारत के लिए यह प्रशंसा और गौरव का विषय है कि इतना व्यापक और विराट् संघर्ष स्वरूपतः अहिंसक बना रहा। ऐसा कहते हुए मैं उस यत्र-तत्र हुई जन-हिंसा को भूलता नहीं जिसका प्रदर्शन दुर्भाग्य से हो गया। मैं भी यह मानता हूँ कि जिस मात्रा में यह हिंसा हो गयी उसी मात्रा में उसने उस कार्य को क्षति पहुँचायी जिसे यह देश सिद्ध करना चाहता था। पर यह मानते हुए भी मैं यह मानता हूँ कि जो हिंसा हुई है उसके लिए उत्तरदायी सरकार है, जिसने देश में हिंसा की ही दावाग्नि चतुर्दिक भड़का दी थी। मैं यह भी मानता हूँ कि सरकारी हिंसा के संमुख वह हिंसा खेदजनक होते हुए भी नगण्य ही है। गांधीजी का यह कहना सर्वथा सत्य है कि शासकों की हिंसा यदि बलवान् सिंह की हिंसा रही है तो उसकी तुलना में भारतीय जनवर्ग का पथ से विपथ होकर हिंसा कर बैठना चूहे की हिंसा के समान ही रहा है। भारत का यह अहिंसक संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है। दुर्बल हृदयों में नैराश्य का सर्जन हो जाना अस्वाभाविक नहीं

है, पर तात्कालिक और क्षणिक उतार को देखकर सदा के लिए पराजय और विफलता स्वीकार कर लेने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। मैं तो ब्रिटिश प्रभुता को अपने निर्बल पैरों पर थर-थर काँपते देख रहा हूँ। वह भय-विह्वल है और जलधार में डूबते हुए किसी अभागे की भाँति अपने सहारे को ही धर दबोचे दे रही है। जिस प्रगतिशीलता और आदर्श-निष्ठा के लिए ब्रिटिश जाति प्रसिद्ध रही है, जो उसकी शक्ति और सुयश का कारण रहा है, जिसका अवलंब ग्रहण करके वह फूलती फलती रही है ब्रिटेन की सरकार आज उसीकी हत्या किये दे रही है। उसकी उस भयातुरता का प्रमाण ढूँढ़ने मे अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं। भारत में आप ब्रिटिश शासन के स्वरूप को देख लें, तो ब्रिटेन के अधःपतन का दृश्य सामने आ जायगा। भारत में लोकतंत्र का गला घोंटकर निरंकुश शासन-पद्धति का संचालन बीसवीं शती के मध्य में करना ब्रिटेन की भयाकुलता का ही प्रमाण है। न्याय और नीति, अपने ही कानून और विधान को मटियामेट करके असाधारण, अवैधानिक, कानूनों की दीवार खड़ी करके उसके सहारे अपनी रक्षा करने का प्रयास उसकी भयाविष्ट मानसिक स्थिति का ही द्योतक है। सेना और शस्त्र, पुलिस और धारा के आधार पर भारत में बने रहने की उसकी चेष्टा उसकी निर्बलता और आशंकित हृदयता का ही परिचायक है। कितनी भयग्रस्त और त्रस्त है वह, इसे देखना हो तो उसकी उस प्रचार-योजना को देखिये जिस पर करोड़ों रुपये आज व्यय किये जा रहे हैं। अमेरिका और चुंकिंग में स्थापित ब्रिटिश सूचना-विभाग, सर गिरिजाशंकर वाजपेयी और वाशिंगटन की उनकी विशाल अट्टालिका, ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन और भारत सरकार का सूचना-विभाग, शर्मा-मिशन और लाखों पुस्तिकाओं का वितरण,

देशी विदेशी सैनिकों में होनेवाला अहर्निश प्रचार क्या ब्रिटेन की भीरुता, निर्बलता और भयार्तता का ही सूचक नहीं है। वह प्रतिक्षण अनुभव कर रहा है कि भारत की धरती उसके पैरों के नीचे से खिसक रही है। आज भारत में वह अपने जीवन की अंतिम साँस ले रहा है और ऐसे समय यदि त्रिदोषाच्छन्न रोगी की भाँति वातग्रस्त होकर वह नख-दंतों का प्रयोग करने लगा हो और थोड़ी देर के लिए अपनी विक्षिप्त लीला से विजयी दिखाई दे रहा हो तो उसे कौन विजय कहेगा ?

(१७)

गांधीजी की अतुलनीय देन

दूसरी ओर आप भारत पर दृष्टिपात करें। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसका संकल्प दृढ़तर, सफलता में विश्वास बलवत्तर तथा अपनी शक्ति का ज्ञान अधिकतर है। अपने भविष्य में उसकी आस्था उत्तरोत्तर बढ़ती चली जा रही है, अपना निर्माण स्वयं करने की चेष्टा तीव्र होती जा रही है और अपने आदर्श में श्रद्धा प्रगाढ़ होती जा रही है। ये संकेत हैं इस बात के कि भारत के नैतिक बल और चरित्रशक्ति का वर्धन होता जा रहा है। क्षणिक विफलता यदि मनुष्य की इच्छा और सक्रियता को उग्रता और बल प्रदान करती है तो वह न केवल भावी सफलता की सूचिका होती है प्रत्युत जीवन के लिए वरदान बन जाती है। यह सच है कि भारतीय राष्ट्र अपने लक्ष्य-बिन्दु पर नहीं पहुँचा है, पर उससे भी बड़ा सच यह है कि उसे अपने ध्येय का स्पष्ट दर्शन हो रहा है क्योंकि ध्येय तक पहुँचने के अपने पथ की लंबी मंजिल तय करके आज वह उसके अति सन्निकट पहुँच गया है। परिस्थिति का बहाव उसके अनुकूल है, वर्तमान म्रियमाण है, लक्ष्य निकट है, पथ

स्पष्ट है, आगे बढ़ने की आकांक्षा और निश्चय तीव्र है, फिर जगत् की कोई शक्ति, कोई बाधा और विघ्न उसकी यात्रा को रोकने में समर्थ नहीं हो सकती। इतने पर भी जो यह समझते हैं कि भारत विफल हुआ है और गांधी का नेतृत्व असफल हुआ है, वे या तो प्रकृत्या नैराश्य-पूजक हैं अथवा हठ-धर्मी हैं। गत बीस वर्षों में भारत ने वह लंबी यात्रा समाप्त की है जिसे पूरा करने में शताब्दियाँ अपेक्षित होतीं। जीवन का कोई क्षेत्र नहीं है जिसमें अकल्पित उत्थान और गतिशीलता न हुई हो। इतिहास की ओर देखिये तो आप यह पावेंगे कि वास्तव में राष्ट्रीय-जीवन की धारा ही बदल गयी है। आज आप यह देखेंगे कि भारत में जीवन का मूल्य अंकन करनेवाले मान-दंड बदल गये हैं, धारणाएँ बदल गयी हैं, कल्पना बदल गयी है, दृष्टि बदल गयी है। राष्ट्र को नया प्रकाश-सा मिल गया है जिसके आलोक में उसने नयी रचना आरंभ की है। उसके आचार-विचार पर, रहन-सहन पर, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर, सामाजिक संघटन और व्यवस्था पर समान रूप से उसका प्रभाव पड़ा है। उसकी राजनीति और अर्थनीति, उसके साहित्य और उसकी कला, उसके आदर्श और व्यवहार सब पर आप नयी झलक देखेंगे। उसमें पश्चिम का अंध और अपमानजनक अनुकरण नहीं रहा तो अतीत की जड़ पूजा और विघातक अनुगमन भी नहीं रहा। इस प्रकार भारत के विस्मृत व्यक्तित्व का नवोदय आरंभ हुआ और राष्ट्र ने उसकी अनुभूति की। उसे अपने हीन और पतित वर्तमान पर लज्जा आयी, जो दुर्बलताएँ और त्रुटियाँ पतन के कारण थे उन पर ग्लानि हुई। उसने अपने क्षत-विक्षत सामाजिक कलेवर को देखा तो आर्थिक शोषण और राजनीतिक पराधीनता भी देखी। जात-पाँत छूतछात संबन्धी निर्जीव अंध-विश्वास देखा, देश के करोड़ों नर-नारियों को भूखा और नंगा देखा, महिला-समाज का निर्दलन देखा,

अपनी निरक्षरता और अपना अज्ञान देखा। उसने देखा कि अतीत विस्मृत हो रहा है, वर्तमान उपेक्षित है और भविष्य की कोई कल्पना ही नहीं है। देश में एक ओर यदि पश्चिम के प्रभुओं का अनुकरण है तो दूसरी ओर रूढ़ियों की लकीर पीटी जा रही है।

इन अनुभूतियों ने देश में चरित्र का, मनोबल का और नैतिक अभ्युत्थान का सर्जन किया है। आज अवांछनीय से, लज्जाजनक से, विनिपात के कारणों और बंधनों से, गहरा संघर्ष चल रहा है और नवोदित चेतना के प्रकाश में भविष्य की रचना का कार्य जारी है; ऐसे भविष्य की जिसमें व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का एक एक अंग, एक एक कोण और एक एक दिशा विकसित हो। व्यक्ति का शरीर स्वस्थ हो तो बुद्धि परिष्कृत हो और आत्मा भी उज्ज्वल हो। भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टि से भारतीय मानव समुन्नत तथा सुसंपन्न हो। सामाजिक जीवन में साम्य हो, सहानुभूति हो, सहयोग हो। कोई वर्ग, कोई समूह किसी का हित दलित और उपेक्षित न हो। न वर्ग पर वर्ग की प्रभुता हो, न दोहन हो और न पारस्परिक हित ऐसे हों जो सतत टक्कर खाते रहें। व्यक्ति और समष्टि का, वर्ग और वर्ग का सामञ्जस्य इसी प्रकार स्थापित हो कि एक दूसरे के सहायक और पोषक हों। ऐसे सामञ्जस्य के गर्भ से उस समाज की उत्पत्ति और रचना हो जो सहयोगमूलक हो, शोषण और निर्दलन से मुक्त हो। इस 'सर्वोदय' की महती कल्पना के प्रकाश में भारत अपने भविष्य को देख रहा है और उसका निर्माण कर रहा है। यही कारण है कि उसके जीवन के अंग-प्रत्यंग में गति और सक्रियता विराजमान है। आज उसके जीवन का आदर्श न एक मात्र भोग है और न जीवन की सफलता की तुला धन और संपत्ति। उसने भोग और सुख, धन और ऐश्वर्य को नयी व्याख्या और नये

अर्थ में देखना आरंभ किया है। वह सुख और वह भोग, भोग नहीं पाप है जो केवल अहं की तृप्ति का साधन है। वह धन और वह संपत्ति, कलुष तथा लूट है जो दोहन और दलन का कारण तथा कामनावाद की पूर्ति का साधन बनती है। जीवन के मूल्य का निर्धारण इनसे करना मनुष्यता को भ्रष्ट करना है। फलतः वह जीवन की महत्ता सेवा और संयम में, सरलता और शुचिता में, उत्सर्ग और तप में देखने लगा है। वही भोग और वही सुख, वही धन और वही ऐश्वर्य विधेय तथा सार्थक है जिसका आधार नीति और त्याग हो, जो साधन हो समाज के सांगोपांग और चतुर्दिक् विकास का तथा जिसमें जन-समाज को भागी बनने के लिए द्वार मुक्त हो।

आज भारत में इसी कारण व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन का स्तर ऊँचा हो गया है। धन और प्रभुता नहीं, चरित्र और तप आदरणीय हो गया है। भारत के सार्वजनिक जीवन में स्थान उनका ऊँचा है और वे ही आदरणीय हैं जिनका जीवन आदर्शानुप्राणित, तपःपूत और उज्ज्वल भावानुबंध है। वास्तव में भारत एक नये जीवन को, एक नयी संस्कृति को जन्म दे रहा है। यह सब क्या भारत की महती सफलता का द्योतक नहीं है? प्रतिकूल परिस्थिति, विरोधी शासन-सत्ता और स्वकाय तृप्त स्थिर स्वार्थी-वर्गों के रहते भारत गत दो दशकों में जो कर सका है वह उसके उज्ज्वल भविष्य और सफलता का ही सूचक है। उसने पराधीनता के पैर उखाड़ दिये हैं, आर्थिक शोषण की जड़ पर कुठाराघात किया है, सामाजिक निर्बलता और वर्ग-भेद के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया है। अन्ध विश्वासों, रूढ़ियों और कुरीतियों की दीवार ढहा दी है, जीवन में चरित्र और बल भर दिया है, आत्म-समीक्षा का भाव जागरित कर दिया है और अपना निर्माण आप करने का संकल्प जाग्रत् हो गया है। देश में आज ऐसे लाखों नर-नारी हैं

जिनमें भारत के भविष्य की रचना का उन्माद छाया हुआ है। वे मस्त हैं जीवनाहुति में और आदर्श-पूजा में और याद रखिये कि यह सब देन है गांधीजी की। उक्त सारी प्रक्रिया और गतिशीलता, स्फूर्ति और प्रेरणा, कल्पना और भावानुभूतिका स्रोत वे ही हैं। गांधीजी वर्तमान के विनाश और भविष्य की रचना, दोनों के एक साथ ही विधाता और संचालक हैं। इस महत् लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे एक प्रयोग-पद्धति लेकर उद्भूत हुए जिसके पीछे एक निश्चित दृष्टि-कोण और विचार-धारा प्रवाहित है। वह प्रयोग चतुर्दिक् और सर्व-व्यापी है जिसका परिणाम भारत की उपर्युक्त सफलता में पूर्ण हुआ है। आज गांधी के व्यक्तित्व की, उसके दृष्टिकोण और प्रकाश की रश्मियाँ भारत के राष्ट्रीय जीवन के समस्त अंगों पर पड़ रही हैं। वह आधुनिक कांग्रेस का रचयिता है, देश की राजनीतिको जनोन्मुखी बनानेवाला है, राष्ट्र को राजनीतिक आदर्श और पथ प्रदान करनेवाला है, उसे नेतृत्व, संस्था और पताका प्रदान करनेवाला है। पर गांधी की देन इतनी ही नहीं है। वह भारत में नये जीवन को, नयी संस्कृति को अंकुरित करनेवाला उसका जनक भी है। यही कारण है कि सामाजिक सुधार में, आर्थिक योजना में, शिक्षा की परिपाटी और विस्तार में, ग्रामोद्धार में, नारी-समाज के उत्थान में, धर्म और नीति की कल्पना में, राष्ट्रभाषा के प्रचार में, आज के साहित्य और कला में, व्यक्तिगत जीवन, रहन-सहन वेश-भूषा और आचार-विचार में, चिकित्सा और भोजन में, आप सर्वत्र उसकी छाया पावेंगे। जीवन के जिस किसी क्षेत्र की कल्पना आप करें उस पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कहीं न कहीं गांधीजी का प्रति-बिंब अवश्य देखेंगे।

कोई तुला नहीं है जिस पर आप गांधीजी की अपरिसीम देन का तुलन कर सकें। वे अभूतपूर्व प्रकार से राष्ट्र में मिल गये हैं और राष्ट्र

उनमें समाविष्ट हो गया है। उन्होंने जो किया है और दिया है उसका प्रभाव भारतीय जीवन पर कदाचित् युग युगतक बना रहेगा। फिर जो कह बैठते हैं कि गांधीजी का नेतृत्व असफल हुआ है उनसे तर्क करना ही व्यर्थ है। भला कहाँ, कब और किस युग में किसी असफल नेता ने लगातार पचीस वर्षों तक देश की विशाल जनता के हृदय पर अक्षुण्ण राज किया है? राजनीति का क्षेत्र तो मरुस्थल है जिसमें किसी को सूखते देर ही नहीं लगती। इस क्षेत्र में जो असफल होता है उसकी धज्जियाँ क्षण-मात्र में उड़ जाती हैं, फिर वह व्यक्ति चाहे कितना बड़ा क्यों न हो। नेपोलियन की ओर देखिये, जिसके हाथों में न केवल फ्रांस का प्रत्युत प्रायः समस्त यूरोप का नेतृत्व पहुँचा हुआ था। वाटर लू के बाद सेंट हेलेना में चक्कर काटते हुए नेपोलियन के प्रभाव की कल्पना कर लीजिये। फिर गांधी की असफलता यह कैसी कि उसका प्रभाव देश के जीवन पर प्रतिक्षण बढ़ता ही जा रहा है? वह आज भी भारत का सबसे प्रभावशील सबसे बलिष्ठ व्यक्ति है जिसकी उपेक्षा करने में ब्रिटिश सरकार तो क्या जगत् भी समर्थ नहीं हो रहा है। यह कैसी असफलता है इसका उत्तर वे ही खोजें जो यह समझते हैं कि गांधी को असफल कह देना फैशन में दाखिल है और बिना इसके कदाचित् कोई स्वतंत्र चेता, प्रगतिशील और व्यक्तित्वाभिमानी नहीं माना जा सकता। मैं यह देख रहा हूँ कि इस देश ने गांधीजी के रूप में नेता नहीं, अपनी आत्मा की उपलब्धि की है। उस आत्मा का ओज, उसका तेज भारत को निर्दिष्ट पथ से अपने महान् लक्ष्य की ओर लिये बढ़ा चला जा रहा है। पर इतना ही अलम् न समझिये। आज अपनी दृष्टि को भारत की सीमा से बाहर जरा सुदूर धरती और विशद विश्व-पट की ओर ले जाइये। देखिये कि आज भूमण्डल के विशाल चित्र में भारत

का अपना स्थान अङ्कित हो रहा है। आज विश्व की महती समस्या में भारत प्रमुख पद रखता है जिसकी ओर समस्त मानव समाज का ध्यान आकृष्ट हो चुका है। आज से दो दशक पूर्व भारत अज्ञात था पर आज उसके संबंध में एक विशिष्ट विश्व-मत का निर्माण हो चला है। विचार तो कीजिये कि यह महती देन है किसकी? पर इतना यह भी अलम् नहीं है। भारत में गांधी के अभिनव महा प्रयोग ने समस्त धरित्री को बलात् भारत की ओर देखने के लिए बाध्य कर दिया है। धरती संप्रति जिस विपत्ति से आच्छन्न है, जगत् में जो भयावना सांस्कृतिक और बौद्धिक, अन्तर्राष्ट्रीय और राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संकट उठ खड़ा हुआ है, मानव समाज जिन जटिल और दुर्भेद्य समस्याओं के जाल में फँस गया है उससे त्राण पाने के लिए सारा विश्व उत्कण्ठित है। संसार के इतिहास का प्रस्तुत क्षण शंका और भय से, अनुशीलन और जिज्ञासा से परिपूर्ण है। मनुष्य विचित्र विभीषिका के कुचक्र में फँस गया है जिससे यदि मुक्ति नहीं पाता तो अपने समस्त ज्ञान, विज्ञान और विभूति, वैभव के सहित विनष्ट हो जायगा। मुक्ति का उपाय क्या है और किन तत्वों के अभाव में यह दुर्गति हो रही है तथा भविष्य की रूपरेखा और उसका आधार क्या हो इसकी खोज सारा जगत् कर रहा है। आज गांधी के महा प्रयोग में एक स्वर है, एक धारा है, जो नयी दृष्टि, नये आदर्श और नये पथ की ओर संकेत कर रही है। विकल वसुन्धरा का विचारक समाज इसकी अनुभूति करने के लिए बाध्य हुआ है। फलतः भारत की ओर, गांधी के प्रयोग की ओर उत्सुकता और जिज्ञासा तथा विवेचना भरी दृष्टि से देखने लगा है।

इसी कारण आज भारत का महा प्रयोग और भी अधिक महत्व-पूर्ण हो गया है और इसी दृष्टि से भारत का स्थान भी विश्व के

चित्र में अत्यधिक उत्कृष्ट और उज्ज्वल दिखाई देने लगा है। आज भारत को भी नयी अनुभूति होने लगी है। अपनी स्वतंत्रता के प्रश्न पर तो [illegible] शंका ही कहाँ हो सकती है ? उसकी महत्वाकांक्षा अ केवल स्वतंत्रता तक ही परिमित नहीं है प्रत्युत उसे भावी विश्व निर्माण में अपने उत्तरदायित्व का आभास भी मिलने लगा है। उसकी अंतश्चेतना अनुभव करने लगी है कि भारत के पास कुछ है, जिसे देकर वह मानवता की अन्यतम सेवा करने में समर्थ होगा। आज यह आकांक्षा, यह नवानुभूति, भारतीय जीवन की प्रेरणा बन रही है। हम अनुभव कर रहे हैं कि बापू मानवता को महती देन प्रदान कर रहा है और भारत आज इसका निमित्त बना हुआ है। भारत को अपने बापू पर और अपने इस सौभाग्य पर गर्व है।